धारा...92 ग्रंथांक...305

परलक्ष्य साधना गीताञ्जली

आत्मा से परमात्मा बनने के सोपान-गुणस्थान

(गद्य-पद्यमय)

- आचार्य कनकनन्दी

पुण्य-स्मरण

क्षुल्लिका श्रेयांसश्री व कलिकाल श्रेयांस प्रवीण शाह के समाधि मरण के उपलक्ष्य में

स्वैच्छिक अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

क्षु. श्रेयांस श्री माताजी के समाधि के उपलक्ष्य में ब्र. खुशपालजी शाह, नगीनलालजी शाह सपरिवार, ग.पु. का. सागवाड़ा

सुश्री चेलवी पुत्री श्री विमलजी सेठ ग.पु. का. सागवाड़ा के शिक्षिका पद पर नियुक्ति एवं प्रथम वेतन के उपलक्ष्य में

ग्रंथांक- 305 संस्करण- प्रथम, 2018

प्रतियाँ - 500 मूल्य - 225/- रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 097832-16418

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान, 55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

विषयानुक्रमणिका

अ.सं.	विषय	पृ. सं.
अ.	गुणस्थानों का समीक्षात्मक वर्णन-(प्रस्तावना)	3
1.	अरिहन्त-सिद्ध सम पूज्य बनने हेतु उनकी पूजा (स्तुति) करूँ	5
2.	मेरी स्व-अध्यात्मिक शक्ति प्रगट हेतु	9
3.	स्व पुरुषार्थ से मिलती है शान्ति-मुक्ति	14
4.	स्व-आत्मप्रद्धान बिना ज्ञान व धर्मकर्म संसार कारण	24
5.	लोकानुगतिक लोक न लोक पारमार्थिक	26
6.	कुत्सित धर्म से दुर्गति व पवित्र धर्म से मुक्ति	55
7.	चौदह गुणस्थानों का आन्तरिक एंव व्यवहारिक पक्ष	74
8.	नैतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक पुरुषों के भाव एवं व्यवहार	84
9.	जैन श्रमण का स्वरूप (छट्टा गुणस्थान)	177
10.	स्वास्थ्य-पर्यावरण सुरक्षा हेतु पैदल चलो !	189
11.	''जैन श्रमण (साधु) से प्राप्त शिक्षायें''	207
12.	उत्कृष्ट धर्म ध्यान (सप्तम गुणस्थान)	209
13.	आकाश V/S मैं (स्व शुद्धात्मा)	231
14.	आध्यात्मिक साधक होते हैं महान्	272
15.	''समता में सुख तथा विषमता में दुःख''	274
16.	समाधि मरण से स्वर्ग-मोक्ष-प्रयाण	277
17.	अपूर्वकरण (8वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षायें	287
18.	अनिवृत्तिकरण (9वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व इससे प्राप्त मुझे शिक्षायें	295
19.	सूक्ष्म साम्पराय (10वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे प्राप्त मुझे शिक्षायें	299
20.	उपशान्त कषाय (11वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे प्राप्त मुझे शिक्षायें	318
20.	क्षीण कषाय (12वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षायें	322
21.	सयोग केवली (13वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे मुझे प्राप्त शिक्षायें	327
22.	अयोग केवली (14वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षायें	337
23.	गुणस्थान परे सिद्ध का स्वरूप व उनसे प्राप्त मुझे शिक्षायें	343
24.	सच्चिदानन्द का रहस्य	343

आत्मा को परमात्मा बनाने हेतु आध्यात्मिक क्रमविकास सिद्धान्त

(गुणस्थानों का समीक्षात्मक वर्णन)

(14 गुणस्थान व गुणस्थान अतीत परमात्मा)

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-सुनो-सुनो ए दुनियावालों...आत्मशक्ति...)

सुनो! मानो हे! दुनियावालों! तीर्थंकरों का दिव्य सन्देश।
आत्मा को परमात्मा बनाने हेतु कहा जो महान् सूत्र।।
इसे कहते हैं गुणस्थान तथा गुणस्थान अतीत सिद्धावस्था।
आध्यात्मिक गुणों के क्रमविकास से आत्मा बनता है परमात्मा।।(1)

चौरासी लाख योनि व चतुर्गति रूपी संसार भ्रमण से मुक्त होने हेतु।
आध्यात्मिक क्रमविकास ही अद्वितीय सोपान है मुक्त होने हेतु।
अनादि काल से कर्म आबद्ध संसारी जीव होते मिथ्यादृष्टि।
सत्य व असत्य व हेय-उपादेय, श्रद्धा-प्रज्ञान से रहित दृष्टि।। (2)

शरीर को ही वे आत्मा मानते भौतिक अस्तित्व को मानते सत्य।
शरीर-मन-इन्द्रिय आदि से परे नहीं जानते/(मानते) स्व-आत्म तत्त्व।।
भले वे मनुष्य व देव क्यों न हो आत्मश्रद्धान बिन सभी मिथ्यादृष्टि।
राजा-महाराजा सेठ-साहुकार वैज्ञानिक दार्शनिक से ले लेखक कवि।।(3)

पाँचो लब्धियों को प्राप्त करके जो करते हैं तत्त्वार्थश्रद्धान।
वे बनते हैं सम्यग्दृष्टि/(जैन) वे ही हो सकते हैं चारों गति के जीव।।
सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक न बनते हैं मिथ्यादृष्टि।
उस अवस्था को कहते सासादन गुणस्थान वाले पतित दृष्टि।। (4)

सम्यक्त्व व मिथ्यात्व मिश्रण को कहा जाता मिश्र गुणस्थान।
1. मिथ्यात्व 2. सासादन 3. मिश्र गुणस्थान वाले होते निम्न श्रेणी के जीव।।

सम्यक्त्व सहित पंचाणुव्रतादि युक्त होते पंचमगुणस्थानवर्ती।
दया-दान-सेवा परोपकार युक्त देव-शास्त्र-गुरु के आज्ञानुवर्ती।।(5)
जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर बनते सच्चे श्रमण।
वे होते षष्ठम गुणस्थानवर्ती आचार्य-उपाध्याय-साधु परमेष्ठी।।
इससे परे होता सप्तमगुणस्थान जो उत्कृष्ट धर्मध्यान में/(से) आत्मलीन।
षड् आवश्यक व अट्ठाबीस मूलगुणों का क्रिया रूप में न होता पालन।। (6)
यहाँ तक ही होता पंचमकाल में श्रेणी आरोहण अभी अभाव।
चतुर्थ काल में जो श्रेणी आरोहण करते उनका होता अग्र गुणस्थान।।
श्रेणी आरोहण होता दो प्रकार एक उपशम व द्वितीय क्षपक श्रेणी।
क्षायिक दृष्टि चढ़ते दोनों श्रेणी औपशमिक दृष्टि उपशम श्रेणी।। (7)
दोनों सुदृष्टि दोनों ही श्रेणी चढ़ते दशवें में गुणस्थान तक।
ग्यारहवें गुणस्थान केवल वे मुनि चढ़ते जो करते उपशम आरोहण।।
ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही होता पतन कषायों के उदय से।
क्षपक श्रेणी वाले ग्यारहवें न जाकर बारहवें में जाते दशमें से।। (8)
दशम गुणस्थान में बनते सूक्ष्म कषाय/(लोभ) बाहरवें अन्त में तीनों घाती क्षय।
जिससे पाते अनन्त चतुष्टय यह तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान।।
सर्वज्ञ-वीतरागी-धर्मोपदेशी बनकर विश्व को देते दिव्य सन्देश।
आत्मा से परमात्मा बनने हेतु प्रायोगिक-अनुभूत परम सूत्र।। (9)
अन्त में योग निरोध से बनते अयोग केवली भगवान्।
अन्त में सर्व कर्म विनाशकर बनते शुद्ध-बुद्ध भगवान्।।
यहाँ से कोई गुणस्थान तथाहि नहीं कोई भेद-प्रभेद।
अनन्त आत्मोथ सुख-वैभव भोग करते अक्षय अनन्त तक।। (10)
चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करना अत्यन्त दुरूह व दुर्लभ होता।
यहाँ से ही आत्मिक क्रम विकास प्रारंभ होता जो मोक्ष में सम्पूर्ण होता।।
पंचम गुणस्थान श्रावक से क्षुल्लक-आर्यिका तक होता है।
इस गुणस्थान में आत्मविकास हेतु पहले से अधिक पुरुषार्थ होता है।।(11)

छटवे गुणस्थान में परिग्रह रहित अधिक तप-त्याग होता है।
अट्ठाबीस मूलगुण आदि सहित अधिक परीषहादि/(कष्ट) सहन होता है।।
सप्तम गुणस्थान में ध्यान के कारण मूलगुणादि पालन न होते हैं।
तथापि छट्ठे गुणस्थान वाले श्रमण से ध्यानस्थ मुनि श्रेष्ठ होते हैं।। (12)
श्रेणी आरोहण में बाह्य धर्म पालन बिना भी वे मुनि श्रेष्ठ होते हैं।
यहाँ न करते किसी प्रकार कष्ट अनुभव तथापि वे श्रेष्ठ होते हैं।।
तेरहवाँ-चौदहवाँ गुणस्थान व सिद्ध अवस्था साधना के फल हैं।
यहाँ तो अनन्त सुख भोगते यहाँ न होती किसी भी प्रकार साधना है।। (13)
सब से अधिक परीषह-उपसर्ग के कष्ट सहन करते छट्टेवाले।
इस गुणस्थान के फल स्वरूप बनते अग्रिम गुणस्थान वाले।।
इन्हें ही चाहिए चारों प्रकार के दान तथाहि वैयावृत्यादि।
क्षुल्लक से आर्यिका तक को भी चाहिए दान तथा वैयावृत्यादि।। (14)
श्रावकाचार व श्रमणाचार इनके लिए ही प्रयुक्त होते।
धर्मरथ के हैं दोनों चक्र 'कनक सूरि' समग्र आत्मविकास चाहते।। (15)

नन्दौड़ 08/05/2018 रात्रि 11:34

अरिहंत-सिद्ध समपूज्य बनने हेतु उनकी पूजा (स्तुति) करुँ

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-मुधबन खुशबु देता है....)
अरिहंत-सिद्ध पूज्य हैं...पूज्य बनने हेतु पूजा/(स्तुति) करुँ...
''वन्दे तद्गुणलब्धये''...पूज्य गुण प्राप्ति हेतु पूजा/(भक्ति) करुँ... (स्थायी)
भक्त ही बनता है भगवान्...भव्य ही भावी भगवान्।
जीव ही बनता है जिनेन्द्र...आत्मा ही बनता है परमात्मा।।
गुण प्राप्ति हेतु पूजा होती...अन्यथा न सही पूजा होती।
मोक्ष प्राप्ति हेतु पूजा श्रेय...अन्यथा पूजा सकाम होती।।

सकाम पूजा तो निदान है...निदान से मिथ्यात्व होता।
निरतिशय भले पुण्य बन्धे...सातिशय पुण्य नहीं बन्धे।।

सातिशय पुण्य ही पुण्यानुबन्धी (पुण्य)...इससे स्वर्ग-मोक्ष मिले।
निरतिशय पुण्य ही पापानुबन्धी...संसार भ्रमण कारण बने।।
भक्त न भिखारी होता है....भिखारी भीख मांगता है।
भक्त तो पूज्यगुण चाहता है...भौतिक याचना न करता है।।

गुणस्मरण से भाव पावन होता...जिससे सातिशय पुण्य बन्धे।
इससे भौतिक सुख मिले...इस में मोहित न भक्त होता।।
आत्मिक सुख हेतु भक्ति होती...भौतिक सुख में न आसक्ति होती।
अन्यथा भक्ति व्यापार होगी...भौतिक विनिमय न भक्ति होती।।

इस हेतु हे! पूज्यदेव...भक्ति करूँ तव गुण हेतु।
आप के समान मैं बन जाऊँ...पूज्य-पूजक न भाव रहे।।
इस हेतु त्यागूँ राग द्वेष मोह... ईर्ष्या तृष्णा घृणा विभाव।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्याग...ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व दंभ।।

परनिन्दा अपमान वैरत्व...विषमता व अशान्ति द्वन्द्व।
समता शान्ति शुचिता धारूँ ...तव समभाव-व्यवहार चाहूँ।।
तव सम स्व का ज्ञान करूँ...स्व का ही मनन-चिन्तन करूँ।
इस हेतु ही तपत्याग करूँ...आत्मानुशासन-धैर्य धरूँ।।
क्षमा सहिष्णुता मृदुता धरूँ...आत्माविशुद्धि से आत्मानुभव करूँ।
स्वयं में ही स्व में लीन होकर...स्वयं में ही स्वगुण प्रगट करूँ।।
जिससे गुणस्थान आरोहण से...कर्मनाश से शुद्ध-बुद्ध बनूँ।
अनन्त आत्म वैभव पाकर...'कनक' तव सम परमात्मा बनूँ।।

सागवाड़ा-22/07/2018 रात्रि 11.14

क्या कभी ख़ुद से प्रेम किया?

-पूजा श्रीवास्तव

हम अपने भीतर जाने कितनी बेल बोए हुए जीते हैं। जाने कितने पछतावे,

जाने कितनी खीझ लेकर जीते रहते हैं बिना ये सोचे-समझे कि ये विष बेल धीरे-धीरे हमारी जीवन ऊर्जा को कस रही है, हमें नष्ट कर रही है।

कहते हैं कि प्रेम एक तरह की औषधि है और उदासीनता, घृणा एक तरह का विष है, जिसका असर मनुष्य ही नहीं पेड़-पौधों पर भी होता है। किसी पौधे से प्रेम करिए और देखिए वह विकसित होने लगता है, लहलहाने लगता है। और उसके प्रति उदासीन हो जाइए तथा उसके प्रति घृणा दर्शाइए, तो कुछ ही समय में वह पौधा मरने लगता है। बिल्कुल यही स्थिति तो हम मनुष्यों के साथ है।

कुछ वर्ष पूर्व एक फ़िल्म आई थी-'जब वी मेट।' फ़िल्म के एक दृश्य में फ़िल्म की नायिका कहती है कि मैं अपनी फ़ेवरेट हूँ। वह अपने संवाद ही नही, बल्कि अपने हाव-भाव से भी दर्शाती है कि वास्तव में स्वयं को बहुत पसन्द करती है। ये अपने आप में बिल्कुल नई बात थी। आमतौर पर हमारी फ़िल्में, हमारा गीत संगीत, हमारा संपूर्ण साहित्य हमें यही बताता और सिखाता है कि प्रेम का अर्थ है, अपने से इतर किसी अन्य का प्रेम करना। ऐसे में यदि किसी फ़िल्म की युवा नायिका, यह कहती है, तो यह लोगों के मन में कौतूहल तो पैदा ही करता है और ये कौतूहल अस्वाभाविक नहीं है। क्योंकि हम एक ऐसी व्यवस्था में जीते आ रहे हैं, जो हमें दूसरों से प्रेम करने के लिए तो प्रेरित करती है, किंतु हमें स्वयं से प्रेम करना नहीं सिखाती।

ओशो अपने एक व्याख़ान में कहते हैं कि हम प्रेम में होते हैं, पर ख़ुद प्रेम में नहीं होते। प्रेम में होने के लिए किसी और का होना ज़रूरी होता है। हमारा प्रेम अकेलेपन से डरता है। एकान्त पाते ही बेचैन होने लगता है। हम ख़ुद से ही डरते हैं।' ठीक ही तो है, हमारे प्रेम को सदैव एक आलंबन की जरूरत होती है, क्योंकि वह हमारा स्वभाव नहीं होता। हम स्वयं से प्रेम करने के विषय में तो सोच भी नहीं पाते, क्योंकि हमारे संस्कार हमारी शिक्षा-दीक्षा हमें सिखाती रही है कि प्रेम सदैव किसी दूसरे को ही किया जाता है। इसीलिए प्रेम हमारे व्यक्तित्व का अंग नहीं बन पाता। मुश्किल यह भी है कि मानव जाति की बहुत-सी धार्मिक परंपराएँ आत्मपीड़ा को प्रश्रय देती है। ये परंपराएँ स्वयं को दुःख देने, स्वयं को चोट पहुंचाने की प्रकिया को धार्मिक पवित्रता से जोड़ती है। इन रूढ़ियों का पालन न करना स्वार्थपरता और

अनैतिक समझा जाता है। इस तरह की धारणाएँ व्यक्ति को सम्यक् ढंग से समझने, स्वयं के प्रति जागरूक होने पर स्वयं से प्रेम करने की राह में बाधक बनती हैं। स्वयं के प्रेम करने का जो पूरा दर्शन है उसको खंगालने पर पता चलता है कि बीसवीं सदी से पूर्व स्वयं को प्रेम करना एक प्रकार का अपराध ही समझा जाता था। तत्कालीन विचारकों का मानना था कि स्वयं को प्रेम करना, अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है।

बीसवीं सदी के आते-आते इस विचारधारा में क्रांतिकारी बदलाव आए। मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक एरिक फ्रॉम ने सबसे पहले इस अवधारणा का प्रतिपादन किया स्वयं से प्रेम करना स्वार्थी होना हरगिज़ नहीं है। यह एक सकारात्मक भाव है। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि किसी अन्य से प्रेम करने से पहले आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं से प्रेम करे।

प्रसिद्ध मनोचिकित्सक और मोटिवेशनल गुरु दीपक चोपड़ा कहते है कि 'पहली दृष्टि में हम उसी के प्रति आकर्षण और जुड़ाव अनुभव करते हैं, जो हमारी आशाओं, आकांक्षाओं पर खरा उतरता है। हम प्रेम में दूसरे से सदैव परफेक्शन की ही आकांक्षा करते हैं। हम उन्हीं से प्रेम करने के आदी होते हैं, जो हमे प्रेम करते हैं या फिर वे जो हमारे भौतिक, मानसिक और भावनात्मक मानकों पर खरे उतरते हैं। जब स्वयं को आईने में देखते हैं, तो हमें भीतर बहुत-सी कमियाँ, कमज़ोरियाँ, कुछ अतीत की भूलें नज़र आने लगती हैं। ऐसे में स्वयं के प्रति निराशा और नाराज़गी का भाव ही उभारता है प्रेम का नहीं।'

इस विषय में बात करते हुए मनोचिकित्सक डॉ. अश्विनी कुमार कहते है कि 'सेल्फ़ लव' का अर्थ लोग अक्सर सेल्फ़ ऑब्सेशन से लगा लेते हैं, जबकि स्वयं को प्रेम करने का अर्थ स्वयं के प्रति सम्मोहित होना बिल्कुल नहीं है। इसका सीधा-सा अर्थ है अपने गुण-दोषों को यथार्थ के प्रकाश में देखना, स्वयं पर विश्वास व गर्व करना। स्वयं को उत्कृष्टता की ओर प्रेरित करते रहना और इस बात पर पूर्ण विश्वास करना कि आप और आपका जीवन महत्वपूर्ण है। केवल इसी एक भाव से व्यक्ति बहुत से अवसादों और निराशा से मुक्त हो सकता है।'

डॉ. कुमार आगे कहते है कि 'यदि हम व्यक्ति में स्वयं से प्रेम करने की

भावना ठीक ढंग से विकसित कर सकें, तो उसकी आत्महत्या करने की प्रवृत्ति पर भी बहुत हद तक नियंत्रण लगाया जा सकता है। क्योंकि आत्महत्या को पीछे भी यही कारण है कि जब व्यक्ति अपने से ज्यादा किसी अन्य, जिसमें परिवार और समाज भी शामिल है, को अधिक महत्व देने लगता है।' मेडिकल सांइस से जुड़े विशेषज्ञों का भी यहीं मानना है कि किसी भी व्यक्ति के स्वस्थ होने में उसकी स्वयं के प्रति धारणा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। किसी रोग से उबरने की प्रकिया में उसके भीतर की जिजीविषा की बहुत अहम भूमिका होती है। व्यक्ति जितना अपने प्रति उदारता और प्रेम से भरा होता है, उसकी रोग से उबरने की गति उतनी ही तीव्र होती है।

आधुनिक युग के लगभग सभी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक व समाजविज्ञानी इस बात पर एकमत हैं कि स्वयं को हेय, निकृष्ट और अनुपयोगी समझना हमें अंतहीन निराशा के युग में ले जाता है, जहाँ से वापस लौटने का कोई मार्ग नहीं होता। एक बार हम जहाँ है, जैसे हैं उसे सहजता से स्वीकार कर लेते हैं, तो आगे की गुत्थियाँ अपने आप खुलने लगती हैं। स्वयं के प्रति उदार, प्रेमपूर्ण और आभारी होना बहुत-सी निराशाओं से बचाता है और जीवन के प्रति एक नई दृष्टि विकसित करता है।'

मेरी स्व-आध्यात्मिक शक्ति प्रगट हेतु

-आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1.भातुकली (मराठी....) 2.तुम दिल की धड़कन ....)
आत्मा में तेरी है अनन्त शक्ति, प्रगट करो तू अपनी शक्ति।
राग द्वेष मोह क्षय करो तू, प्रगट होगी तेरी अनन्त शक्ति।। (ध्रुव)
इस हेतु करो ध्यान-अध्ययन, इस हेतु ही करो मनन-चिन्तन।
इस हेतु ही करो तपश्चरण, इस हेतु ही करो एकान्त मौन।।
इस हेतु ही त्यागो आर्तध्यान ओऽऽऽ इस हेतु ही त्यागो रौद्रध्यान।
इस हेतु ही करो धर्मध्यान, इस हेतु करो/(चाहो) शुक्लध्यान।। (1)
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागो, ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि त्यागो।
आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व त्यागो, ईर्ष्या घृणा तृष्णा वैर त्यागो।।

आत्म स्वभाव को सदा ही ध्याओ ओ ऽऽऽ विभाव भावों को सदा ही त्यागो।
कट्टर-संकीर्ण भावों को त्यागो, उदार-सहिष्णु भावों को पाओ।। (2)
ढोंग-पाखण्ड-दंभ त्यागो, सरल-सहज-पावन बनो।
निस्पृह-निराडम्बर-निर्मल बनो, कुटिल-धूर्तता विकार त्यागो।।
पर निन्दा-पर प्रपंच त्यागो ओ ऽऽऽ वर्चस्व-प्रतिस्पर्द्धा विभाव त्यागो।
स्वयं को निच्छल-निश्चल करो, आत्मनिर्भरशील-अनुशासी बनो।। (3)
स्वयं के द्वारा ही स्वयं को वरो, स्वयं में ही स्वयं को लीन करो।
इससे तेरी शक्ति होगी प्रगट, समस्त बन्धन होंगे विनाश।।
तिल से तैल यथा होता प्रगट ओऽऽऽ दुग्ध से घृत यथा होता प्रगट।
काष्ट से यथा अग्नि होती प्रगट, तेरी शक्ति तुझसे होगी प्रगट।। (4)
ऐसे ही बनते अरिहंत-सिद्ध, अनन्त गुण गण होते प्रगट।
वे होते शुद्ध-बुद्ध आनन्द कन्द, अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य।।
ऐसी शक्ति तुझमें स्थित ओऽऽऽ प्रगट करो तेरे आत्मवीर्य।
यह ही तेरा है परम पुरुषार्थ, इससे बनोगे परमात्म स्वरूप।। (5)
इस हेतु ही आत्मन/(कनक) बना-श्रमण, प्रभु-विभु बनना अन्तिम ध्येय।
सांसारिक वैभव न तेरा लक्ष्य, सांसारिक वैभव कर्मज-क्षणिक।।
ऐसा लक्ष्य बिन सभी धर्म व्यर्थ ओऽऽऽ आत्मा को परमात्मा बनना परमानन्द
स्वचिन्तन-ध्यान से मिले आनन्द, ध्येय की प्राप्ति से मिलेगा अक्षय आनन्द।। (6)
अन्यथा अन्य शक्ति से न मिले आनन्द, रावण-कंस समशक्ति से नहीं आनन्द।
यह है परम आध्यात्मिक रहस्य, 'कनक' का लक्ष्य आध्यात्मिक आनन्द।। (7)

सागवाडा दि. 16/07/2018 समय रात्रि 11:20

संदर्भ-

अरहंत भगवान् का स्वरूप

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो।(50)

That pure soul existing in an auspicious body, possessed of

(infinite) faith, happiness, knowledge and power which has destroyed the four Ghatiya Karmas, is to be meditated on as an Arhat.

चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाला, अनंत दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उसका ध्यान करना चाहिये।

अनंत-ज्ञान, अनंत दर्शन अनंत सुख, अनंत वीर्य, अनंत विरति, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक उपभोग आदि प्रगट हुए अनंत गुण स्वरूप होने से जिन्होंने यहीं पर सिद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुए सूर्य बिंब के समान जो दैदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा संपूर्ण विश्व को व्याप्त कर लिया है, अपने ज्ञान में ही संपूर्ण प्रमेय रहने के कारण प्रतिभासित होने से जो विश्वरूपता को प्राप्त हो गये हैं। संपूर्ण आमय अर्थात् रोगों के दूर हो जाने के कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजन के समूह के नष्ट हो जाने से जो निरंजन हैं और दोषों की कलाएँ अर्थात् दोषों से रहित होने के कारण जो निष्फल हैं, ऐसे उन अरिहंतो को नमस्कार हो।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो।(51)

Maditate on the Siddha the soul which is bereft of the bodies produced by eight kinds of Karmas, which is the seer and knower of Loka and Aloka, which has a shape like a human being and which stays at the summit of the universe.

नष्ट हो गया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश का जानने देखने वाला, पुरुष के आकार का धारक और लोक के शिखर पर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इस कारण तुम उसका ध्यान करो।

अन्याकारापि हेतु र्न च भवति परो, येन तेनाल्पहीनः।

प्रागात्मोपात्तदेह, प्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः।
क्षुत्तृष्णाश्वासकास, ज्वरमरणजरानिष्ट योग प्रमोहः
व्यापत्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्यमाता।।(6)

जिस मनुष्यं शरीर से यह जीव मुक्त होता है वह उस जीव का अंतिम शंरीर कहलाता है। उसी को चरम शरीर कहते हैं। मुक्त होने पर इस जीव का आकार चरम शरीर के आकार से भिन्न आकार नहीं हो सकता, न तो वह समस्त लोक में व्यापाक हो सकता है और न वटवृक्ष के बीज के समान अणुमात्र ही हो सकता है। क्योंकि वहाँ आकार बदलने का कोई कारण नहीं है। किंतु अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ आकार कम होने का कारण है, और वह यह है कि संसार परिभ्रमण में इस जीव का आकार बदलने वाला कोई कारण नहीं रहा, तथा उसका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम रहता है। क्योंकि शरीर के जिन-जिन भागों में आत्मा के प्रदेश नहीं है उतना परिमाण घट जाता है। शरीर के भीतर, पेट, नाक, कान आदि भाग ऐसे हैं जिनमें पोले भाग में आत्मा के प्रदेश नहीं है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अन्य ऐसे कारण हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्त जीव का परिमाण अंतिम शरीर के परिमाण से कुछ कम है। यह कमी आकार की अपेक्षा से नहीं है लेकिन घनफल की अपेक्षा से है तथा मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के समान अत्यंत दैदीप्यान रहता है।

एव शब्द निश्चयवाचक है और हि शब्द स्पष्टता सूचित करने के लिए है, इससे सिद्ध होता है कि मुक्त अवस्था में जीव का आकार अंतिम शरीर के आकार है उनका परिमाण अंतिम शरीर से कुछ कम है। मुक्त जीव का यह आकार और यह परिमाण निश्चित है, स्पष्ट है। इसके सिवाय अन्य कोई आकार तथा अन्य कोई परिमाण हो नहीं सकता। इसके सिवाय मुक्त अवस्था में वह शुद्ध आत्मा अमूर्तिक रहता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द रूप पुद्गल परिणति को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति जिसके न हो उसको अमूर्ति कहते हैं। सिद्धों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, रूप मूर्ति नहीं है। इसलिये वे अमूर्ति स्वरूप हैं। अथवा अमूर्ति भी पाठ हैं जिनके रूप रसादि स्वरूप हैं। अथवा अमूर्ति भी पाठ है जिनके रूप रसादि स्वरूप मूर्ति हो उनको मूर्त कहते हैं तथा जिनके ऐसी मूर्ति न हो उनको अमूर्त कहते हैं। उन सिद्ध परमेष्ठी की

परिणति रूप, रस, गंध स्पर्श स्वरूप नहीं है इनसे सर्वथा रहित है इसलिए वे अमूर्त हैं।

इसके सिवाय वे भगवान् क्षुधा, तृषा, श्वास, कास, दमा ज्वर, मरण, जरा (बुढ़ापा) अनिष्ट योग, मोह अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं ऐसे संसार के परिभ्रमण को उन सिद्ध भगवान् ने नाश कर दिया है। अथवा कर्मों के नाश होने से वह संसार अपने आप नष्ट हो गया है। उस संसार के नष्ट होने से सिद्धों का अनंत सुख की प्राप्ति हो गई है, उस सुख का परिमाण भला कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। सिद्धों का सुख अनंत है उनका परिमाण कभी किसी से नहीं हो सकता।

सिद्धों का सुख

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतवाधं विशालं।
वृद्धिह्रासव्यपेतं, विषयविरहितं, निःप्रतिद्वंद्वभावम्।।
अन्यद्रव्यानपेक्षं, निरुपममभितं, शाश्वतं सर्वकालं।
उत्कृष्टानन्तसारं, परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्यजातम्।। (7)

भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के जो सुख होता है वह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अन्य किसी प्रकृति आदि से उत्पन्न नहीं होता इसीलिये वह सुख अनित्य नहीं होता वह सुख स्वयं अतिशय युक्त होता है। समस्त बाधाओं से रहित होता है। अत्यंत विशाल या विस्तीर्ण होता है। आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कभी घटता है न बढ़ता है। वृद्धि और ह्रास दोनों से रहित हो स्वाभाविक होता है। सुख का प्रतिद्वंदी दुःख है। उन दुःखों-से मिला हुआ है। परंतु सिद्धों का सुख सदा सुख रूप ही रहता है, जीवों का सुख, सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है तथा पुष्पमाला चंदन, भोजन आदि ब्राह्य सामग्री से उत्पन्न होता है परंतु सिद्धों का सुख उपमा रहित है, अनंत है। विनाश रहित है इसीलिये वह सदा बना रहता है। वह सुख परम सुख कहलाता है अर्थात् इन्द्रादिक के सुख से भी अत्यंत अतिशय युक्त वा बढ़कर है। सिद्धों का लक्षण वा उनके गुण पहले निरूपण कर चुके हैं और जो लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं, ऐसे सिद्धों का अनंत सुख ऊपर लिखे अनुसार होता है। अभिप्राय यह है कि सिद्धों का सुख संसारी जीवों के सुखों से अत्यंत विलक्षण है।

सिद्धों का सुख वास्तविक सुख है और इसीलिये वह सर्वोत्तम है।

आचार्य भगवन्त का स्वरूप

दंसणणाण पहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजई सो आयरियो मुणी झेओ।।(52)

That sage who attaches himself and others to the practice of Virya (power), Charitra (conduct) and Tapa (penance) in which faith and knowledge are eminent is to be meditated as Acharya (perceptor.)

1.दर्शनाचार, 2.ज्ञानाचार, 3.वीर्याचार, 4. चारित्राचार और, 5.तपश्चरणाचार इन पाँचों आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते है ऐसे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँचों आचारों का स्वयं आचरण करते हैं। और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्या स्थानों के पारंगत हों, ग्यारह अंग के धारी हों अथवा आचारांग मात्र के धारी हों, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परमसमय में पारंगत हो, मेरु के समान निश्चल हों, पृथ्वी के समान सहनशील हों, जिन्होनें समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया हो और जो सात प्रकार के भय से रहित हों उन्हें आचार्य कहते हैं।

स्व पुरुषार्थ से मिलती है शान्ति-मुक्ति

(प्रोग्राम के अनुसार मिलता परिणाम)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल:-परदेशियों से न अखियाँ....)
आत्मन्! (कनक) यदि तुम्हें शान्ति जो पाना,
भावना को सदा तू पावन ही रखना।
दृष्टि के अनुसार होती सृष्टि,
जैसी होती मति वैसी होती गति।। (1)

कारण के अनुसार ही होता कार्य,
भाव के अनुसार ही बन्धता कर्म।
लक्ष्यानुसार गति से मिलता लक्ष्य,
सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से मिलता मोक्ष।। (2)

संकल्प अनुसार-मिलती सफलता,
प्रोग्राम अनुसार तथा कम्प्यूटर कार्यक्षमता।
तथाहि जो तेरा प्रोग्राम शान्ति/(मोक्ष) के हेतु
नदी पार करने हेतु यथा सेतु है हेतु।। (3)

आत्मविश्वास करो तुम स्वयं दृढ़ता से,
आत्मज्ञान भी करो हर दृष्टि से।
भावना-अनुप्रेक्षा व ध्याय-अध्ययन,
मनन-चिन्तन करो तू लक्ष्य प्रमाण।। (4)

सतत ये करो आत्मानुभव से,
विभाव-विघ्न दूर होंगे आत्म प्रयास से।
जिससे आत्म-विशुद्धि से आत्मशक्ति बढ़ेगी,
जिससे शान्ति से ले मुक्ति मिलेगी।। (5)

शान्ति व मुक्ति यदि इससे संभव,
अन्य लौकिक-पारलौकिक कार्यकथा असंभव।
अतएव आत्म प्रोग्राम करो यथार्थ,
संकल्प-विकल्प व संक्लेश रहित।। (6)

ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व से भी रहित,
वैर-विरोध व द्वन्द्व से भी रहित।
भीड़-प्रदर्शन भेड़-भेड़िया चाल रहित,
निष्पृह-निराडम्बर-सत्य-समता सहित।। (7)

स्वयं में ही स्वयं द्वारा स्व को करो समर्थ,
निश्छल-निश्चल-निर्मल-निर्भय चित्त।

आत्मानुशासन-धैर्य-दृढ़ता सहित,
अवश्य सफलता मिलेगी 'कनक' हो निश्चित।। (8)

सागवाड़ा दि. 13.07.2018 रात्रि 09:03

सन्दर्भ-

मोक्ष मार्ग का स्वरूप

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (1)

सम्यक् दर्शन Right Darshana (belief) सम्यक् ज्ञान Right Jnana (Knowledge) सम्यक् चारित्र Right Charitra (Conduct) मोक्ष मार्ग the path to liberation.

Right belief, right knowledge, right conduct these together constitute the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

नीतिकारों ने कहा है ''पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'' अर्थात् पराधीनता में सर्वदा, सर्वथा सुख का अभाव है। क्योंकि जीव का शुद्ध स्वरूपरूप पूर्ण स्वतंत्रतामय सुखस्वरूप है। इसलिए प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवं दुःख से घबराता है। अतएव प्रत्येक जीव सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। परन्तु सुख के उपाय स्वरूप सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् परिज्ञान एवं सम्यक् आचरण के बिना सुख प्राप्त नहीं कर पाता है। इसलिए समन्तभद्र आचार्य ने सुख प्राप्ति के उपाय के लिए समीचीन धर्म बतलाते हुए कहा है -

देशयामि समीचीनं, धर्म कर्म-निवर्हणम्।
संसारदुखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमेसुखे।। (2) (र.श्रा.)

मैं (समन्तभद्राचार्य) कर्मों के नाशक, अबाधित और उपकारी उस धर्म का कथन करुँगा जो प्राणियों को संसार के शारीरिक और मानसिक आदि दुःखों से निकालकर स्वर्ग और मोक्ष आदि के सुखों को प्राप्त कराता है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मधर्मेश्वरा विदुः।

यदीय-प्रत्यनी-कानि, भवन्तिभवपद्धतिः।। (3)

जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग आदि के उत्तम सुखों को प्राप्त कराता है उसे धर्म बतलाया है। इसीलिये प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वर्ग आदि को प्राप्त कराने के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म है तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म हैं क्योंकि ये प्राणियों को संसार के दुःखों में ही फँसाते हैं।

रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) को धर्म या मोक्षमार्ग इसलिए कहते हैं कि इनसे जीव बंधन में नहीं पड़ता वरन् बंधन से मुक्त होता है। जैसा कि अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है -

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चरित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः।। (216) (पु.उ.)

सम्यग्दर्शन आत्मा की प्रतीति को कहा जाता है। आत्मा का सम्यक् प्रकार ज्ञान करना बोध-सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्मा में स्थिर होना अर्थात् लवलीन होना सम्यक् चारित्र कहा जाता है। इनसे बंध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द देव ने मोक्ष मार्ग का संक्षिप्त सारगर्भित वर्णन करते हुए कहा है -

सम्मत्तणाणं जुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्ध बुद्धीणं।। (106) (पं. अ.)

सम्यक्त्व और ज्ञान से ही युक्त, न कि असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त, चारित्र ही- न कि अचारित्र, रागद्वेष रहित ही-न कि रागद्वेष सहित, भाव से मोक्ष का ही-न बंध का, मार्ग ही-न कि अमार्ग, भव्यों को ही-न कि अभव्यों को लब्धबुद्धियों को (ज्ञानियों को) ही-न कि अलब्धबुद्धियों को, क्षीणकषायपने में ही होते हैं-न कि कषायसहितपने में। इस प्रकार आठ प्रकार से नियम यहाँ देखना (समझना)।

''रत्नत्रय की परिभाषा''

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्।
उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्।। (4) (त.सा.)

तत्त्व-अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीव, अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और रागादि भावों की निवृत्ति रूप उपेक्षा होना सम्यक् चारित्र सुनिश्चित है।

कुन्दकुन्द देव ने रत्नत्रय की परिभाषा करते हुए उपरोक्त सिद्धान्त का ही प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण रूप से वर्णन निम्न प्रकार से किया है -

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।

चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं।। (107) पं. अ.

भावों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उनका अवबोध ज्ञान है, मार्ग पर आरूढ़ होकर विषयों के प्रति अवर्तता हुआ समभाव चारित्र है।

धम्मादीसद्दहणं सम्मतं णाणमंगपुव्वगदं।

चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोति।। (160)

धर्मास्तिकाय आदि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व, अंगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान और तप में चेष्टा सो चारित्र इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।

आकुलता, शिवमांहि न तातें, शिवमग लाग्यो चहिये।।

जब मैंने शोध का अध्ययन शुरू किया कि मानव मस्तिष्क की प्रोग्रामिंग प्रक्रिया दरअसल कैसे काम करती है, तो मुझे पता चला कि मस्तिष्क में न्यूरल पाथवे (तंत्रिकीय मार्ग) और नेटवर्क होते हैं, जिनका इस्तेमाल हम शब्दों और चित्रों को रिकार्ड करने के लिए करते हैं, जो हमारी पहली भाषा की प्रोग्राम फाइल बनाते हैं। ये न्यूरल पाथवेज़ के वही समूह भी थे, जिनका इस्तेमाल हम अपनी बाकी संज्ञानात्मक प्रोग्रामिंग को रिकॉर्ड करने के लिए करते थे। हमने क्या सोचा, हमने क्या विश्वास किया, हमने खुद को किस तरह देखा और हमने अपने आस-पास के संसार को कैसे देखा, वह सब एक ही प्रोग्रामिंग प्रक्रिया पर आधारित था। चूँकि मस्तिष्क की रिकॉर्डिंग प्रक्रिया भाषा सीखने को संग्रहित करने के लिए है, इसलिए हम आत्म-गौरव के नए प्रोग्राम ठीक उसी तरह रिकॉर्ड कर सकते हैं, जिस तरह हम नई भाषा सीखने का काम करते हैं।

चूँकि किसी भाषा को सीखना दोहराव पर आधारित है, तो क्या हम दोहराव

के ज़रिये आत्म-गौरव के नए प्रोग्राम ''सीखने'' में सक्षम नहीं होंगे? या पैसे के बारे में हमारे प्रोग्राम? या वज़न कम करने के प्रोग्राम? या हमारा वैवाहिक जीवन, या व्यवस्थित होना या हमारी नौकरी या कोई दूसरी चीज़? अगर दोहराव के ज़रिये हमें वे पुराने प्रोग्राम मिले थे, तो क्या उसी तरीक़े से नए प्रोग्रामों को दोहराकर हम अपने मस्तिष्क की दोबारा प्रोग्रामिंग नहीं कर सकते?

इस खोज को ज़्यादा रोमांचक बनाने वाली बात यह थी कि हम पहले से जानते थे कि किसी भाषा को कैसे सीखना है! वास्तव में, यह एक ऐसी चीज़ थी, जो हम बचपन में सहजता से और अपने आप करते थे। अगर आप हम लोगों को नए प्रोग्राम देने का ठीक वैसा ही तरीक़ा खोज सकें, जिस तरह उन्होंने कोई नई भाषा सीखी थी, तो हम ये अटकलें ख़त्म कर सकते थे कि क्या करना है और इसे कैसे करना है।

प्रोग्रामों को बदलने की कोशिश में अवैज्ञानिक परंपराओं पर भरोसा करने के बजाय हम ठोस, आज़माई हुई विधियों का इस्तेमाल कर सकते थे, जो सीखने जितनी ही पुरानी थीं - ऐसी विधियाँ जो कारगर थीं। हमें तो बस इतना करना था कि हम मस्तिष्क को नए प्रोग्राम देने का ठीक वैसा ही तरीक़ा खोज लें, जिस तरह प्रोग्राम होने के लिए इसे बनाया गया था!

दोहराव का रहस्य

जो स्व-सुधार प्रोग्राम काम करते हैं और जो लंबे समय तक चलते हैं, वे हमेशा वैज्ञानिक सत्य के ठोस आधार पर खड़े होते हैं। हालाँकि हम जो सोचते हैं, उसे शारीरिक दृष्टि से छू नहीं सकते, लेकिन हमारा हर विचार एक बहुत भौतिक, रासायनिक, वैद्युत् यंत्र से उत्पन्न हुआ है - मानव मस्तिष्क। यदि कोई व्यक्तिगत विकास अवधारणा हमारी न्यूरल संरचना की शारीरिक कार्यविधि - जिस तरह मस्तिष्क काम करता है - के अनुरूप नहीं हैं, तो यह सेल्फ़-हेल्प का एक विचार है, जिसका कोई ज़मीनी आधार नहीं है और यह क़ायम नहीं रहेगा।

लेकिन शुरुआत से ही आत्म-चर्चा न्यूरोलॉजी के ठोस सिद्धांतों पर आधारित थी - यह ठीक उसी तरह काम करती थी, जिस तरह हमारे मस्तिष्क को प्रोग्रामिंग के लिए बनाया गया था।

वास्तविक कम्प्यूटर को केवल एक ही बार कोई चीज़ बतानी होती है और इसके बाद वह प्रोग्राम स्थायी रूप से संग्रहित हो जाता है। इसके विपरीत, मानव मस्तिष्क को इस तरह बनाया गया है कि यह चलते-चलते सीखे-और इसे करने की कुंजी दोहराव है। कोई चीज़ जितनी ज़्यादा बार अनुभव की जाती है या दोहराई जाती है, वह प्रोग्राम मस्तिष्क में उतनी ही प्रबलता से दर्ज होता है, या उसकी छाप छूटती है। (आत्म-चर्चा पार्क में बार-बार चलने की तरह)।

आप कौन सी ''भाषा'' बोलते हैं?

मान लें कि जॉन ने शब्दों और वाक्यांशों (और इसलिए विचारों और मानसिक चित्रों) का एक शब्दभंडार सीखा, जो सारा का सारा नकारात्मक या आत्म-पराजयी था। जॉन जो भी सोचता है या कहता है या करता है, वह नकारात्मक शब्दावली में ही व्यक्त होगा - क्योंकि उसके शब्दभंडार में बस यही है। इसलिए हम कह सकते हैं कि जॉन एक निश्चित ''भाषा'' बोलता है - इस प्रकरण में हम इस भाषा को ''असफलता'' कहेंगे। कोई कह सकता है कि जॉन हमारी भाषा नहीं बोलता है। जॉन केवल ''असफलता'' बोलता है। यही उसके और उसके संसार के एकमात्र शब्द, विचार और चित्र हैं, जिन्हें जॉन जानता है। (उसने अपने ''कम्प्यूटर'' में सिर्फ़ इन्हीं को संग्रहित किया है।) अब मान लें कि हम एक और व्यक्ति मैरी को जानते हैं, जिसके शब्दों और वाक्यांशों (और इसलिए विचारों और मानसिक चित्रों) का शब्दभंडार पूरी तरह सकारात्मक और आत्मविश्वास से भरपूर था। मैरी जो भी सोचती है या कहती है या करती है, वह सकारात्मक शब्दावली में ही व्यक्त होगा। मेरी बस इतना ही जानती है। उसने अपने आंतरिक शब्द भंडार की फ़ाइलों में सिर्फ़ यही संग्रहित कर रखा है। हम मैरी की बोली गई भाषा को ''सफलता'' बोलते हैं। हम यह कह सकते हैं कि मैरी केवल ''सफलता'' बोलती है।

कई मायनों में यह एक सटीक चित्र है, जो बताता है कि हमारी पुरानी आत्म-चर्चा कैसी है। यह विचारों, शब्दों और चित्रों की भाषा है, एक मानसिक शब्द भंडार है, जिसका इस्तेमाल इसमें हममें से प्रत्येक अचेतन रूप से अपने बारे में और अपने जीवन के बारे में अपने विश्वास व्यक्त करने के लिए करता है। यही भाषा हर दिन हमारे हर चयन और हमारे हर कार्य के पीछे होती है। और ज़ाहिर है, ये हमारे

विकल्प और हमारे कार्य ही हैं, जो यह तय करते हैं कि हम सफल होंगे या नहीं। इसलिए आत्म-चर्चा की हमारी खुद की भाषा ही हमारी सफलताओं और असफलताओं को तय करेगी।

अगर आप जॉन और मेरी को व्यक्तिगत रूप से जानते, तो आपको क्या लगता है कि उन दोनों में किसका जीवन ज़्यादा अच्छा होगा? जॉन लोकप्रिय मानी जाने वाली भाषा ''असफलता'' बोलता है और मैरी कम लोकप्रिय, मगर व्यापकता से स्वीकृत ''सफलता'' की भाषा बोलती है। वह जो-आंतरिक भाषा बोलती है, उसके कारण उसके प्रोग्रामों के कारण - मैरी के पास सफल होने के बहुत बेहतर अवसर हैं।

आपने मन में संग्रहित वे शब्द और चित्र

हमारा ''मानसिक शब्दभंडार'' ही हमें वे चित्र देता है, जो हमें अपना जीवन देखने की अनुमति देते हैं और खुद के साथ दूसरों के साथ संवाद करने की भी अनुमति देते हैं। लेकिन मामला इससे आगे तक जाता है। हम सिर्फ़ अकेले शब्दों में नहीं सोचते हैं - हम तो अभ्यासित वाक्यांशों - विचार चित्रों में सोचते हैं, जिनका हम बारंबार इस्तेमाल अपने सबसे सामान्य अनुभवों को पहचानने और भंडारण करने के लिए करते हैं।

हमारे जीवन उन विचार चित्रों द्वारा शब्दशः परिभाषित और शासित है। हमारा घर, परिवार, नौकरी, हमारी आदतें, हम क्या पसंद करते हैं या पसंद नहीं करते है...इनमें से प्रत्येक विषय के बारे में हम जो भी सोच सकते हैं, वह हर चीज़ उन विचार चित्रों में तुरंत बदल जाती है, जिनका हम सबसे ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं।

आपने अपने मन में जो भी शब्द और चित्र भर रखे हैं - और आपमें जो भावनाएँ उनमें से प्रत्येक के साथ जुड़ी हैं बस वही! आपके पास बस यही है। जीवन की पटकथा के पन्नों पर यह लिखा रहता है कि आपका हर विचार और विश्वास कहाँ से आता है।

जब मैं ''घर'' शब्द कहता हूँ, तो आपके मन में पहला चित्र कौनसा आता है? (वह पहली चीज़ क्या है, जो आप सोचते या देखते हैं?)

जब मैं ''परिवार'' शब्द कहता हूँ, तो आपके मन में पहला विचार चित्र कौनसा आता है?

या, जब मैं ''नौकरी'' कहता हूँ, तो वह पहली चीज़ क्या है, जो आप सोचते हैं? जब आप यह शब्द सुनते हैं, तो आपके मन में कौनसी भावनाएँ आती हैं?

जब मैं ''डाइट'' शब्द कहता हूँ, तो आप सबसे पहले कौनसा विचार चित्र देखते हैं और आपमें कौनसी भावनाएँ होती हैं?

जब मैं ''पैसा'' शब्द कहता हूँ, तो मन में सबसे पहले कौनसी प्रतिक्रिया आती है?

आपकी हर प्रतिक्रिया और उसके साथ चलने वाली भावनाएँ सीधे उन प्रोग्राम फाइलों से आई हैं, जो आपके मस्तिष्क में इस समय संग्रहित हैं। (अगर आपके पास अलग प्रोग्राम फ़ाइलें होतीं, तो आपके जवाब भी अलग होते।)

मैं आपको मुख्य शब्दों की अंतहीन सूची एक-एक करके दे सकता हूँ और उनमें से हर एक के लिए आपका मन तुंरत आपको एक वाक्यांश या विचार चित्र देगा, जो संक्षिप्त रूप से परिभाषित करेगा कि वह मुख्य शब्द आपके मन में क्या लाया है।

लेकिन इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि नीचे, आपके भंडारण केन्द्र के ''अचेतन'' हिस्से में सैकड़ों और विचार चित्र-जिनके साथ भावनाएँ बँधी हैं - ख़ाली स्थान भरेंगे और हर उस चीज़ की तस्वीर को पूरा कर देंगे, जो आप उस विषय के बारे में सोचते और महसूस करते हैं। यह सब आपके प्रोग्रामों के शब्द भंडार पर आधारित है - उन शब्दों और चित्रों पर, जो आपके अपने मस्तिष्क की फ़ाइलिंग कैबिनेट में पहले से रख रखे हैं!

कम्प्यूटरों की तरह ही आपका इनपुट आपके आउटपुट को नियंत्रित करता है

तो यह समझना आसान है है कि अगर आपकी व्यक्तिगत फ़ाइलिंग कैबिनेट में सही शब्द वाक्यांश या विचार चित्र वहीं रखे हैं, तो आप अपने आप सही विचार, चित्र, विश्वास या कार्य देने में सक्षम नहीं होंगे।

जॉन के मस्तिष्क में केवल नकारात्मक शब्द और विचार चित्र ही संग्रहित हैं,

इसलिए वह किसी भी चीज़ के सकारात्मक परिणाम नहीं देख सकता। इसीलिए वह हमेशा असफल होता है। इसमें उसका दोष नहीं है। उसके पास तो सफलता की कोई सच्ची तस्वीर नहीं हैं और वह नहीं जानता कि यह कैसी दिखती है। यह वहाँ उसके मस्तिष्क में उस फ़ाइल के बग़ल में नहीं रखी है, जिस पर लिखा है ''आत्म-गौरव'' जहाँ इसे होना चाहिए था।

मैरी की फ़ाइलिंग कैबिनेटों में सिर्फ़ सकारात्मक शब्द और विचार चित्र ही संग्रहित हैं। इसलिए वह अपने आप सर्वश्रेष्ठ संभव विकल्प देख लेगी, सही चुनाव जान लेगी और अपने कार्यों के सर्वश्रेष्ठ संभव परिणाम देखेगी। उसके विचार-उसके शब्द वाक्यांश और उसके विचार चित्र-उसे जॉन से बिलकुल अलग विकल्प और संभावनाएँ देते हैं। जॉन और मेरी दो अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं।

ज़ाहिर है, यह हमारे वास्तविक संसार में इतनी स्पष्टता से नहीं होता है। हमारे पास 100 प्रतिशत बुरे प्रोग्राम या 100 प्रतिशत अच्छे प्रोग्राम नहीं होते हैं। लेकिन हमारे प्रोग्रामों - चाहे वे जो भी हों - के परिणाम वास्तविक होते हैं। अगर आपके पक्ष में सही किस्म के जो प्रोग्राम काम कर रहे हैं, उससे ज़्यादा नकारात्मक प्रोग्राम आपके खिलाफ़ काम कर रहे हैं, तो आप वह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि अधिकतर मामलों में परिणाम नकारात्मक होंगे।

तो इसमें कोई हैरानी नहीं है कि जिन लोगों के पास सर्वश्रेष्ठ प्रोग्राम होते हैं, वही सबसे ज़्यादा सफल होते हैं। उनकी आंतरिक चुनाव प्रक्रिया पूरी तरह उनके प्रोग्राम पर आधारित होती है। तो इसमें कोई हैरानी नहीं होनी चाहिए कि जो लोग अपनी आत्म-चर्चा बदलकर अपनी ''भाषा'' का चयन करते हैं, उन्हीं के पास बेहतर प्रोग्राम होते हैं और वही ज़्यादा सफल बनते हैं।

सतह पर यह सरल है

क्या यह सचमुच इतना सरल हो सकता है? इस सबके पीछे की प्रक्रिया-मस्तिष्क में भौतिक, विद्युत्-रासायनिक प्रक्रिया, जो इसे करती है - अविश्वसनीय रूप से जटिल है, लेकिन सही किस्म की आत्म-चर्चा से हमारे प्रोग्रामों को बदलने का दैनिक व्यक्तिगत अभ्यास व्यावहारिक और सरल है, कम से कम सतह पर।

इस सबके नीचे हमारे पास एक बहुत ही चतुर मस्तिष्क है। यह जानता है

कि अगर हम कोई चीज़ सीखने जा रहे हैं, तो हमारे बचाव के लिए आवश्यक है, तो हम इसे बहुत सरल तरीक़े से ही सीख सकते हैं। (मिसाल के तौर पर, यह सीखना आसान था - ''गर्म तवे को मत छुओ'')

हमारे मस्तिष्क को इस तरह बनाया गया है कि यह हमारी बुनियादी ''जीवन प्रोग्रामिंग'' जैसी महत्त्वपूर्ण चीज़ को सबसे सरल संभव तरीके से सीखे-सबसे पहले, इसे सुनकर। हमें अपने प्रोग्राम मिले भी सुनकर ही हैं, जिनके बारे में हम जानते भी नहीं थे, जब वे बार-बार हमारे जीवन की पृष्ठभूमि में बजते थे। (''शैरॉन, तुम कभी गणित में अच्छी नहीं बन पाओगी।'') ''डेनिन, इस परिवार में कोई भी कभी अमीर नहीं बन पाएगा।''

अपना इनपुट बदलें - अपने प्रोग्राम बदलें

तो कल्पना करें कि क्या होगा, अगर आप उसी सरल प्रक्रिया का इस्तेमाल करें, दोबारा प्रोग्राम करने के फिर उसी चमत्कार को कर दें। लेकिन इस बार आप नियंत्रण में होंगे। आप क्या कर सकते हैं, अगर आपके पास सही क़िस्म के प्रोग्राम हों, जो आपके पक्ष में काम करें - बजाय गलत क़िस्म के प्रोग्राम के, जो हमेशा आपके खिलाफ़ काम करते हैं?

क्या हो, अगर आप अपने इनपुट और अपने प्रोग्रामों को बदल सकें? और क्या हो, अगर इस बार आप इसे सही कर लें?

आप अपने इनपुट को बदल सकते हैं। आप इस बार इसे सही कर सकते हैं। अगले अध्याय में आप विशिष्ट तकनीकें सीखेंगे, जिनका इस्तेमाल करके आप अपने प्रोग्रामों का नियंत्रण अपने हाथ में ले सकते हैं।

स्व-आत्मश्रद्धान बिना ज्ञान व धर्म कर्म संसार कारण

- आचार्य कनकनन्दी

(चालः-आत्मशक्ति से ओतप्रोत....क्या मिलिए...)

सम्यग्दर्शन या आत्मश्रद्धान बिन सभी धर्मकर्म हैं व्यर्थ।
देवशास्त्र-गुरु-श्रद्धान द्वारा तत्त्वार्थश्रद्धान है प्रमुख।। (1)
इससे ही होता है ज्ञान सुज्ञान, अन्यथा ज्ञान मिथ्या है।

आचरण भी होता मिथ्याचरण, जिससे बढ़े संसार है।। (2)
सम्यक् दर्शन यथार्थ श्रद्धान, जो वस्तु जैसे-वैसे श्रद्धान।
इसे ही कहते हैं सत्यार्थ रूचि, अथवा आत्मप्रतीति या आत्मविश्वास।। (3)
पंचलब्धि पाकर जब जीव करे, मोह का उपशम या क्षयोपशम।
अथवा क्षय करते तब होता, सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी का भी उपशम।। (4)
तब आत्मा में होता प्रगट सम्यक्दर्शन, जो आत्मा का प्रमुख गुण।
अनन्तशक्ति सम्पन्न यह गुण जिससे, तत्त्वार्थों का होता श्रद्धान। (5)
षट् द्रव्य व सप्त तत्त्व तथाहि नव पदार्थ सहित देव-शास्त्र-गुरु।
इनसे सहित स्व-शुद्धात्मा का भी होता श्रद्धान ऐसा गुणमहान्।।(6)
इनमें से प्रमुख स्व-शुद्धात्मा का श्रद्धान होता है अनिवार्य।
स्व-शुद्ध श्रद्धान हेतु ही षट् द्रव्यादि का श्रद्धान उपादेय।। (7)
स्वयं में स्व-शुद्धात्मा के श्रद्धान बिन द्रव्यादि के श्रद्धान असंभव।
जो स्वयं का श्रद्धान नहीं कर पाते, अन्य का श्रद्धान कैसे/(नहीं) सम्भव।।(8)
जो दीपक स्वयं अप्रकाशी है वह कैसे देगा अन्य को प्रकाश।
जो होता स्वयं अज्ञानी वह कैसे देगा अन्य को ज्ञान।। (9)
आत्मश्रद्धान से होता जीवों को मैं हूँ निश्चय से शुद्ध जीव।।
अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादि सम्पन्न कर्मबन्ध से अशुद्ध जीव।।(10)
ऐसे श्रद्धान से उन्हें होता है सप्ततत्त्व-नव पदार्थ का श्रद्धान।
जिससे उन का ज्ञान भी होता कुज्ञान से सम्यक् ज्ञान।।(11)
जिससे वे होते चतुर्थगुणस्थानी जीव, यहाँ से जैनत्व प्रारम्भ।
उत्तरोत्तर आत्मविशुद्धि से बनते हैं श्रावक से लेकर श्रमण।। (12)
श्रमण बनकर ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग से करते आत्मविशुद्धि।
जिससे गुणस्थान आरोहण द्वारा बनते हैं अरिहंत-सिद्ध।। (13)
सम्यग्दर्शन है बीज समान जिससे बनता वृक्ष से फल तक।
बीज के बिना यथा न वृक्ष व फल तथाहि सम्यग्दर्शन बिन न धर्म (मोक्ष)।।(14)

''दंसण मूल धम्मो'' कहा सम्यग्ज्ञान से दर्शन व चारित्र उपकृत।
तीनों की पूर्णता से मोक्ष मिले 'कनक सूरी' सेवन करते रत्नत्रय।। (15)

नन्दौड़ दि.12.08.2018 रात्रि : 08:44

लोकानुगति लोक न लोक पारमार्थिक

(लोकमूढ़ता व लौकिक विनय से विवश मूढ़ लौकिक जन)
(अन्धानुकरण-गृहीतमिथ्यात्व)

- आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. वैष्णव जन तो....2. चार दिन की प्रीत जहाँ में....)

लौकिकजन तो तेने-कहिए, जो सत्य तथ्य न जाने रे,
लौकिक रूढ़िमय परम्परा को ही, जो सम्पूर्ण सत्य माने रे।।1।।
आत्म-परमात्मा व परमसत्य बिना जो लोकमूढ़ता को माने रे।
बंध मोक्ष व पुण्य पाप बिना, जो लोकानुसार पाले रे।।2।।
लौकिक विनय को ही जो विनय माने, अलौकिक विनय न जाने रे,
काम विनय व अर्थविनय व भय विनय से जो चले रे।।3।।
दर्शन विनय व ज्ञानविनय तथा, चारित्र विनय न जाने रे,
तप विनय व उपचार विनय से, विपरीत विनय पाले रे।।4।।
आत्मश्रद्धान व आत्मज्ञान बिन जो, होते लौकिक जन रे,
लोकलाज व लोकभयादि से, प्रभावित हो करते काम रे।।5।।
लोकरंजन व लोकसंग्रह हेतु ही करते भाव-व्यवहार है,
भेड़-भेड़िया चाल से चलते, होते वे अंधश्रद्धानी है।।6।।
शरीर को ही आत्मा मानते, होते वे अहंकारी-ममकारी है,
सत्ता सम्पत्ति-डिग्री को, मानते आत्मोपलब्धि है।।7।।
इस हेतु चाहिए लोक का, सहयोग व उपभोग भी।
विवाह से भोगोपभोग व स्वार्थसिद्धि समस्त साधन भी।।8।।
इस हेतु ही वे धर्म करते, न आत्म विशुद्धि हेतु है।
आगम आध्यात्मिक व मोक्ष लक्ष्य बिन करते धर्म पालन है।।9।।

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि हेतु व वर्चस्व प्रतिस्पर्धा हेतु।
धर्मपालन भी इस हेतु करते, नहीं पालते मोक्ष हेतु।।10।।
भीड़ तंत्र से ही परिचालित होते, भीड़ मनोविज्ञान अनुसार है।
निष्पक्ष सत्यनिष्ठ विवेक-अनुभव रहित वे मूढ़जन ही।।11।।
भीड़ तंत्र की ही भाषा जानते, न जानते आध्यात्मिक भाषा,
ऐसा जन भी आध्यातिम्क जन के, न जानते भाव व परिभाषा।।12।।
इसलिए उन्हें गलत मानते, करते उनसे अयोग्य व्यवहार।
तीर्थंकर बुद्ध ईसामसीह सुकरात मीराबाई से कुव्यवहार।।13।।
मूढ़लौकिक जन से संस्कृति न बनती, न बनती है आध्यात्मिक।
फैशन-व्यसन-भोगोपभोग में ही होते हैं व लवलीन।।14।।
इन्हें ही कहते हैं बहिरात्मा या, मिथ्यादृष्टि या अंधविश्वासी,
लोकायत या चार्वाक भौतिकवादी, नास्तिक या मिथ्यादृष्टि।।15।।
अनादि मोहकर्म के कारण, संसारी जीव होते मिथ्यादृष्टि।
तत्त्वार्थश्रद्धान या आत्मश्रद्धान से, बनते हैं सम्यग्दृष्टि।।16।।
तब ही वे मूढ़ता से मुक्त होकर, जानते स्वशुद्धात्मतत्त्व।
जिससे वे आत्मज्ञानी बनकर आत्मशुद्धि से पाते आत्मतत्त्व।।17।।
अन्यथा जीव मूढ़ता में ही रहते, भले वे हो जावे सभ्य शिक्षित।
कोई धार्मिक मूढ़ता पालते तो कोई, लौकिक सामाजिक या राजनैतिक।।18।।
कोई नेता के कोई अभिनेता कोई खिलाड़ी के होते अंधभक्त।
कोई आधुनिकता का तो कोई भौतिक विज्ञान का कोई पाश्चात्य भक्त।।19।।
मुमुक्षु साधक जो आत्मरसिक जानते हैं भेदविज्ञान।
उनकी ही होती है अलौकिक वृत्ति, 'कनक' का लक्ष्य आत्मज्ञान।।20।।
तीर्थंकर तक भी जब तक न करते, समस्त परिग्रह (लौकिक बंधन) त्याग।
उनको भी न मिलता है निर्वाण, लौकिक व्यवहार द्वारा।।21।।

सागवाड़ा दि. 19.07.2018 रात्रि 09:30 बजे

सन्दर्भः-

अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण

अथ अमूढ़दृष्टित्वं कथ्यते-

लोकेशास्त्राऽऽभासे, समयाऽऽभासे च देवताऽऽभासे।
नित्यमपि तत्त्वरूचिना, कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्।।26।।

In this world, he who has faith in the Tattwas (the seven principles) should never have a supperstitious belief in a fallacious scripture, an unreal doctrine, or a false deity.

अन्यवयार्थः- (लोके) लोक में (शास्त्राभासे) शास्त्राभ्यास में जो शास्त्र तो न हों परन्तु शास्त्र सरीखे मालूम होते हों उसमें (समयाभासे) धर्माभास में (च) और (देवताभासे) देवताभास में (नित्यं) दा (अपि) ही (तत्त्व रूचिना) सम्यग्दृष्टि के द्वारा-सम्यग्दृष्टि को (अमूढ़ दृष्टित्वं) मूढ़तारहित श्रद्धान (कर्त्तव्यं) करना चाहिये।

व्याख्या-भावानुवाद : तत्त्वरूचि वाले जीवों को सतत अमूढ़-दृष्टित्व गुण को अपनाना चाहिए। वह अमूढ़दृष्टित्व है वस्तु स्वरूप जैसा है उसी को उसी प्रकार जानना चाहिये। जिनमत में कहे हुए देव, शास्त्र, गुरु में दृढ़ता रखनी चाहिए अर्थात् उनकी श्रद्धा, भक्ति में दृढ़ता रखनी चाहिये। जीवादिषट् द्रव्य जहाँ रहते हैं उसे लोक कहते हैं। जो शास्त्र के समान लगता है परन्तु यथार्थ शास्त्र नहीं है अर्थात् सदोष शास्त्र है उसे शास्त्राभास कहते हैं। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञ निष्कलंक जिनेन्द्र भगवान् से अन्य देव देवताभास हैं। इनमें सम्यक्दृष्टियों को अमूढ़दृष्टि होकर व्यवहार करना चाहिये। निश्चय से मोह भाव से रहित होने के कारण सम्यग्दृष्टियों को संशय विमोह विभ्रम नहीं होते हैं। इसलिये वे अमूढ़दृष्टि वाले होते हैं। अनाप्त द्वारा कहा हुआ तत्त्व में या चेतन अचेतन पदार्थ में मोह रहितपना अमूढ़दृष्टित्व है।

सन्दर्भ :-

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग लक्षण वाला जीव होते हुए भी अज्ञान से मोक्ष मानना अज्ञान मिथ्यात्व है। जीव का अभाव मानना चार्वाक या भौतिकवादी दृष्टि है। पंचभूत से निर्मित शरीर में मदशक्ति रूप तात्कालिक शक्ति का संचार ही जीव है। और वह

जीव न पहले था न अभी रहेगा ऐसा मानना भौतिकवादी सिद्धान्त है। जीवों को अस्ति रूप में मानना परन्तु जीव द्वारा किया गया पुण्य पापादि का फल जीव भोग नहीं करता है परन्तु प्रकृति भोगती है परन्तु जीव स्वभाव में परिणमन करता है ऐसा मानना सांख्य मिथ्यात्व है या एकान्त आध्यात्मिक मिथ्यात्व है। ये सब मिथ्या दृष्टि काल अपेक्षा भरत क्षेत्र में होते हैं अर्थात् भाव मिथ्यात्व तो हर क्षेत्र हर काल में संभव है। परन्तु द्रव्य मिथ्यात्व तो केवल हुण्डावसर्पिणी काल में भरत-ऐरावत क्षेत्र में होता है। स्थूल दृष्टि से मिथ्यात्व सप्त प्रकार का है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से मिथ्यात्व असंख्यात लोक मात्र है। जिस प्रकार पित्त ज्वर से आक्रान्त पुरुष को दुग्धादि मधुर रस नहीं रुचता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को अहिंसा लक्षण, रत्नात्रयात्मक धर्म नहीं रुचता है। इसी प्रकार समस्त मिथ्यादृष्टियों को पुरुषार्थ सिद्धि की कभी भी उपलब्धि नहीं होती है। इसी प्रकार का विचार करके स्याद्वाद से अलंकृत भगवत् वचन रूपी दिनकर रश्मि से मिथ्यात्व को दूर करके शुद्धात्मा स्वरूप ज्ञान में ही निज स्वरूप में जो स्थित होता है वही मोक्ष का उपाय है। मिथ्यात्व का स्वरूप अन्य ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है विशेष जिज्ञासु उस ग्रन्थ से अध्ययन करें।

मुनियों की अलौकिक वृत्ति

अनुसरतां पदमेतत्, करंविताचार नित्य-निरभिमुखाः।

एकांत विरति रूपा भवंति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।6।। पुरुषार्थ, **अलौकिकी वृत्तिः संसार रहित वृत्तिः आचारः मुनीनां नियत अग्निज्वलितः अयः पिण्डवत्। यथाऽयः पिण्डेऽग्निरमिलितोऽपि दृष्टि ग्रन्थानां एव भवति।**

कथंभूतानां मुनीनां एतद् पदं अनुसरतां एतत्पदं आत्मतत्वपदे अनुसरतां अनुसरणं कुर्वतां। कथंभूताः अलौकिकी वृत्तिः करंविताचारः-नित्य निरभिमुखा करंविताचारात् व्यवहार-मिलिताऽऽचारात् नित्यं सदैव निरभिमुखा पराङ् मुखा भावार्थोऽयं। निरवद्य सावद्य-व्यवहार-रहिता केवल विरतिरूपा इत्यर्थः। पुनः कथंभूताऽलौकिकी वृत्तिः एकान्त विरति रूपा एकान्तेन निश्चयेन सर्व पापाद् विरहिता। कथं तथा चोक्तं-

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणि पात्रो दिगम्बरः।

कदाऽहं संभविष्यामि, कर्म निर्मूलनेक्षमः।।1।।

The life-routine of such saints as follow this path, as are ever a verse to questionable conduct, and have adopted complete renunciation, is uncommon indeed.

अतः कारणात् सर्व पाप विरतिः मुनीनामेव न तु गृहस्थानामित्यर्थः।

व्याख्या-भावानुवाद : संसार-रहित वृत्ति अर्थात् अलौकिक आचार निर्ग्रन्थ मुनियों के होते हैं। इस आत्म तत्त्व पद का अनुसरण करता हुआ मुनि समस्त पापों से निवृत्त होकर व्यवहार से मिला हुआ आचार से सदैव विमुख होकर अर्थात् पाप क्रिया से मुक्त व्यवहार से विरक्त होकर सदैव अलौकिक वृत्ति अर्थात् पाप रहित वृत्ति में विचरण करता है। कहा भी है -

भव्य मुमुक्ष विचार करता है कि मैं कब एकाकी, निस्पृह, शान्त, पाणिपात्री, दिगम्बर होकर कर्म को नष्ट करने में सक्षम बनूँ। इसलिए समस्त पाप से विरक्ति मुनि की होती है न कि गृहस्थों की।

मिथ्यादृष्टि जीव को यह प्रशस्त पुण्य प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव को जो पुण्य होता है वह अप्रशस्त है, कारण मोक्ष नाम से मिथ्या भावों की आराधना करते हैं, वीतराग रूप अंतर भाव का अभाव है। इस कारण जो कुछ पुण्य प्राप्त होता है वह राग-द्वेष मोह के साथ अनुभवता है, वैसा वह मिथ्या पुण्य कषायों के कारण घट जाता है और दुर्गति को प्राप्त होता है। यह मिथ्यादृष्टि मनुष्य सम्यग्दृष्टि के समान ही धर्मानुष्ठान करता है परन्तु उसके भाव प्रशस्त-वीतराग भाव नहीं होते हैं, इस कारण संसार भ्रमण के लिए कारण बनता है।

मिथ्यादृष्टि का पुण्य-पापानुबंधी पुण्य होता है। उस पापानुबंधी पुण्य का उदय कम होने पर, घट बढ़ जाने पर देवगति का जीव एकेन्द्रिय में जन्म लेता है और कुत्ते का जीव स्वर्ग में भी जाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि का पुण्य हेय है और सम्यग्दृष्टि का पुण्य उपादेय है।

भावार्थ : जिस जीव के अंतरात्मा और परमात्मा के भाव होते हैं वह अतिशय पुण्य होने से मोक्षगति में प्रापक होता है। इसे समझकर परमात्मा अरिहंत सिद्ध पद के हेतु शीघ्र ही मिथ्यामार्ग को छोड़कर सम्यक् मार्ग को धारण करना चाहिए।

स्व समय पर समय का ज्ञाता

दव्वगुण पज्जायेहि जाणइ परसमय ससमयादि विभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवंगइ पहणायगो होई।।144।। रयण.

अर्थ :- आत्मा के दो भेद हैं-एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो भव्य अपने शुद्ध स्वभावों में स्थिर रहता है उसको स्वसमय कहते हैं और जो अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रहता है उसको परसमय कहते हैं। जो आत्मा इन दोनों प्रकार के स्वरूप को जानता है तथा इनके द्रव्यरूप असंख्यात प्रदेशों को जानता है अथवा इनको द्रव्य रूप से जानता है और इनके समस्त गुणों को जानता है, स्वभाव-विभाव गुणों को भी जानता है, और इनकी समस्त पर्यायों को जानता है। वह परम आत्मा मोक्ष तक जाने वाले स्वच्छ, सम्यक् मार्ग का नायक है, पथिक है, प्रधान है ऐसा समझना।

भावार्थ : समय नाम आत्मा को कहते हैं। स्वमें स्थित आत्मा को स्वसमय कहते हैं और स्व आत्म स्वरूप को छोड़कर पर पदार्थ में परिणत रहता है वह आत्मा पर समय है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि आत्मा, स्व आत्मा के और पर पदार्थों के द्रव्य गुण पर्याय इनको यथारूप जानेगा वह समयरूप आत्मा है वही परमात्मा है। इस प्रकार जानकर स्वयं पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा बनने का कोशिश करेगा वही परमात्मा बनेगा। मोक्ष को प्राप्त करेगा।

मोक्ष परपदार्थ में नहीं है, अनजाने में नहीं है, पर उपयोग में नहीं है, स्व को जानेगा वह अवश्य पर को जानेगा। पर को ही जानेगा वह अपने आत्मा को कदापि जान नहीं सकता है। इसलिए स्व समय (आत्मा) और पर समय (आत्मा) इनको अच्छी तरह जो जानेगा और पर पदार्थ से भिन्न अपने आत्मा के स्वरूप में चरण करते हुए स्थित रहेगा वही स्व समय आत्मा है। अतएव अपने आत्मा का ही ध्यान करने के लिए जो स्व समयी आत्मा जिनेन्द्र परमात्मा है उनका ध्यान अवश्य करना चाहिए। जो जीव भव्यात्मा इस प्रकार ध्यान करता है और करना चाहिए। अपने आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए परमात्मा का ध्यान करता है वह मोक्ष पद को पाता है।

स्व-समय कौन?

बहिरंतरप्प भेयं पर समयं भण्णए जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे।।145।।

अर्थ : भगवान् जिनेन्द्र देव ने अंतरात्मा बहिरात्मा दोनों भी पर समय बतलाया है। तथा परमात्मा को स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुण स्थानों की अपेक्षा से समझ लेना चाहिए।

(1) बहिरात्मा (2) अंतरात्मा।

(1) मिथ्यादृष्टि मोही जीव बहिरात्मा है ही है। इसमें मिथ्यात्व गुणस्थान, सासादन गुणस्थान, मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव होते हैं।

(2) असंयत सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र मोहनीय की अपेक्षा जघन्य अंतरात्मा एक दृष्टि से कहा जाता है।

(3) देश संयत से लेकर सूक्ष्म सांपराय नामक दशवें गुणस्थान तक कषायों के तारतम्य से जाना जाता है। इनमें शुभ भावों की विशुद्धता बढ़ती जाती है। 5 वे से 10 (पाँचवे से दशवें गुणस्थान तक) मध्यम अंतर आत्मा कहा गया है। तथा उपशान्त व क्षीणमोह (ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थानवर्ती) को उत्कृष्ट अंतर आत्मा गिना है। एवं सकल परमात्मा (तेरहवें गुणस्थान में) माना है, जो स्व समय में स्थित है। चारों घातिया कर्मों का नाश हो चुका है। अपने आत्मा को व सकल विश्व को जानने की सुखानुभव प्रति समय में करने की क्षमता आ चुकी है वह परमात्मा है। निश्चय से स्व समय परमात्मा है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान् ने उपदेश दिया है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आत्मा का वर्गीकरण

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्प जहण्णा।
सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।146।।

अर्थ : मिथ्यात्व सासादन मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थान के जीव जघन्य अंतरात्मा हैं। पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक विशुद्धि को बढ़ाते जाने वाले मध्यम अंतर आत्मा है। बाहरवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अंतर आत्मा है। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् सकल परमात्मा है, और सिद्ध परमेष्ठि निकल परमात्मा है। इस प्रकार समझ लेना चाहिए।

दोषों के त्याग से मुक्ति

मूढत्तय सल्लत्तय दोसत्तय दंडगारवत्तयेहिं।

परिमुक्को जोई सो सिवगइ पहणायगो होई।।147।।

अर्थ : (1) तीन मूढ़ता मिथ्यात्व

(1) देव मूढ़ताः वीतराग देव को छोड़कर अन्य देव को भजना। (2) पाखंड मूढ़ताः सच्चे दिगम्बर गुरू को छोड़कर पाखंडी साधु को मानना (3) लोक मूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं।

(2) तीन शल्य- (1) मिथ्या शल्य (2) मायाशल्य (3) निदान शल्य ये तीन शल्य हैं।

(3) तीन दोष- (1) राग (2) द्वेष (3) मोह ये तीन दोष हैं।

(4) तीन दंड (1) मनोदंड (2) वचनदंड (3) कायदंड ये तीन दंड हैं।

(5) तीन गारव- (1) रसगारव (2) ऋद्धिगारव (3) सात गारव ये तीन गारव हैं।

इन सब दोषों से रहित योगी सच्चा मोक्ष का अधिकारी है, नायक है, पथिक है, श्रेष्ठ है, पूज्य है।

अंगहीन सम्यग्दर्शन की स्थिति

नाङ्गहीन मलं छेत्तु जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।।21।। (रत्नक.)

अर्थ : जैसे अक्षर हीन मंत्र विष की पीड़ा को नष्ट नहीं करता, उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मों की परम्परा को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता।

लोक मूढ़ता का लक्षण

आपगा सागर स्नान मुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपतोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।।22।।

अर्थ : नदी और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरों को ढेर लगाना, पर्वत से गिरना और अग्नि में जलना (कूदना) लोक मूढता है।

देव मूढ़ता का लक्षण

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेष मलीमसाः।

देवता यदुपासीत देवता मूढ़मुच्यते।।23।।

अर्थ : लौकिक फल की आशा से, वर की इच्छा से, राग-द्वेष से मलिन देवताओं की जो उपासना की जाती है। वह देव मूढ़ता कही जाती है।

गुरु मूढ़ता का लक्षण

सग्रन्थारम्भ हिंसानां, संसारावर्त वर्तिनाम्।

पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्।।24।।

अर्थ : परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार रूपी चक्र में भटकने वाले पाखण्डी साधुओं का आदर, सम्मान, पूजा आदि करना गुरु मूढ़ता जानना चाहिए।

मद का लक्षण और भेद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मय माहुर्गतस्मयाः।।25।।

अर्थ : ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों का आश्रय लेकर जो गर्व करता है मद रहित पुरुष (सर्वज्ञ भगवान्) उसे मद कहते हैं।

मद से हानि

स्मयेन याऽन्नानत्येति, धर्मस्थान गर्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिके र्विना।।26।।

अर्थ : जो घमण्डी घमण्ड से दूसरे रत्नत्रय के धारक धर्मात्मा जनों को अपमानित करता है, वह व्यक्ति अपने धर्म को ही अपमानित करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है।

सम्पदा से क्या प्रयोजन

यदि पापनिरोधोऽन्य, संपदा किं प्रयोजनम्।

अथ पापस्रवोऽस्त्यन्य, संपदा किं प्रयोजनम्।।27।।

अर्थः-यदि पाप का निरोध हो गया है तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है, यदि पाप का आस्रव है तो दूसरी सम्पदाओं से क्या प्रयोजन है।

सम्यग्दर्शन की विशेषता

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातङ्ग देहजम्।

देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्त रौजसम्।।28।।

अर्थः-जिनेन्द्र देव सम्यग्दर्शन सहित भंगी (जमादार) को भी राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान पूज्य (श्रेष्ठ) कहते हैं।

धर्म और पाप का फल

श्वापि देवाऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।

कापि नाम भवेदन्या, संपद्धर्माच्छरीरिणाम्।।29।।

अर्थः-धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है धर्म के प्रभाव से जीवों को अन्य भी अनिर्वचनीय (अहमिन्द्र, मोक्षादि) सम्पदा प्राप्त होती है।

विनय का स्वरूप एवं भेद

विनय का स्वरूप विभिन्न ग्रंथों में निम्न प्रकार से पाया जाता है-

हिताहितप्तिलुप्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा।

यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम्।। (47) (धर्मा)

हित की प्राप्ति और अहित का छेदन करने के लिए, जो हित की प्राप्ति और अहित के छेदन करने के उपाय है उन उपायों को सदा छल-कपट रहित भाव से महात्म्य बढ़ाने का प्रयत्न करना, उन उपायों की शक्ति को बढ़ाना, इसे साधुजन विनय कहते हैं।

विनय के पाँच भेद-

लोकानुवृतिकामार्थभय निश्रेयसाश्रयः।

विनयः पञ्चधावश्कार्योऽन्यो निर्जरार्थिभिः।। (48)

लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुकः।

विनयो भवहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधनः।।

उत्थानमञ्जलिः पूजाऽतिथेरासनठौकनम्।

देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद् विनयोमतः।।
भाषाच्छन्दानुवृत्तिं च प्रदानं देवकालयोः।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया।।
कामतन्त्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते।
विनयः पञ्चतो यस्तु तस्यैषा स्यात्प्ररूपणा।।

लोकानुवृत्तिहेतु विनय, काम हेतुविनय, अर्थ हेतुक विनय, भयहेतुक विनय और मोक्षहेतुकविनय। व्यवहारी जनों के अनुकूल आचरण करना लोकानुवृत्ति हेतुक विनय है। जिससे सब इन्द्रियाँ प्रसन्न हो उसे काम कहते हैं। जिस विनय का आश्रय काम है वह काम हेतुक विनय है। जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं। अर्थमूलक विनय अर्थ हेतुक विनय है। भय से जो विनय की जाती है वह स्वार्थ हेतुक विनय है और जिस विनय का आश्रय मुमुक्षु लेता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो विनय की जाती है वह मोक्ष हेतुक विनय है। अतः जो मुमुक्षु कर्मों की निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए।

स्यात्कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः।। (60) (धर्मा)

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन आदि इन्द्रियों का सर्वथा विरोध करने को या शास्त्र विहित कर्म में प्रवृत्ति करने को अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा 'च' शब्द से रत्नत्रय के साधकों पर अनुग्रह करने वाले राजाओं का यथायोग्य उपकार करने को विनय कहते हैं।

यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्य।। (61)

'विनय' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'नी नयते' धातु से बना है। तो 'विनयतीति विनयः'। विनयेति के दो अर्थ होते हैं-दूर करना और विशेषरूप से प्राप्त करना। जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है। यह विनय 'जिनवचन के ज्ञान प्राप्त करने का फल है और समस्त प्रकार के कल्याण इस नियम से ही प्राप्त होते हैं। अतः इसे अवश्य करना चाहिए।

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः।। (62)

आर्यता, कुलीनता आदि गुणों से युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्याय का सार अर्हद्रूप सम्पत्ति अर्थात् जिनरूप नग्नता आदि से युक्त मुनिपद धारण करना है और इस अर्हद्रूप सम्पदा का सार अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी की शिक्षा प्राप्त करना है। इस आर्हती शिक्षा का सार सम्यक् विनय है और इस विनय में सत्पुरुषों के द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैनी शिक्षा का सार और जैन गुणों का मूल है।

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षाऽपि खलमैत्रीव किंफला।। (63)

जैनी शिक्षा से हीन पुरुषों का जिनलिंग धारण करना नट की तरह आत्मविडम्बना मात्र है। जैसे कोई नट मुनि का रूप धारण कर ले तो वह हँसी का पात्र होता है वैसे ही जैन धर्म के ज्ञान से रहित पुरुष का जिन रूप धारण करना भी है तथा विनय से रहित मनुष्य की शिक्षा भी दुर्जन की मित्रता के समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है।

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः।
चतुर्धा विनयोऽवाचि पंचमोऽपि तपोगताः।। (64)

तत्त्वार्थशास्त्र के विचारकों ने दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय इस प्रकार चार भेद विनय के कहे हैं और आचार आदि शास्त्र के विचारकों ने तपोविनय नाम का पाँचवाँ भेद भी कहा है।

दर्शनविनयः शंकाद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णावर्ण हृत्यानासदना जिनादिषु च।।(65)

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतिचारों को दूर करना दर्शन की विनय है। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणों से उसे युक्त करना भी दर्शन विनय है तथा अर्हन्त सिद्ध आदि के गुणों में अनुराग रूप उनकी द्रव्य और भाव पूजा, विद्वानों की सभा में युक्ति के बल से जिनशासन को यशस्वी बनाना, उस पर लगे मिथ्या लांछनों को दूर करना, उसके प्रति अवज्ञा का

भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना, ये सब भी सम्यग्दर्शन की विनय है।

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये।। (66)

सम्यग्दर्शन के दोषों को नष्ट करने में और गुणों को लाने में जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है और दोषों के दूर होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान में जो यत्न है वह दर्शनाचार अर्थात सम्यग्दर्शन आदि के निर्मल करने में जो यत्न है वह विनय है और उनके निर्मल होने पर विशेष रूप से अपनाना आचार है।

शुद्धव्यंजनवाच्यततद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया।
योग्यावग्रहणधारणेन समय तद्भाजि भक्त्यापि च।।
यत्काले विहिते कृतांजलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः।
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योऽस्टधापीष्टदः।। (67)

शब्द अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक, गुरु आदि का नाम न छिपाकर जिस आगम का अध्ययन करता है उसके लिए जो विशेष तप बतलाया है उसे अपनाते हुए आगम में तथा आगम के ज्ञाताओं में भक्ति रखते हुए स्वाध्याय के लिए शास्त्रविहित काल में पीच्छी सहित दोनों हाथ को जोड़कर, एकाग्रिचत्त से मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागम का अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञान विनय है। उसके आठ भेद है जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फल की देने वाले हैं। मुमुक्षु को उसे अवश्य करना चाहिए।

यत्नो हि कालशुद्धयादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे सत्साधनेषु च।। (68)

काल शुद्धि, व्यंजन शुद्धि आदि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है और काल शुद्धि आदि के होने पर जो श्रुत के अध्ययन में और उसके साधक पुस्तक आदि में यत्न किया जाता है वह ज्ञानाचार है अर्थात् ज्ञान के आठ अंगों की पूर्ति के लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है, उनकी पूर्ति होने पर शास्त्राध्ययन के लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है।

रुच्याऽरुच्यहषीगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत्।
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया।

सामान्येतर भावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्।
धन्यः साधयते चारित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम्।। (69)

इन्द्रियों में रूचिकर विषयों के राग और अरूचिकर में द्वेष का त्याग कर उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया और लोभ का छेदन करके, समितियों में बारम्बार उत्साह करके शुद्ध-मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों में आदर रखते हुए तथा व्रतों का सामान्य और विशेष भावनाओं के द्वारा अहिंसा आदि व्रतों को निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी की पोषक चारित्र विनय को करता है।

समित्यादिषु यतनो हि चारित्रविनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः।। (70)

समिति आदि में यत्न को चारित्र विनय कहते हैं और समिति आदि के होने पर महाव्रतों में यत्न किया जाता है वह चारित्राचार है। आचारसार में कहा भी है-

विनयं स्याद्विनयनं कषायेन्द्रिय मर्दनं।
स नीचैवृत्तिरथवा विनयार्हे यथोचितम्।। (69)

'विनयते इति विनयनं' विनय किया जाता है, कषाय का और इन्द्रियों का दमन किया जाता है, अथवा पूज्य पुरुषों में यथा योग्य नम्रता होती है उसको विनय कहते हैं।

सदृग्ज्ञानतपश्चारित्रोपचार प्रपंचकः।
तत्रदृग्विनयस्त्यागः शंकादीनाममीचते।। (70)

सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय सम्यक्चारित्र विनय तपो विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार का विनय है। उसमें शंकादि दोषों का परिहार करना सम्यग्दर्शन विनय है।

शंकाऽऽकांक्षा जुगुप्साऽन्यदृक्क प्रशंसनसंस्तवाः।
नाम्नोज्ञेयाम्नयोन्त्यौ तु मनोवाग्विषये स्तुती।। (71)

जिनेन्द्र कथित तत्त्व में संशय करना शंका है। संसारिक भोगों की वांछा कांक्षा है, रत्नत्रयधारी दिगम्बर तपस्वियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना अथवा भूख प्यास से पीड़ित होकर जैन तपश्चरण से निर्विघ्न होना जुगुप्सा है। मन के द्वारा मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना संस्तव है। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार है। इनसे

सम्यग्दर्शन मलिन होता है इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। इन अतिचारों का त्याग करना सम्यग्दर्शन का विनय है।

द्रव्यादि शोधनं वस्तु प्रमाणवग्रहादिकं।
बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुताज्ञासादनोज्झनं।। (72)
वयः शीलश्रुतोनाधिकाधुपाध्यायकीर्तनं।
चानिन्हवेन येनायंज्ञानावरणकारणं।। (73)
स्वराक्षरपदग्रन्थार्थाहीनध्ययनादिकं।
स्याज्ज्ञान विनयः सम्यग्ज्ञान स्वर्मोक्षकारणम्।। (74)

ज्ञानाचार अधिकार में कथित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि से शास्त्र पढ़ना वस्तु प्रमाणादि का अवग्रह करना, श्रुतज्ञानियों में बहुमान होना श्रुतज्ञानियों की आसादना नहीं करना, वय में हीन होते हुए भी शील और श्रुत में अधिक उपाध्याय आदि के गुणों का उत्कीर्तन करना, जिस गुरु से ज्ञानार्जन किया है वह श्रुत तप आदि में हीन हो तो भी उसका नाम बताना ज्ञानावरणादि कर्मों के कारणभूत निह्नव का त्याग करना अर्थात् अपने श्रुतज्ञान को नहीं छिपाना, शब्द शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध पढ़ना और दोनों शब्द तथा अर्थ शुद्ध पढ़ना यह ज्ञान के विनय हैं।

आवश्यक क्रियाशक्तिर्नानोत्तर गुणोन्नतिः।
तपस्तद्वत्प्रमोदश्च स्यात्तपोविनयो मुनेः।। (75)

निर्दोष आवश्यक क्रियाओं का पालन करना, नाना प्रकार के उत्तर गुणों की वृद्धि करना, बारह प्रकार के तपश्चरण में और तपस्वियों में प्रमोद भाव रखना तपोविनय है।

भक्तिश्चारित्रवत्स्वन्यवृत्ताऽनिन्दयमुपमः।
परीषहजयादौ च चारित्र विनयोमुनेः।। (76)

चारित्रशाली मुनिराजों के प्रति भक्ति करना व्रतियों अर्थात् जघन्य चारित्र वाले की निन्दा नहीं करना परीषह आने पर उन पर विजय प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना यह चारित्र विनय है।

उपोपसृत्य यश्चार ''उपचार'' यथोचितः।
स प्रत्यक्षपरोक्षात्मा तत्राद्यः प्रतिपाद्यते।। (77)

समीप में जाकर जो यथोचित सत्कार किया जाता है वह उपचार विनय है। वह उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। इसमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष विनय का वर्णन करते हैं।

अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते।
स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम्।। (78)
गच्छयत्यनुगमो वक्तर्यनुकूलं वचो मनः।
प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादि चतुष्टये।। (79) (युग्मं)

आचार्य के आने पर शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े होना चाहिए तथा भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिए। आचार्य के बैठ जाने पर आचार्य से नीचे स्थान पर बैठना चाहिए। आचार्य के समाने शयन और उच्चासन को छोड़ना चाहिए। आचार्य के गमन करने पर उनके पीछे-पीछे चलना चाहिए। आचार्य के बोलने पर अनुकूल वचन बोलना चाहिए तथा आचार्य के प्रति मन में प्रमोदभाव, उनके गुणों में अनुराग होना चाहिए। आचार्य के समान ही उपाध्याय गणधर, स्थविर और प्रवर्तक का विनय करना चाहिए।

आचार्यदिष्वसत्सत्स्वेवं स्थविरस्य मुने गुणे।
प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु।। (80)

आचार्य की अनुपस्थिति में स्थविर, गणधर और अन्य साधुओं में प्रतिरूप काल योग्य क्रिया करना चाहिए।

आर्यादेशयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया।
कर्त्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारलक्षणम्। (81)

आर्यिका, देशसंयमी और असंयतादि में उचित सत्कार करना चाहिए। यह प्रत्यक्ष उपचार लक्षण विनय है।

ज्ञानविज्ञान सत्कीर्तिनतिराज्ञानुवर्त्तनं।
परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः।। (82)

परोक्ष में आचार्य के ज्ञान विज्ञान का सत्कीर्तिन, आज्ञा का पालन और नमस्कार यह परोक्ष विनय है।

विनयेन विहीनस्य भिक्षोः शिक्षामृतश्रियः।

संश्रयाय निदानं नो तथा चाभ्युदय श्रियः।। (83)

जो तपस्वी विनयहीन है अर्थात् गुरुजनों का विनय नहीं करता उसका शास्त्राध्ययनादि मुक्ति की प्राप्ति तथा स्वर्ग श्री का कारण नहीं है।

जिनाज्ञावर्तनं कीर्ति मैत्री मानापनोदनम्।

गुणानुरागिता संघसम्मदाधाश्च तद्गुणाः।। (84)

विनय से जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन होता है, जगत् में निर्मल सत्कीर्ति रूपी लता विस्तरित होती है, सर्वजनों के मैत्री भाव प्रगट होता है, मान कषाय का नाश होता है तथा चतुर्विध संघ विनयशील मानव पर सन्तुष्ट होते हैं इत्यादि अनेक विनय के गुण हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन पदं सर्वेष्ट सम्पदाम्।

रत्नत्रयीविभूषायां येन मुक्ति निबन्धनं।। (85)

विशेष कहने से क्या प्रयोजन है। विनय सर्व इष्ट सम्पदाओं का स्थान है, रत्नत्रय का भूषण है और मुक्ति का कारण है।

विनयफल-सर्वकल्याण

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्याणं।। (भा.आ. गा. 130)

विनय से रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल होती है। शिक्षा का फल विनय है विनय का फल सब का कल्याण है।

विनय रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल है क्योंकि पूर्व में कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षा का फल है और उस विनय का फल सर्व कल्याण है। सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनय से मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है।

विणओ मोक्खद्वारं विणयादो संजमो तवो णाणं।

विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य।। (131)

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य और सर्व संघ अपने वश में किया जाता है।

जैसे द्वार इष्ट देश की प्राप्ति का उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मों के विनाश रूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय विनय है इसलिए मोक्ष का द्वार कहा है। पूर्व में कही पाँच प्रकार की विनय के होने पर ही कर्मों से छुटकारा होता है। विनय से ही संयम होता है। क्योंकि जो पाँच प्रकार की विनयों में सदा लगा रहता है वहीं असंयम को त्यागने में समर्थ होता है, जो विनयों में प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयम को नहीं छोड़ सकता। यदि इन्द्रियों और कषायों की ओर से विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है तथा ज्ञानादिकी विनय से शून्य अनशन आदि कर्म को नष्ट कर सकते हैं। इसलिए तप में तपपना का कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनय से तप होता है' कहा है तथा ज्ञानका कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और विनय से आचार्य तथा समस्त संघ अपने वश में हो सकता है।

आयारजीवकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।

अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च।। (132)

आचार के क्रम तथा कल्प्य गुणों को प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव लघुता, भक्ति और अपने दूसरों को प्रसन्न करना, ये विनय के गुण हैं।

रत्नत्रय के आचरण का कथन करने में तत्पर होने से पहले अंग को आचारांग कहते हैं और आचार शास्त्र में कहे गये क्रम को 'आचारजीत' शब्द से कहते हैं। 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराध के अनुरूप दण्ड को कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार इन दोनों का प्रकाश 'आचारजदिकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनय के करने से आचारशास्त्र से कहे गये क्रम का प्रकाशन होता है। कल्प भी विनय को न मानने वाले साधु को दण्ड का विधान करता है अतः विनय का ही निरूपण करता है। उसके भय से साधु विनय करता है इस प्रकार कल्प के द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्हीं का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते हैं-

'कल्प्यते इति कल्प्यं' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणों को कल्प्य गुण कहते हैं। आचार के क्रम का कल्प्य गुणों का प्रकाश आयारजीद कल्प गुण शब्द का अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करने से श्रुत की आराधना और चारित्र की आराधना

होती है तथा विनय करना आत्मशुद्धि का अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणति का निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममल के विनाश से प्राप्त होती है अतः उसे आत्मा की शुद्धि कहते हैं। जैसे कीचड़ से दूर होने पर जलादि की शुद्धि होती है। 'णिज्झंझाका' अर्थ वैमनस्य का अभाव है। जो विमनस्क होता अर्थात् जिसका मन स्थिर नहीं होता वह विनय हीन होता है। गुरु उस पर अनुग्रह नहीं करते। ऋजु मार्ग पर चलने को आर्जव कहते हैं और शास्त्र के कहे गये आचरण को ऋजु कहते है। मार्दव अर्थ अभिमान का त्याग है। दूसरे के गुणातिशय में ऋद्धा करने से और उनके माहात्म्य को प्रकट करने से तथा विनय करने से अभिमान का ह्रास स्वयं हो जाता है। जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्य पर सौंपकर लघु हो जाता है। अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते हैं अतः लाघव का मूल विनय है। जो विनीत होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते हैं अतः विनय भक्ति का कारण है। प्रकृष्ट सुख को प्रल्हाद कहते हैं उसका करना प्रल्हादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरों को प्रसन्न करना विनय का गुण है। अपने को प्रसन्न करना भी विनय गुण है, क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं। अतः वह निरन्तर दुःखी रहता है और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोक में बाधा के अभाव को ही सुख कहा जाता है।

कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो।
तित्थराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।। (133)

कीर्ति, मित्रता, मान का विनाश, गुरुजनों का बहुमान और तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना ये विनय के गुण हैं।

यह विनयी है, ऐसा कहना कीर्ति है। विनयी की कीर्ति होती है। दूसरों को दुःख न देने की भावना मैत्री है। जो विनीत होता है वह दूसरों को दुःख देना नहीं चाहता है और मान का भंग होता है।

शंका-पूर्व गाथा में मार्दव शब्द से मानभंग को कहा भी है। पुनः कहने से पुनरुक्तता दोष आता है?

समाधान-यहाँ पर के मानभंग को कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी

अपना मान छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक है। दूसरों को जैसे करता देखता है स्वयं भी वैसा करता हैं। वे सोचते हैं-निश्चय ही अभिमान का त्याग गुण है, अन्यथा वह विनय क्यों करता? विनय से गुरुओं का बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनों को बहुत सम्मान करता है तथा तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन होता है अर्थात् विनय का उपदेश देने वाले तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन विनय करने से होता है तथा गुरुजनों की विनय करने से उनके गुणों की अनुमोदना होती है। कोई कहते है कि श्रद्धानादि गुणों में हर्ष प्रकट होता है। ये विनय गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है। विनय से पैदा होने के कारण इन्हें विनय के गुण कहते हैं।

श्रमणों का अनादर करने वाला चारित्रभ्रष्ट है-

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।। (265) प्र.सा.

Seeing an ascetic adding by the injuctions of the scripture, he, who, ridicules him through make and is unuliling to do these revrential cuties (unto, him), ruins him conduct.

आगे जो रत्नत्रय मार्ग में चलने वाला साधु है उस को जो दूषण लगता है उसके दोष को दिखलाते हैं-

(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चय से (सासणत्थं) जिनमार्ग में चलते हुए (समणं) साधु को (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभाव से (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिए विनयपूर्वक क्रियाओं में (णाणुमण्णादि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चय से (णट्ठचारितो) चारित्र से भ्रष्ट (हवदि) हो जाता है। जो कोई साधु दूसरे साधु को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग में चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्मा की भावना से विलक्षण द्वेष व कषाय से उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्यों में अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षा से मर्यादा के उल्लंघन करने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय में स्थित साधु को देखकर ईर्ष्याभाव से दोष ग्रहण करे तो वह प्रगटपने चारित्र भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भाव को छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल के पीछे

इस भाव को त्यागता है तो भी उसका दोष नहीं रहता है परन्तु यदि इसी ही भाव को दृढ़ करता हुआ तीव्र कषाय भाव से मर्यादा उल्लंघन कर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्रभ्रष्ट हो जाता है यहाँ यह भावार्थ है। बहुत शास्त्र ज्ञाताओं को थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओं के दोष नहीं ग्रहण करना चाहिए और न अल्पशास्त्री साधुओं को उचित है कि थोड़ा सा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओं का दोष ग्रहण करें। किन्तु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वयं शुद्ध स्वरूप की भावना करनी चाहिए क्योंकि रागद्वेष के पैदा होते हुए न बहुत शास्त्रज्ञाताओं को शास्त्र का फल होता है, न तपस्वियों को तप का फल होता है।

यहाँ शिष्य ने कहा है कि आपने अपवाद मार्ग के व्याख्यान के समय शुभोपयोग का वर्णन किया अब यहाँ फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहाँ पर सर्वत्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यान को करके फिर असमर्थ साधुओं को काल की अपेक्षा से कुछ भी ज्ञान, संयम व शौच का उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यान की मुख्यता है। यहाँ तो जैसे भेद नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेदनय से सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र रूप से दो प्रकार की होती है। इनमें भी और अभेद नय से एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है, तो ही भेदनय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्ररूप से तीन प्रकार मोक्षमार्ग है सो ही अभेदनय से एक श्रमणपना नाम का मोक्षमार्ग है, जिसका अभेदरूप से मुख्य कथन ''एयग्गदो समणो'' इत्यादि चौदह गाथाओं में पहले ही किया गया वहाँ मुख्यता से उसी का भेदरूप से शुभोपयोग के लक्षण को कहते हुए व्याख्यान किया गया, इसमें कोई पुनरुक्ति का दोष नहीं है।

समीक्षा-कुन्द कुन्द देव ने इस गाथा में स्पष्ट किया कि जो श्रमण को देखकर उसका यथायोग्य विनय नहीं करता है तो वह भ्रष्ट चारित्र है क्योंकि चारित्रधारी की अविनय से चारित्र का भी अविनय होता है और जो चारित्र का अविनय करता है वह चारित्र से भ्रष्ट होना स्वाभाविक है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्रस्वामी ने कहा भी है-

स्मयेन योऽन्यानत्यैति धर्मस्थान र्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।। (26) पृ. 65

उपर्युक्त मद से गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रय धर्म में स्थित अन्य जीवों को तिरस्कृत करता है वह अपने धर्म को तिरस्कृत करता है क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।

ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकार के मदों का वर्णन किया गया है, उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रयरूप धर्म में स्थित अन्य धर्मात्माओं का तिरस्कार करता है- अवज्ञा के द्वारा उनका उल्लंघन करता है वह जिनेन्द्रप्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्म का तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओं के बिन धर्म नहीं रहता है।

''**न धर्मो धार्मिकैर्विना** '' अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नहीं रहता है यह सिद्धान्त बहुत ही महत्वूपर्ण है क्योंकि यह सिद्धान्त है गुण-गुणी, धर्म-धर्मी प्रदेशत्व की अपेक्षा अभिन्न होने के कारण एक के अभाव से दूसरे का भी अभाव हो जाता है। इसलिए जो गुणी की अवमानना करता है वह गुण की भी अवमानना करते हैं जैसे अग्नि की उष्णता को मिटाने पर अग्नि ही मिट जाती है अथवा अग्नि को मिटाने पर उष्णता भी मिट जाती है। उसी प्रकार धर्मी की अवमानना से धर्म का अपमान होता है इसलिए तो आचार्य श्री ने कहा जो चारित्रधारी का अपमान करता है वह चारित्र भ्रष्ट है। दर्शन पाहुड़ में कुन्द कुन्द देव ने भी कहा है-

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिहीणो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।। (24)

जो स्वाभाविक नग्न रूप को देखकर उसे नहीं मानता है, उल्टा ईर्ष्याभाव रखता है वह संयम की प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है।

तिर्यंचगति में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	तिर्यंचगति
१.	गुणस्थान	१४	५ प्रथमादि पाँच गुणस्थान
			१ असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक प्रथम गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१४

३.	पर्याप्ति	६	४/५/६ पर्याप्तियाँ, ४/५/६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	४/६/७/८/९/१० पर्याप्त के ३/४/५/६/७/७ अपर्याप्त के
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	१ तिर्यंच
७.	इन्द्रिय	५	५
८.	काय	६	६ (५ स्थावर काय+१ त्रस काय)
९.	योग	१५	११ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+२औदा-औदा. मिश्रकाययोग+१ कार्मण काययोग)
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	२५
१२.	ज्ञान	८	६ (३ ज्ञान + ३ कुज्ञान)
१३.	संयम	७	२ (असंयम, देशसंयम)
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	६
१६.	भव्य	२	२ (भव्य, अभव्य)
१७.	सम्यक्त्व	६	६
१८.	संज्ञी	२	२ (संज्ञी, असंज्ञी)
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	९ (६ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (४ आर्त्तध्यान+४ रौद्रध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	५३ (२ वैक्रियक-वेक्रि.मिश्र+आहा-आहा मिश्रबिना)
२३.	जाति	८४ लाख	६२ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१३४ १/२ लाख कोटि

सभी चार्ट आ. प्रशान्तजी माताजी के ग्रन्थ से साभार उद्धृत)

देवगति में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	देवगति
१.	गुणस्थान	१४	४ प्रथमादि ४ गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	२ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त के, ७ अपर्याप्त के
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	१ देव
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	११ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+ २ वैकि. द्विक+१ कार्मण काययोग)
१०.	वेद	३	२ (स्त्री-पुरुष वेद)
११.	कषाय	२५	२४ (नपुंसक वेद बिना)
१२.	ज्ञान	८	६ (३ ज्ञान + ३ कुज्ञान)
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	३ (पीत, पद्म, शुक्ल)/६ (३ शुभ+३ अशुभ)
१६.	भव्य	२	२ (भव्य, अभव्य)
१७.	सम्यक्त्व	६	६
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	९ (६ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (४ आर्तध्यान+४ रौद्रध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	५२ (५ मिथ्यात्व+१२ अविरति+११ योग+२४ कषाय)
२३.	जाति	८४ लाख	४ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ ला.कोटि	२६लाख कोटि

नरकगति में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	नरकगति
१.	गुणस्थान	१४	४ (प्रथमादि ४ गुणस्थान)
२.	जीवसमास	१४	२ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त के, ७ अपर्याप्त के
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	१ देव
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	११ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+ २ वैकि. द्विक+१ कार्मण काययोग)
१०.	वेद	३	१ नपुंसक
११.	कषाय	२५	२३ (स्त्री-पुरुष वेद बिना)
१२.	ज्ञान	८	६ (३ ज्ञान + ३ कुज्ञान)
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	३ (कृष्ण, नील, कापोत)
१६.	भव्य	२	२ (भव्य, अभव्य)
१७.	सम्यक्त्व	६	६
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	९ (६ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (४ आर्तध्यान+४ रौद्रध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	५२ (५ मिथ्यात्व+१२ अविरति+२३ कषाय+११ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	४ लाख
२४.	कुल	११७ १/२ लाख कोटि	२५ लाख कोटि

भीड़तंत्र पर अदालत की लगाम

मोबोक्रेसी के दौर में सर्वोच्च न्यायालय के केन्द्र व राज्य सरकार को दिया गया 11 सूत्री दिशा-निर्देश अपने आप में महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसे भी महज संयोग ही माना जा सकता है कि जहाँ 17 जुलाई को विश्व न्याय दिवस मनाया जा रहा था उसी दिन देश की न्याय की सर्वोच्च अदालत ने महत्त्वपूर्ण निर्देश देते हुए साफ संदेश दिया कि देश में गोरक्षा या भीड़ तंत्र के नाम पर खुले खूनी खेल की इजाजत नहीं दी जा सकती।

आखिरकार मोबोक्रेसी के खिलाफ सरकार और भीड़ के माध्यम से खूनी खेल खेलने वालों को सख्त संदेश देने के लिए देश की सर्वोच्च अदालत को आगे आना ही पड़ा। वैसे भी सामान्य समझ की बात है कि कानून हाथ में लेने का अधिकार किसी को कैसे दिया जा सकता है? पिछले कुछ समय से जिस तरह से अफवाओं के चलते भीड़ तंत्र का खूनी खेल हो रहा है और मंगलवार को भी जब सर्वोच्च अदालत एक और मोबो लिंचिंग के खिलाफ केन्द्र व राज्य सरकारों को आदेश दे रही थी, उधर भीड़ द्वारा सामाजिक कार्यकर्ता स्वामी अग्निवेश को पीटने का सिलसिला चल रहा था, इससे साफ हो जाता है कि भीड़ तंत्र को यह अराजकता का सिलसिला बेखौफ जारी है। यह आदिम सभ्यता की याद दिलाने के लिए काफी है। कभी गौरक्षा के नाम पर तो कभी बच्चों के अफवाह के चलते राह चलते आदमी को घेर कर मौत के घाट उतार देना किसी तालीबानी कदम से कमतर नहीं मानी जा सकती। आखिर यह कौनसा तरीका है कि कुछ स्वार्थी लोग पहले अफवाहें फैलाते हैं और फिर राह चलते आम आदमी को घेर कर उस पर टूट पड़ते हैं। पहली चीज तो यह कि देश में कानून का राज है। हर गलत की सजा का प्रावधान है। कानून व्यवस्था के लिए पूरा प्रशासनिक अमला होने के बावजूद कानून को हाथ में लेकर दोषी या निर्दोषी का फैसला भीड़ को करने का हक दुनिया का कोई कानून या कोई व्यवस्था नहीं देती। देखा जाए तो कुछ लोग माहौल को गर्माने में माहिर होते हैं। फिर सोशियल मीडिया का दुरुपयोग जग जाहिर होता जा रहा है। स्थितियों को सुधारने के

लिए सरकार द्वारा कुछ समय के लिए इंटरनेट सेवा बंद कर देने पर हो हल्ला मचाने वाले यह भूल जाते हैं कि सोशियल मीडिया का दुरुपयोग कितना नुकसानदायक यहाँ तक कि कानून व्यवस्था बिगाड़ने के साथ ही किसी के जीवन से खेलने की अति स्थिति तक पहुँच जाता है। हालांकि इंटरनेट सेवाएँ कुछ समय के लिए बंद करना कोई समाधान नहीं माना जा सकता। होना तो यह चाहिए कि सरकार का प्रचार तंत्र खासतौर से अफवाहों पर रोक लगाने में प्रभावी होना जरूरी है। इस और देश की न्याय की सर्वोच्च अदालत ने भी साफ-साफ इशारा भी किया है। पिछले कुछ समय से देश में तालीबानी सोच का असर तेजी से बढ़ा है। देश का कोई हिस्सा या प्रदेश इससे अछूता नहीं है। भीड़ का खूनी खेल इंसान की मौत पर ही जाकर रूकता है। यह सही है कि कोई दोषी हो सकता है, तो उस दोषी को सजा के कानूनी प्रावधान है। प्रतिक्रियावादियों को दोषी को कानून के दायरें में सजा दिलाने में सहयोग करना चाहिए। हो ठीक उलट रहा है। प्रतिक्रियावादी लोग स्वयं ही कानून को हाथ में लेकर निर्दोष तक को मौत की नीन्द सुलाने में नहीं हिचक रहे हैं। मोब लिचिंग के माध्यम से मौत के आँकड़े बेहद चिन्ताजनक है। गोरक्षा के नाम पर 33 लोगों की मौत के घाट सुलाया जा चुका है। 2010 में अब तक हिंसक वारदातों में 86 लोगों को जीवन से हाथ धोना पड़ा है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान व केरल में गौरक्षा के नाम पर साम्प्रदायिक माहौल खराब करने के प्रयास जाहिर है। पिछले एक साल में ही भीड़ द्वारा हिंसा के खुले खेल के चलते 31 से ज्यादा लोगों की जान जा चुकी है। आखिर किसी की जान लेने का हक किसी को कैसे हो सकता है।

मोबोक्रेसी के दौर में सर्वोच्च न्यायालय के केन्द्र व राज्य सरकार को दिया गया 11 सूत्री दिशा-निर्देश अपने आप में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इससे भी महज संयोग ही माना जा सकता है कि जहाँ 17 जुलाई को विश्व न्याय दिवस मनाया जा रहा था उसी दिन देश की न्याय की सर्वोच्च अदालत ने महत्त्वपूर्ण निर्देश देते हुए साफ संदेश दिया कि देश में गोरक्षा या भीड़ तंत्र के नाम पर खुले खूनी खेल की इजाजत नहीं दी जा सकती। न्यायालय में प्रत्येक जिले में एसपी स्तर के अधिकारी को नोडल अफसर बनाते हुए ऐसे इलाकों की पहचान के निर्देश दिए हैं वहीं हिंसा पीड़ितों को उचित मुआवजा भी मौत या चोट के अनुसार देने के निर्देश दिए हैं। अब तो पीड़ित के

वकील का खर्चा भी सरकार को ही वहन करना होगा वहीं डीजीपी व होम सेक्रेट्री को मोनेटरिंग को कहा गया है। केन्द्र और राज्य को आपसी समन्वय के साथ ही हिंसा के खिलाफ प्रचार तंत्र को मजबूत करने को कहा गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने 20 अगस्त को अगली सुनवाई में कोर्ट के सामने आने को सरकार को निर्देश दिए हैं।

इसमें कोई दोराय नहीं कि देश की कानून व्यवस्था व न्यायिक प्रक्रिया पर आज भी किसी तरह का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। वह तो कुछ अतिवादियों के चलते देश में हिंसक गतिविधियों में तेजी आई है। इसमें भी कोई नहीं कि सरकार की राजनीतिक या अन्य किसी मजबूरी के चलते मोबी लिंचिंग की घटनाएँ कम होने की जगह तेजी से बढ़ी है। केवल एक साल में ही इस तरह की 31 से अधिक घटनाओं का होना आँखें खोलने के लिए काफी है। ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय का ताजा आदेश महत्वपूर्ण हो जाता है। वैसे भी देखा जाए तो कल्प्रिट जितना दोषी है कानून को हाथ में लेने वाले उससे कहीं अधिक दोषी हो जाते हैं। संवैधानिक लोकतांत्रिक व्यवस्था ही नहीं किसी भी समाज में किसी को भी कानून हाथ में लेने का हक नहीं दिया जा सकता। आखिर आदिम समाज में भी कोई व्यवस्था तो रही है। भीड़ के खूनी खेल या यों कहे कि भीड़ तंत्र को खुली छूट कहीं भी नहीं दी जा सकती। आशा की जानी चाहिए कि केन्द्र व राज्य सरकारों को सर्वोच्च न्यायालय के ताजा दिशा निर्देशों से भीड़ तंत्र पर अंकुश लगाने में कारगर कदम उठाने को बाध्य करेगी। हालांकि यह बाध्यकारी है पर सरकारों को ऐसी स्थितियाँ आने ही नहीं देनी चाहिए थी। अराजकता को सभ्य समाज में किसी भी स्तर पर नहीं स्वीकारा जा सकता।

- डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

भीड़तंत्र की चिंता

पिछले कुछ दिनों से देश के विभिन्न भागों में भीड़ द्वारा पीट-पीट कर लोगों को मार डालने की घटनाएँ होती जा रही है और यह सिलसिला अभी भी जारी है। इसी माह के पहले हफ्ते में केन्द्र सरकार ने ऐसी घटनाओं के मद्देनजर राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों को भीड़तंत्र की हिंसाओं पर लगाम लगाने के लिए दिशा-निर्देश जारी किए थे। इसके अलावा केन्द्र ने वाट्सऐप को भी नोटिस जारी किया था। क्योंकि ऐसा

माना जा रहा है कि ऐसी घटनाएँ अफवाहों की वजह से उकसावे में हो रही है और अफवाहें वाट्सऐप के जरिए फैलाई जाती है। वाट्सऐप ने तब भरोसा दिलाया था कि कुछ नए तकनीकी उपायों को लागू कर अफवाह वाली सूचनाओं पर अंकुश लगाया जाएगा। और अफवाह फैलाने वाले की पहचान को भी आसान बनाया जाएगा। ऐसी घटनाएँ आसाम से लेकर तमिलनाडु तक अनेक राज्यों में हुई है और इनमें पिछले एक साल में 28 लोग मारे जा चुके हैं। इस तरह का स्तब्ध कर देने वाला एक वाकया पिछले दिनों महाराष्ट्र के धुले जिले में हुआ जिसमें भीड़ ने बच्चा चुराने के के संदेह में पाँच लोंगों की ने पीट-पीटकर हत्या कर दी। हाल ही में कर्नाटकके बैंगलोर शहर में भी एक इंजीनियर को बच्चा चुराने के शक में भीड़ ने पीट-पीट कर मार डाला। ऐसी ही घटनाओं के मामले में दायर याचिकाओं पर सुप्रीम कोर्ट ने मंगलवार को कहा कि भीड़तंत्र को कानून के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। इसके लिए अदालत ने सीधे तौर पर केन्द्र और राज्यों को जवाबदेह बनाते हुए कहा कि घटनाओं पर अंकुश के लिए कोई कदम उठाए जाएं। अदालत ने ऐसी घटनाओं की रोकथाम उपचार और दण्डात्मक उपायों का प्रावधान करने के लिए अनेक निर्देश दिए हैं। इसके अलावा अदालत ने केन्द्र से ऐसी घटनाओं पर रोक के लिए सख्त कानून बनाने की सलाह दी है। अदालत ने स्पष्ट तौर पर कहा है कि कानून-व्यवस्था से जुड़ा तंत्र देश की लोकतांत्रिक व धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था को बचाए रखने के लिए ठीक तरीके से काम करें, यह सुनिश्चित करना सरकारों की जिम्मेदारी है। उसे मानना होगा कि भीड़ हत्या सामान्य घटना नहीं है और इसे सामान्य घटना बनने भी नहीं दिया जा सकता। इसे पहले ही समझ लिया जाता, तो आज इस प्रकार की घटनाओं का सिलसिला जारी नहीं रहता। भीड़ का कानून हाथ में लेना नई बात नहीं। कभी किसी को डायन बताकर तो कभी बच्चा चोरी के सन्देह में पीट-पीट कर मार डालने की घटनाएँ होती रही हैं। पिछले दिनों गो-रक्षा के नाम पर एक नई जमात पसरती दिखाई दी, जिससे सभ्य समाज की चिंताएँ बढ़ी। ये सोची समझी हत्याएँ थीं और ऐसे लोगों की मंशा को सरकारों ने समझा नहीं या समझने की कोशिश ही नहीं की गई। भीड़ हत्या एक सामाजिक बुराई है। भीड़ की हिंसा को हम उन्मादी कृत्य नहीं कह सकते हैं, मगर देखें कि इस तरह की हिंसा के शिकार कौन लोग हुए हैं तो हमें ज्यादातर

मामलों में सुनियोजित रूप से नफरत फैलाने का अभियान नजर आएगा। दुर्भाग्य है कि हमारे राजनीतिक नेता कभी भी भीड़ की हिंसा के खिलाफ डटकर खड़े नहीं होते हैं, उन्हें भीड़ में ही जनमत नजर आता है, भले वह उन्मादी भीड़ ही क्यों न हो। नतीजा यह है कि राजनीतिक हिंसा की घटनाओं को लेकर बच्चा चोरी के शक में होने वाली घटनाओं तक उन्माद का दायरा फैलता जा रहा है। ऐसी घटनाओं को लेकर पुराना कानून कारगर साबित नहीं मानकर ही सुप्रीम कोर्ट ने नए कानून की जरूरत समझी है। यह भी गौरतलब है कि सिर्फ नया कानून ही पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि राजनीतिक हस्तक्षेप मुक्त दृढ़ इच्छाशक्ति की भी जरूरत होगी। ढाँचागत दोष भी दूर करने होंगे। कानूनी प्रक्रिया को भी गति देनी होगी। **(दै.नवज्योति)**

कुत्सित धर्म से दुर्गति व पवित्र धर्म से मुक्ति

- आचार्य कनकनन्दी

(चालः-1. आत्मशक्ति.... 2. क्या मिलिए....)

कुत्सित धर्म निकृष्ट है धर्मात्मा (सम्यक्त्वी) नहीं सेवते,
आत्मश्रद्धान-ज्ञान बिन मिथ्यात्वी (अधर्मी) जन सेवते।
आत्म श्रद्धान-ज्ञान-चर्या युक्त धर्मात्मा जीव होते,
समता-शन्ति-शुचि सह धार्मिक कार्य करते।। (1)

सम्यक्त्वी तो दान-पूजा (आदि) आत्म शुद्धि हेतु करते,
साधु बनकर मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य सदा धरते।
मोक्ष अतिरिक्त वे न ख्याति पूजा लाभ चाहते,
भले सातिशय पुण्य से सहज से ये मिलते।। (2)

इससे विपरीत मिथ्यात्वी सांसारिक सुख चाहते,
ख्याति पूजा लाभ हेतु ही दान पूजादि करते।
साधु के वेश भी यदि वे धारण भी करते,
मोक्ष से विपरीत वे भी ख्याति पूजा लाभ चाहते।। (3)

सुभाव बिन जो कुपात्रादि में दानादि देते,
इसके फल से व पापानुबंधी पुण्य बान्धते।

जिससे वे कुभोग भूमि या नीच देव में जन्मते।
तिर्यञ्च-नरकगति में पुनः वे दुःखों को भोगते।। (4)

निदान बन्ध से साधु तक भी मिथ्यात्वी हो जाते,
जिससे संसार में वे परिभ्रमण करते,
अतएव निदान तो सब से निकृष्टतम ध्यान,
इह परलोक दुःखदायी यह आर्त्त ध्यान।। (5)

ताजा प्रासुक मधुर अंगुर तो स्वास्थ्यप्रद होता,
किन्तु अंगुर से बना मद्य अहितकर होता।
तथाहि पवित्र भाव का धर्म अंगुर सम होता,
अपवित्र भाव का धर्म तो मद्य सम होता। (6)

कुधर्म के फल से जो पापानुबंधी पुण्य बान्धते,
उसके फल से जीव राजा के श्वान सेवकादि बनते।
व्यन्तर देव या वाहन जाति के नीच देव बनते,
मरकर पुनः तिर्यञ्च व नरक गति में जाते।। (7)

ढोंग-पाखण्ड-दिखावा प्रसिद्धि का जो धर्म करते,
ईर्ष्या द्वेष घृणा तृष्णा से जो धर्म है करते।
वर्चस्व-प्रसिद्धि व भोगोपभोग हेतु जो धर्म करते,
आत्म विशुद्धि बिन वे उपरोक्त फल भोगते।। (8)

धर्म न व्यापार राजनीति या प्रदर्शन-वर्चस्व,
धर्म तो शुद्धात्मा स्वरूप जो अनन्त सुख दायक।
अतएव धर्म करणीय सत्य-समता व शुचि सहित,
'कनकनंदी' काव्य रचा आगम-अनुभव सहित।। (9)

सागवाड़ा दि. 15-07-2018 रात्रि 9.24

सदंर्भ-

अर्थः-जो मुनि इन्द्रियों के विषय वासनाओं से विरक्त है वह इस द्रव्यकर्म और भाव कर्म से छूट जाता है और संसार से मुक्त होकर परमात्मा बनता है। तथा

जो मुनि विषयासक्त है वह इन कर्मों से कभी नहीं छूट सकता है। इसलिए हे मुनि! बहुत कहने से क्या लाभ है। जो आत्मा है वह-बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इसका प्रथम स्वरूप जान लेना चाहिए। (रयणसार)

बहिरात्मा का लक्षण

णिय अप्प णाण ज्झाण ज्झयण सुहामियरसायणपाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा।।132।।

अर्थ :- जो मुनि अपने निज आत्मा को ज्ञान ध्यान अध्ययन से उत्पन्न होने वाला सुखामृत का पान करता है। वह सुखरूप अमृत केवल अपने आत्मा से उत्पन्न होता है। आत्मा से उत्पन्न होने वाला वह सुखामृत एक अपूर्व रसायन के समान है। इस आत्मजन्य सुखामृत रूपी रसायन को पीने वाला या अनुभव करने वाला परमात्मरूप कहलाता है। तथा इससे विपरीत कर्मबंधयुक्त संसार को बढ़ाने वाला जो इन्द्रियजन्य सुखों का अनुभव करता है, इन्द्रिय वासनाओं के भोगों में लीन रहता है वह दुःख का अनुभव करता है उसे बहिरात्मा समझना चाहिये। बहिरात्मा ही है।

इन्द्रिय विषय किंपाक फलवत्

किंपाय फलं पक्कं विसमिस्सिदं मोदमिव चारु सुहं।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्ख सोक्खं पि।।133।।

अर्थ :- किंपाक फल एक विष फल है-जो कि देखने में अत्यंत सुंदर दिखता है, खाने में अत्यंत मधुर-स्वादिष्ट होता है, पकने पर वह बहुत ही मीठा और अच्छा हो जाता है, परन्तु वह विषफल है; उसको खाते ही मनुष्य मर जाता है। जिस प्रकार किंपाक फल खाने में, देखने में, मधुरता आदि में सर्वसुंदर लगता है उसी प्रकार इन्द्रियों का सुख क्षणभर के लिए सुख सा प्रतीत होता है, उस समय अच्छा सा जान पड़ता है, परन्तु यह किंपाक फल के समान ही है। इन्द्रियों के भोगने से जीव अनेक प्रकार के दुःखों का भागी होता है। आयु घटती है, शक्ति क्षीण हो जाती है। अनेक राग भी उत्पन्न होते हैं और जीवितपने में भी मरने के समान जीवन को दुःख में बिताता है और मर जाता है। तथा संसार में दुर्गति में दीर्घकाल तक भ्रमण करता है।

बहिरात्मा की सामग्री

देह कलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहाव चेदणासरूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।।134।।

अर्थ :- जो जीव अपने आत्मा के निज स्वरूप को छोड़कर स्त्री पुत्र मित्र आदि बाह्य वैभाविक वस्तु को अपना आत्मरूप मानता है। तथा बाह्य वस्तुओं में राग द्वेष मोह आदि को अपना ही मानकर चलता है। वे वैभाविक परिणाम आत्म के नहीं है, आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। आत्मा और शरीरादि अत्यंत हर प्रकार से भिन्न ही भिन्न हैं।

क्योंकि आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव लक्षण रूप है और शरीरादि पुद्गल जड़ द्रव्य से बने हैं। ऐसे पर रूपादि द्रव्य वस्तु को आत्मस्वरूप मानने वाला जीव अवश्य ही बहिरात्मा है।

आत्मा के वैभाविक परिणामों से पुद्गल कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण होकर जीव के साथ में कर्मरूप होकर बैठे हैं, उन्हीं को जीव अज्ञान-मिथ्याभाव से अपना स्वरूप मानकर बाह्य में रमण कर रहा है यह सर्वथा असत्य है। इसे ज्ञानी जीव कभी नहीं मानेगा। अपना नहीं समझेगा।

बहिरात्मा के भाव

इंदिय विसय सुहाइसु मूढमई रमण ण लहइ तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।।135।।

अर्थ :- अज्ञानी मोही जीव पंचेन्द्रिय विषय वासनाओं में आसक्त रहता है। विषयों में आसक्ति के कारण जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करता है। अर्थात् आत्म तत्त्व-जीवादि तत्त्वों में अनभिज्ञ है। उसे रुचिकर नहीं लगता है तो इस जीव को कैसा सुख प्राप्त होगा? इसे दुःख ही भोगना पड़ेगा। इसका विचार भी नहीं आता है वह बहिरात्मा है।

दुःख का कारण इन्द्रिय जनित सुख

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।।136।।

अर्थ :- जो जीव-संसार में रहते हुए संयम को पालन करते हैं, देव शास्त्र गुरु, धर्म पर श्रद्धान करते हैं दान पूजा धर्म की सेवा करते हैं, इद्रियों के व्यसनाधीन नहीं होते हैं, पाप से डरते हैं, कोई भी पाप कार्य करते नहीं हैं, व्रत नियम का पालन करते हैं, व्रतों में अतिचार लगाने नहीं देते है, प्रायश्चित भी लेते हैं, ऐसे ऐसे भव्य पुण्यात्मा जीव जीवन सुख से शुद्ध बनाकर चलते हैं वे सुगति को प्राप्त होते है।। वे धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। वे मोक्षमार्गस्थ बन जाते हैं।

परन्तु जो जो जीव इंद्रिय जनित वासनाओं को शांत करने के लिए और उसी को सुख मानकर उसी में आसक्त होते हैं, उनको अन्य सत् शुद्ध मार्ग अच्छा नहीं लगता है, वे अपने उत्तम मनुष्य पर्याय, धर्म, कुल जाति जीवन को बरबाद कर लेते हैं। जो इंन्द्रिय वासनाओं में फँसा है, वे कौन सा पाप नहीं करते है? सब कुछ पाप कार्य करने लगते हैं, एक भी व्यसन सब पापों का द्वार बन जाता है। ऐसे जीव की मति भ्रष्ट होती है, स्वयं के जीवन को तो नष्ट कर दिया है, परन्तु कुल को, कुटुंबी जनों को धर्म व समाज को भी कलंकित करता है और दुर्गति में प्रवेश कर असंख्य तीव्र दुःखों को भोगता है। फिर दुर्गति से, दुःखों से छुटकारा पाना महादुर्लभ होता है- ऐसे जीव पापी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बहिरात्मा कहलाते हैं।

जहाँ सामान्य रूप से जीव को व्यसनादि रहित, इन्द्रिय वासनाओं से रहित विवेक पूर्वक अमूल्य जीवन को जानते नहीं, तो अपनी आत्मा को भी जान नहीं पाते हैं-इसलिए वे जीव बहिरात्मा ही हैं।

बहिरात्म जीवों का विषय

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पणाणं हवेइ तत्थेव रुई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय विसएसु होइ मई।।137।।

अर्थ :- जिस प्रकार जो जीव विष्ठा में जन्म लेता है, अर्थात् उत्पन्न होता है वह विष्ठा में ही रहने में आनंद मानता है, उसी स्थान में उसी योनि में प्रेम करने लगता है। यदि उसे विष्टा से बाहर निकालते हैं, तो वह कीड़ा विष्ठा में ही प्रवेश करता है, उसी में छुप जाता है।

उसी प्रकार आत्म स्वभाव से परांगमुख जीव पंचेन्द्रिय विषयों में और सप्त

व्यसनों में आनंद मानता है और अपने अमूल्य जीवन को बरबाद कर देता है और दुर्गति में पहुँचता है आचार्य ने ऐसे जीवों को बहिरात्मा कहा है।

अन्तरात्मा का लक्षण

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइ भिण्ण भावमई।
भुंजइ णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो।।138।।

अर्थ :- जो आत्मा अपने आत्मा को शारीरिक से सर्वथा भिन्न मानता हैं तथा जो विषयों का अनुभव कभी स्वप्न में भी नहीं करता है। जो सदा अपने आत्मा का अनुभव करता रहता है अर्थात् आत्म सुख में लीन रहता है, उसे अंतर आत्मा अर्थात् मध्यम आत्मा कहते हैं।

अनादिकालीन दुर्वासना

मलमुत्त घडव्व चिरंवासियं दुव्वासणं ण मुंचेइ।
पक्खालिय सम्मत्तजलो य णाणमएण पुण्णेवि।।139।।

अर्थ :- जिस मिट्टी के घड़े में बहुत काल से विष्टा मूत्र भरा रहता है, उस घड़े को यदि बहुत से स्वच्छ जल से भी धोया जाय तो भी वह घड़ा अपनी दुर्गन्धता को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से इन्द्रिय जन्य वासनाओं का सेवन करता चला आ रहा है। इस जीव को भाग्यवश सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो जाता है, उसके बल से यद्यपि वह उन इन्द्रिय विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सम्यक् भाव से, सम्यक् क्रिया से आचरण करता है, विवेकपूर्ण प्रयास करता है तो भी विषयों की वासना उदय में आती है।

दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने से आत्मा में सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तो भी जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय बना रहता है तब तक विषयवासना का सर्वथा नाश नहीं होता है। अनादि काल से लगी हुई वासना बनी रहती है। वह वासना चारित्र मोहनीय कर्म के नाश होने पर नष्ट होती है।

चारित्र मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश होने के लिए कठोर शुद्ध चारित्र का ही पुरुषार्थ आवश्यक है।

सम्यग्दृष्टि की भोग में अनासक्ति

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहंपि अणुहवइ।
केणा वि ण परिहारइ वाहिविणास णट्ठं भेसजं।।140।।

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रिय सुखों को अनिच्छा से सेवन करता है, व्याधि से पीड़ित मनुष्य रोग से और दवाई खाने की इच्छा नहीं होने पर भी व्याधि दूर होने के लिए औषधि का सेवन करता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष विषयों को जहर मानता है। लेकिन अनादि वासनारूपी व्याधि को दूर करने के हेतु अत्यंत कष्ट से कामेच्छारूपी औषधि का सेवन करता है, अन्य प्रयोजन नहीं है। रोगी पुरुष रोग से पीड़ित है और औषधि को जबरदस्ती से खाता है। कर्म का उदय समझता है, चारित्र मोहनीय कर्म सताता है, उसे शांत करने के लिए अनिच्छा पूर्वक सेवन करता है। इस व्याधि को त्याग भी किया नहीं जा सकता। चारित्र मोहनीय कर्म का मंदोदय होने पर विषय का अवश्य अपने आप त्याग होता है।

परमात्मावस्था प्राप्ति का उपाय

किं बहुणा हो तजि बहिरप्प सरूवाणि सयल भावाणि।
भजि मज्झम परमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि।।141।।

अर्थ :- हे भव्य जीव! बहुत कहने से क्या लाभ है। थोड़े में ही समझ लेना चाहिये कि बहिरात्मा को त्याग कर देना सबसे श्रेष्ठ है और मध्यम आत्मा तथा परमात्मा के यथार्थ स्वभाव को धारण करना श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ है यही करना उचित है। आत्म कल्याण के अलावा दूसरा कोई अन्यमार्ग ही नहीं है।

दुःख का कारण बहिरात्म भाव

चदुगदि संसारगमण कारणभूदाणि दुक्ख हेदूणि।
ताणि हवे बहिरप्पा, वत्थु सरूवाणि भावाणि।।142।।

अर्थ :- बहिरात्मा जीव अपने आत्मा के स्वरूप से सदा परांगमुख रहता है। इस अज्ञानी बहिरात्मा जीव के जो भी भाव होते हैं, वे सब संसार चतुर्गति में भ्रमण के ही कारण होते हैं। जो कुछ स्वयं करते हुए भी दूसरों को और पुद्गल जड़ पदार्थों पर अपवाद डालता है, अपराधी बनाता है, यह कितनी बड़ी गलती इस जीव की है,

अज्ञानता है, भ्रमिष्ठ है, इसे समझकर मिथ्या भावों को छोड़कर, अज्ञानपने का त्याग कर, इसी पर्याय में इसी भव में भावों को सम्यक् बनाकर अपना मार्ग मोक्षमार्ग में लगा ले, कल्याण कर ले, यही अवसर महा दुर्लभ अवसर है, स्वर्ण अवसर है। यही जिनेन्द्र भगवान् का कहना है।

अन्तरात्मा-परमात्मा के भाव मुक्ति के कारण

मोक्खगइ गमण कारण भूयाणि पसत्थ पुण्णहेऊणि।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि।।143।।

अर्थ :- प्रशस्त पुण्य ही मोक्ष मार्ग में गमन का कारण है। यह सम्यग्दृष्टि जीव को ही प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्म शुद्धि के लिए वीतरागरूप धर्म की आराधना करते हैं। ऐसा प्रशस्त पुण्यानुबंधी पुण्य तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि मोक्षमार्गी जीवों को प्राप्त होता है। प्रशस्त पुण्य का सु-फल-सुख को निर्बाध रूप भोगते हैं और वैराग्य भाव से ही अंतर आत्मा, परमात्मा स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव को यह प्रशस्त पुण्य प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव को जो पुण्य होता है अप्रशस्त है, कारण मोक्ष नाम से मिथ्या भावों की आराधना करते हैं, वीतराग रूप अंतर भाव का अभाव है। इस कारण जो कुछ पुण्य प्राप्त होता है वह राग-द्वेष मोह के साथ अनुभवता है, वैसा वह मिथ्या पुण्य कषायों के कारण घट जाता है और दुर्गति को प्राप्त होता है। यह मिथ्यादृष्टि मनुष्य सम्यग्दृष्टि के समान ही धर्मानुष्ठान करता है परन्तु उसके भाव प्रशस्त-वीतराग भाव नहीं होते है, इस कारण संसार भ्रमण के लिए कारण बनता है।

मिथ्यादृष्टि का पुण्य-पापानुबंधी पुण्य होता है। उस पापानुबंधी पुण्य का उदय कम होने पर, घट बढ़ जाने पर देवगति का जीव एकेन्द्रिय में जन्म लेता है और कुत्ते के जीव स्वर्ग में भी जाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि का पुण्य हेय है और सम्यग्दृष्टि का पुण्य उपादेय है।

स्व समय का पर समय का ज्ञाता

दव्वगुण पज्यायेहि जाणइ परसमय ससमयादि विभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होई।।144।।

अर्थ :- आत्मा के दो भेद हैं-एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो भव्य अपने शुद्ध स्वभावों में स्थिर रहता है उसको स्वसमय कहते हैं और जो अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रहता है उसको परसमय कहते हैं। जो आत्मा इन दोनों प्रकार के स्वरूप को जानता है तथा इनके द्रव्यरूप असंख्यात प्रदेशों को जानता है अथवा इनको द्रव्य रूप से जानता है और इनके समस्त गुणों को जानता है, स्वभाव-विभाव गुणों को भी जानता है। वह परम आत्मा मोक्ष तक जाने वाले स्वच्छ, सम्यक् मार्ग का नायक है, पथिक है, प्रधान है ऐसा समझना।

एवं विहीणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्ध भत्तीए।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं।।529।।

अर्थ :- इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक तथा मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक पात्रों को दान देना चाहिए तथा कुत्सित पात्र वा कुपात्र और अपात्र इन दोनों को कभी दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि इन दोनों को दान देना निःसार है।

कुस्सित पात्रों

जं रयणत्तय रहियं मिच्छमय कहियधम्म अणुलग्गं।
जइ बिहु तवइ सुघोरं तहावितं कुच्छियं पत्तं।।530।। भावसं.

अर्थ :- जो पुरुष रत्नत्रय से रहित है और मिथ्या मत में कहे हुए धर्म में लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना घोर तपश्चरण करे तथापि वह कुत्सित पात्र वा कुपात्र ही कहलाता है।

अपात्र

जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वर गुणो कोई।
ते जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स।।531।।

अर्थ :- जो न तो तपश्चरण करता है न किसी प्रकार का चारित पालन करता है और न उसमें कोई अन्य श्रेष्ठ गुण है ऐसा पुरुष अपात्र कहलाता है ऐसे अपात्र को दान सर्वथा व्यर्थ है। उसका कोई फल नहीं होता है।

ऊसर खित्ते वीयं सुक्खे रुक्खे ण णीर अहिसेओ।
जह तह दाणमपत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई।532।।

अर्थ :- जिस प्रकार ऊसर पृथ्वी पर बोया हुआ बीज व्यर्थ जाता है और सूखे हुए वृक्ष में पानी देना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान सर्वथा व्यर्थ जाता है।

कुपात्रों को दिये हुए दान का फल

कुच्छिय पत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु
कुच्छिय भोयधरासु य लवणंवुहि कालउवहीसु।।533।।

अर्थ :- कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का कुत्सित ही फल मिलता है और वह उस कुपात्र दान के फल से कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है खोटे तिर्यंचो में उत्पन्न होता है और लवणोदधि तथा कालोदधि समुद्र में होने वाली कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है।

कुभोगभूमियों को और उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य

लवणे अडयालीसा काल समुद्दे य तित्तियाचेव।
अंतरदीवा भणिया कुभोग भूमीय विक्खाया।।534।।

अर्थ :- लवणोदधि समुद्र में अड़तालीस अंतर्द्वीप हैं और कोलोदधि समुद्र में अड़तालीस अंतर्द्वीप हैं। इस प्रकार छियानबे अंतर्द्वीपों में कुभोग भूमियाँ है।

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थभूमीसु।
जुवलेण गेहरहिया णाग्गा तरुमूलिणिवसंति।।534।।

अर्थ :- जो मनुष्य कुपात्रों को दान देता है वह मनुष्य इन कुभोग भूमियों में मनुष्य होकर उत्पन्न होता है। वहाँ पर सब मनुष्य युगलियाँ (स्त्री पुरुष दोनों साथ साथ) उत्पन्न होते हैं उनके रहने के लिए घर नहीं होते वृक्षों के नीचे रहा करते हैं और नग्न रहते हैं।

पल्लोवम आउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं।
तरुपल्लव पुप्फरसं फलाण चेव भक्खंति।।536।।

अर्थ :- इन मनुष्यों की आयु एक पल्य की होती है तथा ये लोक सदाकाल वस्त्राभरण से रहित होते हैं और वृक्षों के पत्ते, फूलों का रस और फलों का रस भक्षण करते रहते हैं।

दीवे कहिं पि मणु या सक्करा गुड खंड सण्णिहा भूमी।
भक्खंति पुट्ठि जणया आइसरसा पुव्व कम्मेण।।537।।

अर्थ :- किसी किसी द्वीप की भूमि गुड़ शक्कर और खांड के समान मीठी होती है, पौष्टिक होती है और अत्यन्त सरस होती है। इसलिये उन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने पूर्व कर्म के उदय से उसी भूमि की मिट्टी को खाकर रहते हैं।

केई गय सीह मुहा केई हरि महिस कवि कोल मुहा।
केई आदरिस मुहा केई पुण एय पाया य।।538।।

अर्थ :- उन द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों में कितने ही मनुष्यों के मुख हाथी के मुख के समान होते हैं कितने मनुष्यों के मुख सिंह के समान होते हैं कितने ही भैंसा के समान मुखवाले होते हैं कितने ही सुअर के मुखवाले होते हैं और कितने ही मनुष्य बंदर के से मुखवाले होते हैं कितने ही मनुष्य दर्पण के समान मुखवाले होते हैं इसके सिवाय कितने ही मनुष्य एक पैर वाले होते हैं। तथा

ससससकुलि कण्णाविय कण्णद्यावरण दीह कण्णा य।
लांगुलधरा अवरे अवरे मणुया अभासा य।।539।।

अर्थ :- उन मनुष्यों में से कितने ही मनुष्य खरगोश के से कान वाले होते हैं कितने ही पूरी के से कान वाले होते हैं, कितने ही मनुष्यों के चौड़े कान होते हैं कितने ही मनुष्यों के लम्बे कान होते हैं। इनके सिवाय कितने ही मनुष्यों की पूँछ होती है और कितने मनुष्य किसी भी प्रकार की भाषा नहीं बोलते।

ए ए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोय भूमीसु।
मणुसुतर वाहिरेसु अ असंख दीवेसु ते होंति।।

अर्थ : इन सब कुभोग भूमियों में मनुष्य ही होते हैं तथा इनके सिवाय मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात द्वीपों में होने वाली कुभोग भूमियों में तिर्यंच ही होते हैं।

सव्वे मंद कसाया सव्वे णिस्सेस बाहि परिहीणा।
मरिऊण बिंतरा विहु जोइसु भवणेसु जायंति।।

अर्थ : ये सब मनुष्य और तिर्यंच मंद कषायी होते हैं और सब सम्पूर्ण व्याधियों से रहित होते हैं। वे सब मरकर कितने व्यंतर देवों में उत्पन्न होते हैं, और

कितने ही ज्योतिषी और भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे।
काऊण तत्थ पावं पुणोवि णिरयापहा होंति।।

अर्थ : कुपात्र दान देने वाले मनुष्य जो मरकर कुभोग भूमि में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से आकर भवनवासी व्यंतर ज्योतिषयों में उत्पन्न होते हैं वहाँ की भी आयु पूर्णकर वे फिर मनुष्य वा तिर्यंच होते हैं और वहाँ भी अनेक प्रकार के पापकर नरक में जाकर पड़ते हैं।

चंडालभिल्ल छिंपिय डोंव य कल्लाल एव माईणि।
दीसंति रिद्धि पत्ता कुच्छि पत्तस्स दाणेण।।

अर्थ : वर्तमान में जो चांडाल भील छीपी डोम कलाल आदि निम्न श्रेणी के लोग धन और विभूति आदि से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, वे सब कुत्सित पात्रों को दान से ही धनी होते हैं।

भावार्थ : निम्न श्रेणी के लोगों में धन विभूति का होना कुपात्र दान का ही फल है।

केई पुण गय तुरया गेहेरायाण उण्णई पत्ता।
दिस्संति मच्च लोए कुच्छिय पत्तस्स दाणेण।।

***अर्थ** : इस मनुष्य लोग में राजाओं के घर जो कितने ही हाथी घोड़े आदि उन्नति को प्राप्त कर दिखाई देते हैं बहुत सुखी दिखाई देते हैं वह सब कुपात्र दान देने का फल समझना चाहिये।*

केई पुण दिव लोए उववण्णा वाहणतणेण ते मणुया।
सोसंति जाइ दुक्खं पिच्छिय रिद्धि सुदेवाणं।।

***अर्थ** : कुपात्रों को दान देने वालों में से कितने ही मनुष्य स्वर्गलोक में भी उत्पन्न होते हैं परन्तु वहाँ पर वे वाहन रूप से उत्पन्न होते हैं अन्य बड़े देवों के वाहन बनकर रहते हैं। इसलिये वे बड़े देवों की ऋद्धियों को देखकर अपनी वाहन रूप जाति के दुःख का शोक करते रहते हैं।*

णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा कया विसविणम्मि।

परिहरह सया दूरं वुहियाण वि सविस सप्पं वि।।546।।

***अर्थ** : कुपात्रों को दान देने से अनेक प्रकार के दोष होते हैं उन सबको समझकर स्वप्न में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिए तथा कभी किसी अवस्था में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिये। विषधर सर्प के समान कुपात्रों का त्याग तो दूर से ही कर देना चाहिये।*

पत्थर मया वि दोणी पत्थर मप्पाणयं च वोलेई।
जह तह कुच्छिय पत्तं संसारे चेव वोलेई।।547।।

***अर्थ** : जिस प्रकार पत्थर की बनी हुई और पत्थरों से भरी हुई नाव उन पत्थरों को भी डूबो देती है और स्वयं भी डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी संसार समुद्र में डूब जाता है और दूसरों को भी डूबा देता है।*

णावा तह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहि सलिलम्मि।
वो लेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे।।548।।

***अर्थ** : जिस प्रकार छिद्र सहित नाव समुद्र के तल में अपने आप डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी इस संसार रूपी भयानक महासमुद्र में अपने आप डूब जाता है।*

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तारिणी वाहे।
वुड्ढइ जह तह बुड्ढइ कुपत्त सम्माणओ पुरिसो।।549।।

***अर्थ** : जिस प्रकार किसी कुत्सित स्वामी के आश्रित रहने वाले सेवक पुरुष को उसकी सेवा का अच्छा फल नहीं मिला उसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दिया हुआ दान समझना चाहिये।*

भावार्थ *: कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल भी श्रेष्ठ फल कभी नहीं मिल सकता।*

णत्थि वय सील संजम झाणं तब नियम वंभचेरंच।
एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोय मज्झम्मि।।551।।

***अर्थ** : जो न तो व्रतों को पालन करते हैं न शीलों को पालन करते हैं जिनके न संयम है न ध्यान है न किसी प्रकार का तपश्चरण है न किसी नियम का पालन करते*

हैं और न ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ऐसे लोग भी इस लोक में अपने को पात्र कहते हैं।

मय कोह लोह गहिओ उड्डिय हत्थोय जायणा सीलो।
गिह वावारासत्तो जो सो पत्तो कहं हवइ।।552।।

अर्थ *: भला विचार करने की बात है जो झूठमूठ ही अपने बड़प्पन का अभिमान करता है जो क्रोधी है लोभी है हाथ उठाकर सर्वत्र माँगते-माँगते फिरते हैं और जो गृहस्थी के व्यापार में सदा लगे रहते हैं ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं हो सकते।*

हिंसाइदोसजुत्तो अत्तरउद्देहिं गमिय अहरत्तो।
कय विक्किय वदंतो इंदिय विसएसु लोहिल्लो।।553।।
उत्तम फलं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो।।
होउ पावेण गुरु वुड्डूइ पुण कुगइ उवहिम्मि।।554।।

अर्थ *: जो पुरुष हिंसा झूठ चोरी आदि पापों में लगा रहता है, रात दिन आर्तध्यान अथवा रौद्र ध्यान में लगा रहता है, संसार भर के सामानों को खरीदने और बेचने में लगा रहता है, और इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त लोलुपता धारण करता है, इसके सिवाय जो उत्तम पात्रों की सदा निन्दा करता रहता है और गुरुओं के स्थान में भी अपनी आत्मा को नियुक्त करता है अर्थात् अपने आप स्वयं गुरु बन बैठता है। इस प्रकार जो अपने ही पापों से अपने को गुरु मानता है वह मनुष्य नरक निगोद रूपी कुगतियों के समुद्र में अवश्य डूब जाता है।*

जो वोलइ अप्पाणं संसार महण्णवम्मि गुरुयम्मि।
सो अण्णं कह तारइ तस्सणुमग्गे जणे लग्गं।।555।।

अर्थ *: इस प्रकार अपने को गुरु मानने वाला पुरुष इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में अपने आत्मा को डूबा देता है। वह मिथ्या गुरु उस मिथ्या गुरु के पीछे लगे हुए मनुष्य को भला पार कैसे कर सकता है अर्थात् ऐसे गुरु के पीछे लगे हुए मनुष्य को भला पार कैसे कर सकता है अर्थात् ऐसे गुरु के पीछे जो मनुष्य लगता है वह भी उसके साथ-साथ अवश्य डूबता है।*

मनुष्यगति में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	मनुष्यगति
१.	गुणस्थान	१४	१४ गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	२ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त के, 7 अपर्याप्त के केवली जिन के ४/२/१
५.	संज्ञा	४	४ तथा क्षीणसंज्ञा
६.	गति	४	१ मनुष्य
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	१३ (४ मनोयोग +४ वचनयोग) + २ औदा. द्विक + २ आहा. द्विक+१ कार्मणकाययोग)
१०.	वेद	३	३ तथा अपगतवेद
११.	कषाय	२५	२५ तथा अकषाय
१२.	ज्ञान	८	८ (५ ज्ञान + ३ कुज्ञान)
१३.	संयम	७	७
१४.	दर्शन	४	४ (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल)
१५.	लेश्या	६	६ तथा अलेश्या
१६.	भव्य	२	२ (भव्य, अभव्य)
१७.	सम्यक्त्व	६	६
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी तथा संज्ञी-असंज्ञी रहित
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	१२ (८ ज्ञान + ४ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१६ (४ आर्त्तध्यान + ४ रौद्रध्यान + ४ धर्म + ४ शुक्ल)

२२.	आस्रव	५७	५५ (२ वैक्रि. द्विक बिना)
२३.	जाति	८४ लाख	१४ लाख
२४.	कुल	११७ १/२ लाख कोटि	१२ लाख कोटि

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के प्रभाव

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्व ग्रस्त चेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायंते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः।। (4) (सा.ध., पृ.5)

भावार्थ : प्रायः मनुष्य विचार चतुर चित्त वाले होते है फिर भी जिन मनुष्यों का हृदय अतत्त्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धान से व्याप्त है वे मनुष्यभव को प्राप्त करके भी हिताहित के विवेक से रहित होने से पशुओं के समान है और जो पर्याय की अपेक्षा पशु है, परन्तु जिनका हृदय तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व परिणामों से व्याप्त है अथवा जिनके हृदय में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावरूप सम्पदा मौजूद है।

प्रशम=रागादि दोषों में मनोवृत्ति का नहीं जाना अथवा कषायों की मन्दता होना प्रशम भाव है।

संवेग=संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होना अथवा शारीरिक रोगादि रूप व्याधि को, मानसिक चिंतारूप आधि को और आगन्तुक आकस्मिक दुःखों को उत्पन्न कराने वाले तथा इन्द्रजाल के समान अस्थिर संसार से भयभीत होने को संवेग कहते हैं।

अनुकम्पा=सम्पूर्ण जीवों पर चित्तदयार्द्रता को अनुकम्पा कहते है।

आस्तिक्य=देव-गुरु-व्रत और सात तत्त्वों में अस्तित्व बुद्धि/श्रद्धान को आस्तिक्य भाव कहते हैं। इस प्रकार की परिणति वाले प्राणी जाति से तिर्यञ्च होते हुए भी सम्यक्त्व के माहात्म्य से हेय उपादेय तत्त्व को जानने वाले होने से मनुष्यों के समान हैं।

सारांश=सम्यग्दृष्टि पशु होकर के भी श्रेष्ठ है, मिथ्यादृष्टि मनुष्य होकर भी

हीन पशु के समान हैं। विद्या और अविद्या का मूल कारण क्रम से सम्यक्त्व व मिथ्यात्व है। इस श्लोक में पशु शब्द सामान्य तिर्यञ्चवाची है। फिर पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तिर्यञ्चों में सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने की सामग्री

आसन्नभव्यता कर्म-हानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वामश्नुते।। (6)

भावार्थ :- आसन्न भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व और विशुद्ध आदि परिणामों का धारण करने वाला ये चार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरंग कारण है। तथा सच्चे गुरु का उपदेश, जातिस्मरण, जिन प्रतिमा का दर्शन और वेदनादि सम्यग्दर्शन में बाह्य कारण हैं।

आसन्नभव्यता=जिस जीव में रत्नत्रय प्रकट होने की शक्ति है उसको भव्य कहते हैं। थोड़े ही काल में मोक्षपद प्राप्त करने वाला है उसे आसन्न कहते है। आसन्न जो भव्य वह आसन्नभव्य कहलाता है। और आसन्न-भव्यपने को आसन्नभव्यता कहते हैं।

कर्महानि=सम्यग्दर्शन के घातक मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय, उपशम व क्षयोपशम होने को कर्महानि कहते है। द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव के निमित्त से कर्मों की शक्ति की अनुद्भूति को उपशम कहते हैं। वर्तमान, निषेको में सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय तथा देशघातिस्पर्द्धकों का उदय और आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सद्वस्था रूप उपशम ऐसी कर्मों की अवस्था को क्षयोपशम कहते है। कर्मों की आत्यन्तिक निर्वृत्ति को क्षय कहते हैं।

यद्यपि यहाँ पर ''कर्म'' शब्द सामान्य रूप से सम्पूर्ण कर्मों का वाचक है तथापि यहाँ पर सम्यक्त्व का प्रकरण होने से सम्यक्त्व घाती कर्मों को ही ग्रहण करना चाहिये।

संज्ञित्व-शिक्षा क्रियालापोपदेशग्राहित्वं संज्ञा संज्ञाऽस्यातीति संज्ञी संज्ञिनों भाव

संज्ञित्वं।

वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर शिक्षा, क्रिया, आलाप, उपदेशादि ग्रहण करने की शक्ति को संज्ञा कहते हैं। इस प्रकार संज्ञा जिसमें हो वह संज्ञी है और संज्ञी के भाव को संज्ञित्व कहते हैं।

जैसे कहा भी है-

मनोऽवष्टम्भतः शिक्षा क्रियालापदेशवित्।
येषां ते संज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः।।

शिक्षा-जिसके द्वारा हित का ग्रहण और अहित का त्याग किया जाय उसे शिक्षा कहते हैं।

क्रिया-बुद्धिपूर्वक हस्त पैर आदि चलाने को क्रिया कहते हैं।

आलाप-श्लोकादि के पढ़ने को आलाप कहते हैं।

उपदेश-वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा समझाये गर्य कर्त्तव्य कर्म को उपदेश कहते हैं।

मन के अवलम्बन से शिक्षा, आलाप और उपदेश के समझाने वाले ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। संज्ञा जिसमें हो वहीं संज्ञी कहलाता है-जैसे मनुष्य, बैल, तोता, हाथी आदि से सर्प, मनुष्य, देव, नारकी, मयूर आदि।

शुद्धिभाक् विशुद्धपरिणामः शुद्धि। परिणामों की विशुद्धि होना अर्थात् कषायों की मन्दता होने को विशुद्धि कहते हैं।

देशना-सम्यग्गुरुपदेशः देशना-समीचीन गुरु के उपदेश मिलने को देशना कहते हैं।

आदि शब्द से जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, वेदना देवर्द्धि दर्शन ग्रहण करना चाहिये। कार्योत्पत्ति में दो प्रकार के कारण होते हैं। उपादान कारण दूसरा निमित्त कारण। वस्तु में परिणमन करने की शक्ति को उपादान कारण कहते हैं और उपादान शक्ति के विकास में सहायक देनेवाले वा उसकी असमर्थता नाश कर शक्ति प्रदान करने वाले को निमित्त कहते हैं। वह निमित्त कारण दो प्रकार का है। अन्तरंग निमित्तकारण और बहिरंग निमित्तकारण। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उपादान कारण आत्मा स्वयं है। क्योंकि भव्यात्मा में ही दर्शन मोहादिका क्षयोपशमक्षयादि होता है।

परन्तु उसकी उत्पत्ति में सहकारी कारण अवश्य होना चाहिये, क्योंकि एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह सहकारी कारण (निमित्तकारण) दो प्रकार का है। आसन्न-भव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व, विशुद्धपरिणाम यह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अंतरंग कारण है। शास्त्रश्रवण आदि बहिरंग कारण है। इस प्रकार अंतरंग और बहिरंग कारण कलापों के मिलने पर भव्यजीव अनादिकालीन मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारणभूत पाँच लब्धियाँ कही है, उन पाँच लब्धियों का संकेत भी ग्रन्थकर्ता ने इस श्लोक में किया है। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि के भेद से लब्धियाँ पाँच प्रकार की हैं।

क्षयोपशम-अशुभ कर्मों के अनुभाग की हानि होना अथवा स्थावर पर्याय से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त पद प्राप्त होने को क्षयोपशमलब्धि कहते हैं।

विशुद्धिलब्धि-कषायों की मन्दता वा शुभ कर्मों के अनुभाग के वृद्धि को विशुद्धित्लब्धि कहते हैं।

देशनालब्धि-गुरुपदेश प्राप्त होने को देशनालब्धि कहते हैं।

प्रायोग्यलब्धि-आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को अंतः कोटाकोटी प्रमाण करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। ये चारों लब्धियाँ इस जीव को यद्यपि अनन्त बार हुई है, परन्तु जब तक इस जीव को सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है, क्योंकि करणलब्धि के बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा नियम है। करण नाम परिणामों का है। जब मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व के सम्मुख होता है उस समय उसके परिणाम अधःकरण, अपूर्व-करण व अनिवृत्ति करण रूप होते है।

अधःकरण-जिस करण में उपरितन तथा अधःस्तन समयवर्ती जीवों के परिणाम सृदश होते हों उसे अधःकरण कहते है। अपूर्णकरण-जिसमें उत्तरोत्तर अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते आवें अर्थात् भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा विसृदश ही हो और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम विसृदश भी हो और सृदश भी हो, उसको अपूर्वकरण कहते हैं। पहिले अधःकरण में गुणश्रेणि गुणसंक्रम, स्थितिकांडघात और अनुभाग कांडघात नहीं होता है। परन्तु इस कारण में समय-

समय में अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है-इसलिये गुणश्रेणि संक्रमण, स्थितिकांडघात और अनुभागकांड-घात होता है। इन चारों का स्वरूप विस्तार से लब्धिसार से जानना चाहिये।

अनिवृत्तिकरण-जिसमें भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सृदश ही हों, उसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

ये तीनों प्रकार के परिणाम उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होते जाते हैं। इसलिये इनमें भेद माना गया है। इन तीनों करणों के करने के बाद की सम्यक्त्व होता है। पहले नहीं। इसलिये क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि व प्रायोगिकलब्धि यह चार लब्धि भव्य और अभव्य के समान है। परन्तु करणलब्धि ''भव्य'' के ही होती है और उसके होने के बाद में सम्यक्त्व नियम रूप से होता ही है।

इस समय सम्यक्त्व की सम्पूर्ण सामग्रियों के होने पर भी सम्यग्गुरुपदेश की परम आवश्यकता है। क्योंकि गुरुपदेश (द्रव्यश्रुत) के बिना सम्यक्त्व नहीं हो सकता है। कोई शंका करे कि निसर्गज सम्यक्त्व में गुरुपदेश कार्यकारी नहीं है। निसर्गज सम्यग्दर्शन गुरुपदेश बिना हो सकता है, ऐसा कहना शास्त्रोक्त नहीं है। क्योंकि निर्सगज में भी परम्परा से गुरुपदेश कारण होता ही है। बिना जिनसूत्र सुने किसी भी जीव को सम्यक्त्व नहीं हो सकता। सो ही ''नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शन गुरोरकलेशकारित्वात् स्वभाविकमुच्यते न तु गुरुपदेश बिना प्रायेण जायते'', जिसमें गुरुओं को विशेष परिश्रम न करना पड़े थोड़े में ही शिष्य समझ जाय उसको निसर्गज सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यग्दर्शन सर्वथा गुरु के उपदेश बिना नहीं होता है।

चौदह गुणस्थानों का आन्तरिक एवं व्यवहारिक पक्ष

(14 गुणस्थानों का सार)

चालः आत्मशक्ति, सुनो सुनो...

(1) सत्य से विमुख मिथ्यादृष्टि (I गुणस्थान)

मिथ्यादृष्टि वह होता है, जो सत्य तथ्य न मानता है।
अज्ञान मोहवश असत्य को ही, सत्य स्वरूप मानता है।।
तीव्रतम क्रोध मान माया व, लोभ से युक्त होता है।

हिताहित विवेक रहित होकर, हिंसा झूठ कुशील सेवता है।।
चोरी व परिग्रह पाप करता, सप्त व्यसन भी सेवता है।
देवशास्त्र गुरु को नहीं मानता आत्मा परमात्मा न मानता है।।

(2) सत्य विश्वास सहित-सम्यग्दृष्टि (प्राथमिक धार्मिक) (IV गुणस्थान)

मिथ्यात्व से विपरीत सम्यकत्वी जो, सत्य-तथ्य को मानता है।
अज्ञान मोह के मन्द होने से, असत्य को न मानता है।।
मन्दतर क्रोध मान माया व लोभ से सहित होता है।
हिताहित विवेक सहित होता आत्मा-परमात्मा मानता है।।
प्रशम संवेग अनुकम्पा युक्त, आस्तिक्य गुण भी होता है।
निःशंकित निकांक्षित अमूढदृष्टि, निर्विचिकित्सा अंगयुक्त होता है।।
उपगूहन स्थितिकरण सहित, वात्सल्य प्रभावना युक्त है।
देवशास्त्रगुरु भक्ति सहित, अष्टमद से भी रहित है।।

(3-4) सम्यक्त्व से च्युत तथा मिश्रावस्था (II III गुणस्थान)

सम्यक्त्व से जब च्युत होता है, मिथ्यादृष्टि भी न बनता है।
सासादन गुणस्थानी होता है, मिश्र ने मिश्रस्थानी होता है।

(5) देश संयमी सद्गृहस्थाश्रमी (V गुणस्थान)

सम्यक्त्व के साथ-साथ ही, जो पंचाणुव्रत पालता है।
हिंसा झूठ चोरी कुशील व, परिग्रह को नियंत्रण करता है।
संकल्पी हिंसा न करता है, हित मित प्रिय ही बोलता है।
चोरी मिलावट धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार भी न करता है।।
ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालता है, स्वदार संतोषी होता है।
परस्त्री वेश्यादि न सेवता है, परिग्रह परिमाण करता है।।
न्याय से धनार्जन करता है, दया दान सेवा करता है।
स्वाध्याय प्रतिक्रमण समता से, आत्मा की शुद्धि करता है।।
ज्ञान वैराग्य संवेग सहित, सप्त व्यसनों से रिक्त होता।

बारह व्रतों के पालन सहित, ग्यारह प्रतिमा सहित होता।।

(6) सकलसंयमी साधु (VI गुणस्थान)

ज्ञान वैराग्य दृढ़ होने से, आत्म परिणाम शुद्ध होने से।
कषाय परिणाम मन्द होने से, महाव्रती साधु बनते तब से।
अहिंसा सत्य अचौर्य पालते, अब्रह्मचर्य परिग्रह त्यागते।
ईर्या भाषा एषणा समिति, आदान-निक्षेपण प्रतिष्ठा पालते।।
शुद्ध प्रासुक आहार ही लेते, भिक्षाचर्या में सन्तोषी रहते।
जीव रक्षा हेतु पैदल चलते, प्रासुक मार्ग में दिन में चलते।।
हित मित प्रिय ही बोलते, स्व-पर हितकारी वचन बोलते।
परिमार्जन कर स्व उपकरणों को, ग्रहण या नीचे रखते।
प्रासुक स्थान में शौच जाते, पिच्छी से परिमार्जन करते।
प्रमाद रहित चर्या करते, गृहस्थ योग्य कार्य न करते।।
ज्ञानोपकरण शास्त्र भी रखते, संयम उपकरण पिच्छी रखते।
शौच हेतु कमण्डल रखते, अन्य परिग्रह नहीं रखते।।
ध्यान अध्ययन में लीन रहते, समता शान्तिमय जीवन जीते।
आत्मा की विशुद्धि सतत करते, विश्व मैत्री का पाठ पढ़ाते।।
ख्याति पूजा से रहित होते, सत्ता सम्पत्ति नहीं चाहते।
अशुभ भाव नहीं करते, शुभ से शुद्ध भाव चाहते।।

(7) साधु की ध्यानावस्था-(VII गुणस्थान)

शुभ-भाव जब प्रबल होता, ध्यान में साधुलीन होता।
प्रमाद भाव नहीं रहता, सप्तम गुणस्थान तब होता।।
इसके दो भेद प्रमुख होते, स्वस्थान-पर स्थान होते।
परस्थान श्रेणी आरोहण होता, विशुद्ध भाव जब बढ़ता।।

(8 से 12) तीव्रतम आध्यात्मिक श्रेणी आरोहण (VIII से XII गुणस्थान)

क्षायिक सम्यक्त्वी जो साधु होते, कषाय भावों को क्षीण करते।

क्षपक श्रेणी वे आरोहण करते, घाती नाशकर केवली बनते।।
कषायों को जो उपशम करते, वे मुनि उपशम श्रेणी चढ़ते।
ग्यारहवाँ गुणस्थान में जाते, वहाँ से पुनः च्युत हो जाते।।

(13) अरिहंत सर्वज्ञ-अवस्था (XIII गुणस्थान)

शुक्ल ध्यान जब प्रबल होता, शुद्धतम भाव जगता।
घाती कर्म सर्व क्षय हो जाते, सर्वज्ञ अरिहंत साधु बनते।।
अनन्तज्ञान दर्शन सुखी बनते, अनन्तवीर्य सहित होते।
अष्टादश दोषों रहित होते, जगत् पूज्य गुरु बनते।।
दिव्यध्वनि से उपदेश देते, तिर्यञ्च मनुष्य देव सुनते।
सत्य समता का मार्ग बताते, विश्व शान्ति का पाठ पढ़ाते।।
सर्वोदय का हेतु बताते, ज्ञान-विज्ञान का पाठ पढ़ाते।।
हरभाषा में उपदेश देते, सात सौ अठारह भाषा बोलते।।
बहुत देशों में विहार करते, पापीओं का भी उद्धार करते।
राजा-रंकों में भेद न करते, सर्व जीवों में साम्य रखते।।
विहार क्षेत्रों में सुभीक्ष होता, वैरत्व कलह युद्ध न होता।
धर्मतीर्थ प्रवर्तन होता, पर्यावरण भी समृद्ध होता।।

(14) अयोग केवली-शैलेश अवस्था (XIV गुणस्थान)

अन्त में योग निरोध होता, उपदेश भी स्थगित होता।
अघाती कर्मों का विनाश होता, गुणस्थानातीत जीव हो जाता।।

(15) शुद्ध अवस्था (14 गुणस्थानों से परे)

समस्त कर्मों के मुक्त होने से, शुद्ध अवस्था की प्राप्ति होने से।
सिद्ध बुद्ध परमात्मा हो जाता, सच्चिदानन्द स्वरूप होता।।
संसार में पुनः जन्म न होता, संसार भ्रमण कभी न होता।
आत्मानंद में रमण होता, शाश्वतिक मोक्ष सुख भोगता।।
यह ही जीव का परम लक्ष्य, यह जीव का परम प्राप्य।

यह ही धर्म का परम फल, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य सकल।

परसाद-23-02-2013 रात्रि 10.35

गुणस्थान का सामान्य लक्षण

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयदिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।। (8) गो.जी.

अर्थः- दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी गुणस्थानवाला और परिणामों को गुणस्थान कहा है।

भावार्थः-जिस प्रकार किसी जीव के दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीव को मिथ्यादृष्टि और उस मिथ्यादर्शनरूप परिणाम को मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जायेगा। गुणस्थान यह अन्वर्थ संज्ञा है, क्योंकि विवक्षित कर्मों के उदयादि से होने वाले पाँच प्रकार के जीव के भाव गुणशब्द से अभिप्रेत हैं। उन्हीं स्थानों को गुणस्थान कहते हैं। यहाँ पर मुख्यतया मोहनीय कर्म के उदयआदिक से होने वाले भाव ही लिये हैं। मोहनीय के दो भेद हैं। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

विवक्षित पाँच भावों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है-कर्मों के उदय से होने वाले औदयिक, उपशम से होने वाले औपशमिक, क्षय से होने वाले क्षायिक, क्षयोपशम से होने वाले क्षायोपशमिक और जिनमें उदयादिक चारों ही प्रकार की कर्म की अपेक्षा न हो वे पारिणामिक भाव हैं। इन्हीं को गुण कहते है। तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में इन्हीं को जीव के स्वतत्त्व नाम से बताया है।

गुणस्थानों के 14 चौदह भेद

मिच्छो सासाण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।। (9)

अर्थः- 1.मिथ्यात्व, 2.सासन, 3.मिश्र, 4. अविरतसम्यग्दृष्टि, 5.देशविरत, 6. प्रमत्तविरत, 7. अप्रमत्तविरत, 8.अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मसाम्पराय।

इस सूत्र में चौथे गुणस्थान के साथ जो अविरत शब्द है वह अन्त्यदीपक है अतएव पहले के तीनों गुणस्थानों में भी अविरतपना समझना चाहिये। इसी प्रकार छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान के साथ जो विरत शब्द है वह आदि दीपक है। इसलिए यहाँ से लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।। (10)

अर्थः- 11.उपशान्त मोह, 12.क्षीणमोह, 13. सयोगकेवलिजिन, 14. अयोगकेवलीजिन ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं। और सिद्ध इन जीवसमासों-गुणस्थानों से रहित हैं।

भावार्थ-इस सूत्र में क्रमेण शब्द जो पड़ा है, उससे यह सूचित होता है कि जीव के सामान्यतया दो भेद है, एक संसारी दूसरा मुक्त। मुक्त अवस्था संसारपूर्वक ही हुआ करती है। संसारियों के गुणस्थाओं की अपेक्षा चौदह भेद हैं। इसके अनन्तर क्रम से गुणस्थानों से रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार क्रमेण शब्द के द्वारा एक ही जीव की क्रम से होने वाली दो-संसार और सिद्ध-मुक्त अवस्थाओं के कथन से यह भी सूचित हो जाता है कि जो कोई ईश्वर को अनादि से मुक्त बताते हैं, अथवा आत्मा को सदा कर्म रहित या मुक्तस्वरूप मानते हैं या मोक्ष में जीव का निरन्वय विनाश कहते हैं सो ठीक नहीं है।

इस गाथा में सयोग शब्द अन्त्यदीपक है, इसलिए पूर्व के मिथ्यादृष्टियादि सब ही गुणस्थानवर्ती जीव योग सहित होते हैं। जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं। केवली शब्द आदि दीपक है अतएव सयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है।

पाँचवे गुणस्थान का नाम देशविरत है। क्योंकि यहाँ पर जीव पूर्णतया विरत नहीं हुआ करता। इससे ऊपर के सभी जीव विरत ही हुआ करते हैं। अतएव छट्ठे और सातवें गुणस्थान का विरत के साथ प्रमत्त और इतर अर्थात् अप्रमत्त शब्द विशेषण रूप से जोड़कर क्रम से प्रमत्त विरत अप्रमत्त विरत ऐसा नाम निर्देश किया गया है। इन विशेषणों के कारण यह भी सूचित हो जाता है कि छट्ठे गुणस्थान के सभी जीव सामान्यतया प्रमाद सहित ही हुआ करते हैं। तथा सप्तम गुणस्थान से लेकर

ऊपर के सभी जीव पूर्णतया विरत होने के साथ-साथ प्रमाद रहित ही हुआ करते हैं।

सभी गुणस्थानों के नाम अन्वर्थ हैं। आगे जो लक्षण विधान है उसके अनुसार वह अर्थ और उन गुणस्थानों के पूरे नाम का बोध हो सकेगा। क्योंकि यहाँ दोनों गाथाओं में गुणस्थानों के जो नाम दिये हैं वे उनके पूर्ण नाम नही, प्रायः एकदेश रूप ही है।

दोनो गाथाओं में पाँच जगह पर ''य'' अर्थात् ''च'' शब्द का प्रयोग किया है। इससे कुछ-कुछ विशिष्ट अर्थों का सूचन होता है। यथा-पहले च से प्रथम तीन गुणस्थानों के साथ दृष्टि शब्द भी जोड़ना चाहियेः जैसे कि मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि। दूसरे च से पाँचवे गुणस्थान की शुद्ध और मिश्र इस तरह दो अवस्थाएँ सूचित होती हैं। तीसरे च से अप्रमत्त आदि सूक्ष्मसाम्परायान्त गुणस्थानों की दो-दो अवस्थाएँ सूचित होती हैं। अपूर्वकरणादि के तो उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा दो-दो प्रकार हैं। तथा अप्रमत्त विरत के सातिशय और निरतिशय इस तरह दो भेद हैं। जो श्रेणी के सम्मुख है अधः प्रवृत्तकरणादि निरतिशय इस तरह दो भेद हैं। जो श्रेणी के सम्मुख हैं अधःप्रवृत्तकरणादि परिणामों को धारण करने वाला है वह सातिशय और ऐसा जो नहीं है वह निरतिशय है। चौथे च से सूचित होता है कि संसार और मोक्षमार्गी का यही अन्तिम स्थान है। यहीं पर शैलेश्य अवस्था प्राप्त हुआ करती है और व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्ल-ध्यान-रूप वे परिणाम हुआ करते हैं जो कि संसार का पूर्णतया अन्त करने में सर्वथा समर्थ हैं। जीव की अन्तिम साध्य सिद्धावस्था का उपाय या मार्ग रूप रत्नत्रय यहीं पर समर्थ कारण बनता है-करण रूप को प्राप्त किया करता है जिसके कि होते ही संसारातीत-गुणस्थानातीत सिद्ध पर्याय को यह जीव प्राप्त हो जाता है। इससे सभी गुणस्थानों में से इसी की महत्ता सर्वाधिक सूचित होती है।

पाँचवे 'च' से जीव का वास्तविक सर्व विशुद्ध स्वरूप प्रकट होता है जिससे कि मोक्ष के स्वरूप के विषय में जो अनेक अयुक्त मिथ्या मान्यताएँ है उन सबका परिहार हो जाता है।

इस प्रकार सामान्य से गुणस्थानों का नाम निर्देश किया। अब प्रत्येक गुणस्थानों में जो-जो भाव पाये जाते हैं जिनको कि यहाँ पर गुण नाम से तथा मोक्षशास्त्र में स्वतत्त्व नाम से कहा गया है उनका उल्लेख करते हैं।

प्रत्येक गुणस्थानों के भाव

मिच्छे खलु ओदइओ, विदिये पुण पारणामिओ भावे।
मिस्से खओवसमिओ, अविरदसम्मम्हि तिण्णेव।। (11)

अर्थः- प्रथम गुणस्थान में औदायिक भाव होते हैं, और द्वितीय गुणस्थान में पारिणामिक भाव होते हैं। मिश्र में क्षायोपशमिक भाव होते हैं। और चतुर्थ गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक इस प्रकार तीनों ही भाव होते हैं।

भावार्थः-औदयिक आदि शब्दों का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् कर्मों के उदय से होने वाला आत्मा के परिणामों को औदयिक भाव, प्रतिपक्षी कर्म के उपशम से होने वाले जीव के परिणामों को औपशमिक भाव, कर्म के क्षय से-प्रति-पक्षी-कर्म का निर्मूल अभाव हो जाने पर प्रगट होने वाले जीव के भाव को क्षायिक भाव कहते हैं। प्रतिपक्षी कर्म सर्वघाती स्पर्धकों के वर्तमान निषेकों के बिना फल दिये ही निर्जरा होने पर और उन्हीं के (सर्वघाती स्पर्धकों के) आगामी निषेकों का सदवस्थारूप उपशम रहने पर एवं देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिन कर्मों के इन उदय आदि चारों ही प्रकारों की अपेक्षा नहीं है ऐसे जीव के परिणामों को पारिणामिक भाव कहते हैं।

एते भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारितं णित्थ जदो, अविरदअंतेसुठाणेसु।। (12)

अर्थः-मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में नियम रूप से औदायिक भाव कहे हैं वे दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से हैं। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं पाया जाता।

भावार्थ-मिथ्यादृष्टियादि सभी गुणस्थानों में यदि सामान्य रूप से देखा जाये तो केवल औदयिकादि भाव ही नहीं होते, किन्तु क्षायोपशमिकादि भाव भी होते है; तथापि यदि केवल दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा से देखा जाय तो औदयिकादि भाव ही हुआ करते हैः क्योंकि प्रथम गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की अपेक्षा ही नहीं है इसलिए पारिणामिक भाव ही हैं। तृतीय गुणस्थान में जात्यन्तर सर्वघाति मिश्र प्रकृति का उदय है इसलिए क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं। इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में दर्शन मोहनीय

कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तीनों का ही सद्भाव पाया जाता है इसलिए तीनों ही प्रकार के भाव बताये गये हैं।

विशेष यह कि यघपि यहाँ पर सासादन गुणस्थान में परिणामिक भाव कहा है। किन्तु ग्रन्थान्तरों में अन्य आचार्यों ने इस गुणस्थान में औदायिक भाव भी बताया है। क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उपशम हो जाने के बाद अनन्तानुबन्धी कषायों में से किसी भी एक के उदय में आ जाने पर सम्यक्त्व की विराधना-आसादना से यह गुणस्थान उत्पन्न होता है। अतएव अनन्तानुबन्धी के उदय को दृष्टि में मुख्यतया रखने वाले आचार्य पारिणामिक भाव कहते हैं। क्योंकि दर्शन मोहनीय की उदय आदि चार अवस्थाओं में से किसी की भी यहाँ अपेक्षा नहीं है।

यघपि तीसरा गुणस्थान मिश्र प्रकृति के उदय से होता है अतएव उसमें औदयिक भाव कहना चाहिये। और उसमें देशघाति कर्म प्रकृति के न रहने से क्षायोपशमिक भाव कहा भी नहीं जा सकता; फिर भी प्रकारान्तर से यहाँ क्षायोपशमिक पना बताया गया है। क्योंकि इस मिश्र प्रकृति को अन्य सर्वघातियों के समान न मानकर जात्यन्तर सर्वघाति कहा गया है। टीकाकारों ने यहाँ पर क्षायोपशमिकपना इस तरह बताया है कि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय, और अनुदय प्राप्त निषेकों का उपशम होने पर क्षायोपशमिक मिश्रभाव होता है। अथवा सर्वथा होने पर करने वाले अनुभाग युक्त स्पर्धकों का उदयाभाव रूप क्षय और हीन अनुभाग रूप से परिणत स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम एवं देशघाति स्पर्धकों का उदय रहने पर जो जो मिश्र परिणाम होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव हैं। फिर भी यहाँ तक ज्ञातव्य है कि किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने इस मिश्र गुणस्थान के भाव को औदयिक भी कहा है और माना है।

अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तीनों भाव बताये हैं। इससे प्रथम तीन गुणस्थानों में निर्दिष्ट औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव नहीं लेकर ''व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः'' के आधार पर सम्यक्त्व के विरोधी पाँच अथवा सात कर्मों के उपशमादि से होने वाले औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव ही लेने चाहिए।

देसविरदे पमत्ते, इदरे व खओवसमियभावो दु।
सो खलु चरित्तमोहं, पडुच्च भणियं तहा उवरिं।। (13)

अर्थः- देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त इन गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव होते हैं। तथा इनके आगे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में भी चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से ही भावों को कहेंगे।

विशेष यह कि गाथा के पूर्वार्ध के अन्त में जो 'तु' शब्द दिया है, उसका अर्थ 'अपि' अर्थात् 'भी' ऐसा न करके अवधारण रूप ''एव'' अर्थात्''ही'' ऐसा करना चाहिये। क्योंकि यहाँ दर्शनमोहनीय की अपेक्षा ही नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि दर्शनमोहनीय की अपेक्षा से होने वाले तीनों ही भाव यहाँ पर पाये जाते हैं। किन्तु चारित्र मोहनीय की अपेक्षा से जिसकी की यहाँ पर विवक्षा है क्षायोपशमिक भाव ही पाया जाता है।

तत्तो उवरिं उवसमभावो, उवसामगेसु खवगेसु।
खइओ भावो णियमा, अजोगिचरिमो त्ति सिध्देय।। (14)

अर्थः- सातवें गुणस्थान से ऊपर उपशमश्रेणी वाले आठवें नौवें दशवें गुणस्थान में तथा ग्याहरवें उपशान्त मोह में औपशमिक भाव ही होते हैं। इसी प्रकार क्षपक श्रेणी वाले उक्त तीनों ही गुणस्थानों में तथा क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली इन तीन गुणस्थानों में और गुणस्थानातीत सिद्धों के नियम से क्षायिक भाव ही पाया जाता है। क्योंकि उपशमश्रेणी वाला तीनों गुणस्थानों में चारित्रमोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करता है। और ग्यारहवें में सम्पूर्ण चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम कर चुकता है। इसीलिए यहाँ पर औपशमिक भाव ही हुआ करते हैं। इसी तरह क्षपकश्रेणी वाला उन्हीं इक्कीस प्रकृतियों का उन्हीं तीन गुणस्थानों में क्षपण करता है और क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली तथा सिद्धस्थान में पूर्णतया क्षय हो चुका है, इसलिए इन स्थानों में क्षायिक भाव ही होता है।

यहाँ इन सब भावों का कथन चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से ही है। शेष कर्मों की अपेक्षा से अन्य भाव भी पाया जाता है। परन्तु मुख्यतया सिद्धों के केवल क्षायिक भाव ही रहा करता है। इस प्रकार संक्षेप से सम्पूर्ण गुणस्थानों में होने वाले भाव और उनके निमित्त को देखकर गुणस्थानों के लक्षण का कथन क्रम प्राप्त है। आगे उसके भेदों को कहते हैं।

नैतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक पुरुषों के भाव एवं व्यवहार

(नैतिक < धार्मिक < आध्यात्मिक)

(देश-विदेशों के धर्म-दर्शन-आध्यात्मिक एवं मेरे अनुभव-भावनानुसार)

(नैतिक जनों के भाव एंव व्यवहार)

(जब ये मानव नैतिक होगा।)

(चालः-1.झिलमिल सितारों....2. छोटी-छोटी गैया....3. यमुना किनारे श्याम...)

(1) - नैतिक जनों के भाव एवं व्यवहार-

जब ये मानव नैतिक होगा...अन्याय अत्याचार नहीं करेगा।
शोषण भ्रष्टाचार से दूर रहेगा...हिंसा झूठ चोरी नहीं करेगा।।
जूआ व शिकार नहीं खेलेगा...परस्त्री-वेश्यागामी नहीं बनेगा।
अनुशासित व विन्रम होगा...हितमितप्रिय बातें करेगा।।
नैतिकजनों का संग करेगा...व्यसनी दुष्टों से दूर रहेगा।
सज्जनों को वह अच्छा मानेगा...अन्य जनों को त्रास न देगा।।

(2) धार्मिक जनों के भाव एवं व्यवहार-

जब ये मानव धार्मिक होगा...सत्य-तथ्य में रुचि/(का ज्ञान) करेगा।
स्व-पर विश्व का ज्ञान करेगा...आत्मकल्याण का झुकाव होगा।।
मर्यादा हीन काम नहीं करेगा...हिताहित ज्ञान सदा रखेगा।
फैशन-व्यसनों से दूर रहेगा...पापों की वृत्ति से दूर रहेगा।।
वैश्विक कुटुम्ब भाव रखेगा...सर्व जीव को आत्मवत् मानेगा।
क्रोध मान माया को क्षीण करेगा...लोभ मोह को वश करेगा।
सन्तोष सदाचारी सदा रहेगा...उदार आदर्श सदा मानेगा।।
साधु-संतो की भक्ति करेगाा...आहार दान व सेवा करेगा।
संकट आने पर दूर करेगा...औषधि शास्त्र दान में देगा।।
भाव में आसक्ति कम करेगाा...ईर्ष्या घृणा द्वेष नहीं करेगा।

सरल सहज भाव रखेगा...आत्म विश्लेषण सदा करेगा।।

(3) आध्यात्मिक जनों के भाव एवं व्यवहार-

आध्यात्म पुरुष होते महान्...दोनों से अधिक आदर्शवान्।
अपना-पराया भेद विहीन...हानि-लाभ में एक समान।।
शत्रु-मित्र में समता भाव...ख्याति-पूजा से रहित भाव।
दीन-हीन से रहित भाव...मद मत्सर हीन पावन भाव।।
सांसारिक इच्छा रहित भाव...धन जन से निस्पृह भाव।
भोग आकांक्षा से सर्वथा शून्य...आत्मानुभव में जो परिपूर्ण।।
जाति पंथ राष्ट्र सीमा रहित...सच्चिदानन्द में सदा जो रत।
प्रतिस्पर्द्धा व ईर्ष्या रहित...आध्यात्म सुख में सदा जो रत।।
अन्तःप्रज्ञा अनुभव सहित...संकीर्ण भाव से पूर्ण रहित।
जन्म जरा मृत्यु भय रहित...मानव कृत सीमा रहित।
संयम शील व ध्यान सहित...मौन चिन्तन व शान्त सहित।।
आत्मानुशासी परतन्त्रता हीन...विश्वास युक्त विवशता विहीन।
लौकिक जनों से परे स्वभाव...आध्यात्म पुरुष के विचित्र भाव।।
नैतिक से श्रेष्ठ धार्मिक जन...उनसे श्रेष्ठ आध्यात्म जन।
कनकनन्दी चाहे/(सदा) आध्यात्म भाव...नैतिक धार्मिक युत ये भाव।।

ओगणा. 17.03.2012, मध्यान्ह 02.33

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण

मिच्छोदयेण मिच्छत्तम सद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयं तं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं।। (15) गो.जी.

अर्थ : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान।

अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे-वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही

है, अथवा अवक्तव्य ही है।

धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे-यह मानना कि हिंसा से स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखने और उनका समान सत्कारादि करने को विनय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जिन और बुद्ध तथा उनके धर्म को समान समझना तथा उनका समान सत्कारादि करना। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग की अपेक्षा न रखकर केवल गुरुओं के विनय से ही मोक्ष होती है, ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है।

समीचीन तथा असमीचीन दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का पक्ष का निश्चय न होना इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे सग्रन्थ लिंग मोक्ष का साधन है या निर्ग्रन्थ लिंग, अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्ष का साधन है या योगादिकर्म, इसी तरह कर्मों के सर्वथा अभाव से प्रकट होने वाली अनन्त गुण विशिष्ट आत्मा की शुद्ध अवस्था विशेष को मोक्ष कहते हैं, यद्वा बुद्धि-सुख-दुःखादि विशेष गुणों के उच्छेद को मोक्ष कहते हैं।

जीवादि पदार्थों को ''यही है, इसी प्रकार से है'' इस तरह विशेष रूप से न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

इस तरह सामान्य से मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं। विस्तार से असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो सकते हैं।

मिथ्यात्व के पाँच भेदों के दृष्टान्त

एयंत बुद्धदरसी, विवरीओ ब्रह्म तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइयो, मक्कडियो चेव अण्णाणी।।(16)

अर्थ : ये केवल दृष्टान्त मात्र हैं। इसलिए प्रत्येक दृष्टान्तवाचक शब्द के साथ आदि शब्द और लगा लेना चाहिये। अर्थात् बौद्धादि मत वाले एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। याज्ञिक ब्राह्माणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं। तापसादि विनय मिथ्यादृष्टि हैं। इन्द्र नामक श्वेताम्बर गुरु प्रभृति संशय मिथ्यादृष्टि हैं। और मस्करी (मंखलिगोशाल?) आदिक अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रकारान्तर से मिथ्यात्व का लक्षण

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरियदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो।।(17)

अर्थ : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान हो जाता है। उसकी जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता उसी प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालूम होता-रुचिकर नहीं होता।

भावार्थ : मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव देव शास्त्र गुरु के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यहाँ पर जो ''च'' शब्द डाला है उससे यह अभिप्राय समझना चाहिये कि यदि कोई जीव बाहर से सम्यग्दृष्टि के समान आचरण करे और अन्तरंग से उसके विपरीत परिणाम हों तो वह यथार्थ में मिथ्यादृष्टि ही है।

मिथ्यादृष्टि के बाह्य चिन्ह

मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं, उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।।(18)

अर्थ : मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित और हित के करने वाले भी वचनों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु इसके विपरीत आचार्याभासों के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का अर्थात् पदार्थ के विपरीत स्वरूप का इच्छानुसार श्रद्धान करता है।

विशेष मिथ्यात्व का वर्णन यहाँ चार गाथाओं में किया गया है। संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि मिथ्यात्व यह सम्यग्दर्शन का ठीक विरोध भाव है। यही कारण है कि तत्त्वार्थ सूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि में और इस जीवकाण्ड में सम्यग्दर्शन के जो लक्षण विषय कारण बताये गये हैं उनके ठीक विपरीत भावों और उनके कारणों आदि का मिथ्यात्व के सम्बन्ध में निर्देश किया गया है।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थान का स्वरूप, उसके भेद-भेदों के दृष्टान्त तथा बाह्य चिन्हों को दिखाकर दूसरे गुणस्थान सासादन का स्वरूप बताते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	मिथ्यात्व
१.	गुणस्थान	१४	१ मिथ्यात्व गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१४
३.	पर्याप्ति	६	४/५/६ पर्याप्तियाँ, ४/५/६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	४/६/७/८/९/१० पर्याप्त
			३/४/५/६/७/७ अपर्याप्तक
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	४
७.	इन्द्रिय	५	१,२,३,४,५
८.	काय	६	६
९.	योग	१५	१३ आहारकद्विक बिना
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	२५
१२.	ज्ञान	८	३ कुज्ञान
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	२ (चक्षु, अचक्षु)
१५.	लेश्या	६	६
१६.	भव्य	२	२ (भव्य, अभव्य)
१७.	सम्यक्त्व	६	१ मिथ्यात्व
१८.	संज्ञी	२	२ (संज्ञी, असंज्ञी)
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	५ (३ कुज्ञान + २ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	८ (४ आर्तध्यान + ४ रौद्रध्यान)

२२.	आस्रव	५७	५५ (आहारकद्विक बिना)
२३.	जाति	८४ लाख	८४ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१९७ १/२ लाख कोटि

दूसरे सासादन गुणज्ञस्थान का स्वरूप

आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलि ति वा से से।
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो।। (19)

अर्थ : प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अथवा यहाँ पर 'वा' शब्द का ग्रहण किया है, इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्व श्रद्धान रूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान को दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण-

सम्मत्तरयण पव्वय सिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासिय सम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो।।(20)

अर्थ : सम्यक्त्व रूपी रत्नपर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व रूपी भूमि के सम्मुख हो चुका है, अतएव जिसने सम्यक्त्व की विराधना (नाश) कर दी है, और मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने के पहले मध्य का जो काल है वह न पर्वत पर ठहरने का ही है, और न भूमि पर ही ठहरने का है; किन्तु अनुभय काल है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय में से किसी एक का उदय होने से सम्यक्त्व परिणामों के छूटने पर, और मिथ्यात्व प्रकृति के उदय न होने से मिथ्यात्व परिणामों के न होने पर मध्य के अनुभय काल में जो परिणाम होते हैं, उनको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं। यहाँ पर जो सम्यक्त्व को रत्न पर्वत की उपमा

दी है, उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रत्नपर्वत अनेक रत्नों का उत्पन्न करने वाला और उन्नत स्थान पर पहुँचने वाला है उस ही प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यक्-ज्ञानादि अनेक गुणरत्नों को उत्पन्न करने वाला है, और सबसे उन्नत मोक्ष-स्थान पर पहुँचाने वाला है।

प्रायः सर्वत्र इस गुणस्थान का नाम निर्देश करते समय सासन शब्द का ही प्रयोग किया है। देखो गाथा नं. 9, 19 तथा 20। इसके सिवाय संतसुत्त विवरण के सूत्र नं. 10 में भी सासन शब्द ही पढ़ा है। किन्तु अर्थ करते समय प्रायः सासादन शब्द दृष्टि में रखा है। दोनों ही शब्द निरुक्तिसिद्ध हैं। असन का अर्थ होता है नीचे को गिरना और आसादना का अर्थ होता है विराधना। क्योंकि यह जीव मिथ्यात्व की तरफ नीचे को गिरता है, और यह कार्य सम्यक्त्व की विराधना से होता है। अतएव दोनों ही अर्थ संगत हैं। प्रश्न यह हो सकता है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से यदि सम्यक्त्व का विनाश होता है, तो उसे दर्शनमोहनीय के भेदों में गिनना चाहिये। यदि वह चारित्र मोहनीय का भेद है तो उससे सम्यक्त्व का विराधन नहीं हो सकता, और ऐसी अवस्था में इस गुणस्थान का सम्भव ही नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि अनन्तानुबन्धी के उदय से यदि सम्यक्त्व का नाश हो जाता है तो जिस जीव ऐसा हो तो फिर उसको मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये? किन्तु इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर जो कथन किया गया है उसका फल अनन्तानुबन्धी कषाय की द्विस्वभावता को बताना है। यद्यपि सूत्र में कहीं पर भी इस कषाय को दोनों तरफ गिना नहीं है फिर भी प्रकृत कथन से यह फलितार्थ निकलता है कि अनन्तानुबन्धी में सम्यग्दर्शन और चरित्र दोनों के ही घात करने का स्वभाव पाया जाता है। इसके सिवाय मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि दोनों के विपरीतार्थ वेदन में बहुत बड़ा अन्तर है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अतत्त्वार्थ श्रद्धान व्यक्त और सासादन गुणस्थान में अव्यक्त हुआ करता है। अतएव इस गुणस्थान का पृथक् निर्देश उचित ही है। इस गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि शब्द का जो प्रयोग किया गया है वह भूतपूर्व गति की अपेक्षा से समझना चाहिये।

सासादन गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	मिथ्यात्व
१.	गुणस्थान	१४	१ सासादन गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	२ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त के, ७ अपर्याप्त के
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	४
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	१३ आहारकद्विक बिना
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	२५
१२.	ज्ञान	८	३ कुज्ञान
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	२ (चक्षु, अचक्षु)
१५.	लेश्या	६	६
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	१ सासादन
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	५ (३ कुज्ञान + २ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	८ (४ आर्तध्यान + ४ रौद्रध्यान)
२२.	आस्रव	५७	५० (५ मिथ्यात्व+२ आहारकद्वद्विक बिना)
२३.	जाति	८४ लाख	२६ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१०६ १/२ लाख कोटि

तृतीय मिश्र गुणस्थान का लक्षण

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतर सव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो।।(21)

अर्थ : जिसका प्रतिपक्षी आत्मा के गुण को सर्वथा घातने का कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व रूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं। शंका-यह तीसरा गुणस्थान बन नहीं सकता, क्योंकि मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकते। यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल में माने जाँय तो शीत-उष्ण की तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा। यदि क्रम से दोनों परिणामों की उत्पत्ति मानी जाय, तो मिश्र रूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता। समाधान-यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि मित्रामित्र न्याय से एक काल और एक ही आत्मा में मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्य में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और मित्र की अपेक्षा अभिन्नपना ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है। उस ही प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थ के स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास कथित अतत्त्व-श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं है।

उक्त अर्थ का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

दहिगुड़मिव वामिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो।। (22)

अर्थ : जिस प्रकार दही और गुड को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक नहीं कर सके, उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है। उस ही प्रकार मिश्र परिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इस गुणस्थान में होने वाली विशेषता

सो संजमं ण गिण्हदि, देसजमं वा णं बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियभेण।। (23)

अर्थ : तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देशसंयम को ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध ही होता है। तथा इस गुणस्थान वाला जीव यदि मरण करता है तो नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामों को प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थान में मरण नहीं होता।

सम्मत्त-मिच्छ परिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरण मरणंतसमुग्धादो वि य ण मिस्सम्मि।।(24)

अर्थ : तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव ने तृतीय गुणस्थानवर्ती को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप के परिणामों में से जिस जाति के परिणाम काल में आयुकर्म का बन्ध किया हो उस ही तरह के परिणामों के होने पर उसका मरण होता है, किन्तु मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता। और न इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात ही होता है।

सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	सम्यग्मिथ्यात्व
१.	गुणस्थान	१४	१ सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१ संज्ञी पर्याप्त
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१०
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	४
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	१० (४ मनोयोग+४ वचनयोग)+ (औदारिक-वैक्रियिक काययोग)

१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	२१ अनन्तानुबन्धी ४ बिना
१२.	ज्ञान	८	३ मिश्रज्ञान (३ ज्ञान + ३ कुज्ञान मिश्र)
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	२ (चक्षु, अचक्षु)
१५.	लेश्या	६	६
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	१ सम्यग्मिथ्यात्व
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	१ आहारक
२०.	उपयोग	१२	५ (३ कुज्ञान + २ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	८ (४ आर्तध्यान + ४ रौद्रध्यान)
२२.	आस्रव	५७	४३ (१२ अविरति + २१ कषाय १० योग)
२३.	जाति	८४ लाख	२६ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१०६ १/२ लाख कोटि

सासणसम्माइट्ठी (10) छक्खंडागमे जीवट्ठाणं

सामान्य से सासादन सम्यग्दृष्टि जीव है।

सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं। जो इस आसादन से युक्त है उसे सासादन कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अनन्तानुबंधिचतुष्कमें से किसी एक का उदय होने पर जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्वरूप परिणामों को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख हुए जीव को सासादन कहते हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते हैं-

सम्मामिच्छाइट्ठी (11)

सामान्य से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं।

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीव के समीचीन

और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार दही और गुड़ मिलाकर देने पर उनके स्वाद को पृथक नहीं किया जा सकता है, किन्तु उसका मिला हुआ स्वाद मिश्र भाव को प्राप्त होकर जात्यन्तरस्वरूप होता है उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामों का नाम मिश्र गुणस्थान है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं होता। इस गुणस्थान में। इस गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयक्षय, उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय रहने से क्षायोपशमिक भाव रहता है। अथवा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों का उदयक्षय, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम तथा मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय रहने से क्षायोपशमिक भाव रहता है।

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का निरूपण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

असंजदसम्माइट्ठी (12)

सामान्य से असंयतसम्यग्दृष्टि जीव हैं।

जिसकी दृष्टि समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और

संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकार के होते हैं - क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) और औपशमिक सम्यग्दृष्टि। अनन्तानुबंधी चार और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन सात प्रकृति के सर्वथा नाश से जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यग्दृष्टि तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। यह वेदक सम्यक्त्व-मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उदयक्षय और सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्द्धकों के उदय से हुआ करता है, इसलिए इसको क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को नहीं प्राप्त होता। किन्तु उपशमसम्यग्दृष्टि जीव परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। वह कभी सासादनसम्यग्दृष्टि, कभी सम्यग्मिथ्यात्व और कभी वेदकसम्यग्दृष्टि भी हो जाता है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव शिथिलश्रद्धानी होते हैं। जिस

प्रकार वृद्ध पुरुष अपने हाथों में लकड़ियों को शिथिलतापूर्वक पकड़ता है उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिल श्रद्धानी होता है। इस गुणस्थान में क्षायिकसम्यक्त्व की अपेक्षा क्षायिक, औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक और वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव भी होता है।

सूत्र में सम्यग्दृष्टि के लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है वह अन्तदीपक है। इसलिये वह अपने से नीचे के तीनों ही गुणस्थानों के अंसयतपने के निरूपण करता है। तथा इस सूत्र में जो सम्यग्दृष्टि पद है वह गंगा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है।

अब देशविरत गुणस्थान के प्ररूपण के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

संजदासंजदा (13)

सामान्य से संयतासंयत जीव होते हैं।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव में संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों को एक साथ स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न है। उसके संयम भाव की उत्पत्ति का कारण त्रसहिंसा से विरतिभाव और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावरहिंसा से अविरति भाव है। इसलिये यह संयता संयत नाम का पाँचवा गुणस्थान बन जाता है। संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक भाव है, क्योंकि, अप्रत्याख्यानवरणीय कषाय के वर्तमानकालीन सर्वघाती स्पर्धकों का उदयभावी क्षय और आगामी काल में उदय आने योग्य उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से यह संयमा-संयम होता है।

अब संयतों के प्रथम गुणस्थान का निरूपण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

पमत्तसंजदा (14)

सामान्य से प्रमत्तसंयत जीव होते हैं।

प्रकर्ष से जो मत्त है उन्हें प्रमत्त कहते हैं। अर्थात् प्रमाद सहित जीवों का नाम प्रमत्त है जो अच्छी तरह से विरति या संयम को प्राप्त है उन्हें संयत कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो प्रमाद से सहित होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत

कहते हैं। छठे गुणस्थान में प्रमाद के रहते हुए भी संयम का अभाव नहीं होता है। यहाँ 'प्रमत्त' शब्द अंतदीपक है। इसीलिये इससे पहले के सब ही गुणस्थानों में प्रमाद का सद्भाव समझना चाहिये। इस गुणस्थान में संयम की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भाव रहता है। कारण यह है कि वर्तमान में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय क्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने वाले सत्ता में स्थित उन्हीं के उदय में न आने रूप उपशम से तथा संज्वलन कषाय के उदय से वह संयम उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा इस गुणस्थान में क्षायिक, क्षायोपशमिक और आपैशमिक भाव भी रहता है। संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से जो चारित्र के पालन में असावधानता होता है उसे प्रमाद कहते हैं। वह स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा इन चार विकथाओं; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन पाँच इन्द्रियों; तथा निद्रा और प्रणय के भेद से पन्द्रह प्रकार का है।

आगे क्षायोपशमिक संयमों में शुद्ध संयम से उपलक्षित गुणस्थान का निरूपण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

अपमत्त संजदा (15)

सामान्य से अप्रमत्तसंयत जीव होते हैं।

जिनका संयम उपयुर्क्त पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित होता है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इस गुणस्थान में संयम की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव रहता है। कारण कि यहाँ वर्तमान समय में प्रत्याख्यानावरणीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयक्षय होने से और आगामी काल में उदय में आने वाले उन्हीं का उदयाभावलक्षण का उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय का मंद उदय होने से वह संयम उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव भी है।

अब आगे चारित्रमोहनीय का उपशम या क्षपण करने वाले गुणस्थान में से प्रथम गुणस्थान का निरूपण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा (16)

सामान्य से अपूर्वकरण प्रविष्ट-शुद्धि-संयतो में उपशम और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं।

करण शब्द का अर्थ परिणाम होता है। जो परिणाम पूर्व अर्थात् इस गुणस्थान से पहले कभी प्राप्त नहीं हुए हैं उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाना जीवों की अपेक्षा प्रथम समय से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम वाले इस गुणस्थान के अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोडकर अन्य समयवर्ती जीवों के न प्राप्त हो सकने वाले परिणाम अपूर्व कहे जाते हैं। ये अपूर्व परिणाम जिनके हुआ करते हैं वे अपूर्वकरणप्रविष्ट-शुद्ध संयत कहलाते हैं। उनमें जो जीव चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम करने में उद्युक्त होते हैं वे उपशम तथा जो उनके क्षय करने में उद्युक्त होते हैं वे क्षपक कहे जाते हैं।

अपूर्वकरण को प्राप्त हुए उन सब क्षपक और उपशमक जीवों के परिणामों में अपूर्वपने की अपेक्षा समानता पाई जाती है। इस गुणस्थान में क्षपक, जीवों के क्षायिक तथा उपशमक जीवों के औपशमिक भाव पाया जाता है। परन्तु सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक के क्षायिक तथा उपशम के औपशमिक और क्षायिक भाव पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जिस जीव ने दर्शनमोह का क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणी पर तथा जिसने उसका उपशम अथवा क्षय नहीं किया है वह उपशम श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है।

अब बादरकषायवाले गुणस्थानों में अन्तिम गुणस्थान का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं-

अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि-उवसमा खवा (17) (छक्खंडागमे जीवट्ठाणं)

सामान्य से अनिवृत्ति-बादर-सांपरायिक-प्रविष्ट-शुद्धि-संयतो में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं।

समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेद रहित वृत्ति को अनिवृत्ति कहते हैं अथवा निवृत्ति शब्द अर्थ व्यावृत्ति भी होता है। अतएव जिन परिणामों की व्यावृत्ति अर्थात् विसदृश भाव से परिणमन नहीं होता है उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सर्वथा विसदृश और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सर्वथा सदृश ही होते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार

शरीर के आकार, अवगाहन व वर्ण आदि बाह्य स्वरूप से और ज्ञानोपयोग आदि अंतरंग स्वरूप से परस्पर भेद को प्राप्त होते हैं उस प्रकार वे परिणामों के द्वारा भेद को नहीं प्राप्त होते। उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए परिणाम ही पाये जाते हैं।

सूत्र में जो 'बादर' शब्द का ग्रहण किया है उसके अन्तदीपक होने से पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादर (स्थूल) कषाय वाले ही होते है, ऐसा समझना चाहिये। सांपराय शब्द का अर्थ कषाय और स्थूल का अर्थ बादर है। इससे यह अभिप्राय हुआ कि जिन संयत जीवों की विशुद्धि भेद रहित स्थूल कषायरूप परिणामों में प्रविष्ट हुई है उन्हें अनिवृत्तिबादर-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत कहते हैं।

ऐसे संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं।

अब कुशील जाति के मुनियों के अन्तिम गुणस्थान के प्रतिपादनार्थे आगे का सूत्र कहते हैं-

सुहुमसांपराइया-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा (18)

सामान्य से सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं।

सांपराय का अर्थ कषाय, सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। उसमें जिन संयतो की शुद्धि ने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयत कहते हैं। उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं। यहाँ चारित्रमोहनीय की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक भाव हैं। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा श्रेणीवाला क्षायिक भाव से तथा उपशम श्रेणीवाला औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावों से युक्त होता है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशमश्रेणी का चढ़ना संभव है।

अब उपशमश्रेणी के अन्तिम गुणस्थान के प्रतिपादनार्थे उत्तर सूत्र कहते हैं-

उवसंत-कसाय-वीयराग-छदुमत्था (19)

सामान्य से उपशान्त कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं।

जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्त कषाय कहते हैं, तथा जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। छद्म नाम ज्ञानावरण और दर्शनावरण का है, उसमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ होते हैं

उन्हें वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषण से दसवें गुणस्थान तक के सराग छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिये। जो उपशान्त कषाय होते हुए भी वीतराग-छद्मस्थ होते हैं उन्हें उपशान्त कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं। इस उपशान्त कषाय विशेषण से उपरिम-गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिये। इस गुणस्थान में सम्पूर्ण कषायें उपशान्त हो जाती है, इसलिये यहाँ चारित्र की अपेक्षा औपशमिक भाव है। तथा सम्यग्दर्शन की अपेक्षा पूर्ववत् औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के गंदले पानी में निर्मली फल डाल देने से उसका गंदलापन नीचे बैठ जाता है और जल स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न हुए परिणामों में जो निर्मलता उत्पन्न होती है उसको उपशान्त कषाय गुणस्थान समझना चाहिये।

अब निर्ग्रंथ गुणस्थान की प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

खीण-कषाय-वीयराग-छदुमत्था (20)

सामान्य से क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ जीव हैं।

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उनको क्षीण कषाय कहते हैं। जो क्षीण कषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीण कषाय-वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इस सूत्र में आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है इसीलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानों के छद्मस्थपने के सूचक समझना चाहिये। यहाँ चूंकि दोनों ही प्रकार का मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, अतएव इस गुणस्थान में चारित्र और सम्यग्दर्शन दोनों की ही अपेक्षा क्षायिक भाव रहता है।

जिसने सम्पूर्ण रूप से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्म को नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका अन्तःकरण स्फटिक मणि के निर्मल भाजन में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है ऐसे वीतरागी निर्ग्रन्थ साधुओं को क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती समझना चाहिये।

अब स्नातको के गुणस्थान का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

सजोगकेवली (21)

सामान्य से सयोगकेवली जीव हैं।

केवल पद से यहाँ पर केवलज्ञान का ग्रहण किया है। जिसमें इन्द्रिय, आलोक

और मन की अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल (असहाय) कहते हैं। वह केवलज्ञान जिस जीव को होता है उसे केवली कहते; जो योग के साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं; इस प्रकार जो सयोग होते हुए केवली उन्हें सयोग केवली (कहते हैं) जानना चाहिये।

इस सूत्र में जो सयोग पद का ग्रहण किया वह अनन्त दीपक होने से नीचे के सभी गुणस्थानों को सयोगी बतलाया है। चारों घातिया कर्मों का (नाश) क्षय कर देने से और वेदनीय कर्म को शक्तिहीन कर देने से, अथवा आठों ही कर्मों की अवयवभूत साठ उत्तर कर्म प्रकृतियों को (घातिया कर्मों की सैंतालीस और नामकर्म की तेरह) नष्ट कर देने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव होता है।

अब अन्तिम गुणस्थान का निरूपण करने के लिय उत्तर सूत्र कहते हैं -

अजोग केवली (22)

सामान्य से अयोग केवली जीव हैं।

जिसके योग विद्यमान नहीं हैं उसे अयोग तथा जिसके केवलज्ञान है उसे केवली कहते हैं। जो योग रहित होते हुए केवली हैं उसे अयोग केवली कहते हैं। सम्पूर्ण घातिया कर्मों के क्षीण होने तथा अघातिया कर्मों के नाशोन्मुख होने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव रहता है।

अभिप्राय यह कि जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी होकर मेरु समान निष्कंप अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण आस्रव का निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधने वाले कर्मरज से रहित हैं; और जो मन, वचन तथा काययोग से रहित होते हुए केवलज्ञान से विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा समझना चाहिये।

सिद्धा चेदि (23)

सामान्य से सिद्ध जीव हैं।

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य; ये एकार्थवाची नाम हैं। जिन्होंने समस्त कर्मों का निराकरण करके बाह्य पदार्थ निरपेक्ष अनन्त, अनुपम, स्वाभाविक और निर्बाध सुख को प्राप्त कर लिया है; जो निर्लेप हैं, निश्चल स्वरूप को प्राप्त हैं, सम्पूर्ण अवगुणों से रहित हैं, सर्व गुणों के निधान हैं, जिनकी आत्मा का

आकार अन्तिम शरीर से कुछ न्यून है, जो कोश से निकलते हुए बाण के समान निःसंग हैं, और जो लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं; उन्हें सिद्ध कहते हैं।

ओदेसेण गदियाणुवादेय अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि (24) षट खण्डागम I

आदेश (विशेष) की अपेक्षा गतिमार्गणा के अनुवाद से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति हैं।

प्रसिद्ध आचार्य परम्परा से आये हुए अर्थ का तदनुसार कथन करना, इसका नाम अनुवाद है। इस प्रकार आचार्य परम्परा के अनुसार गतिका कथन करना गत्यनुवाद हैं। गत्यनुवाद से नरकगति आदि गतियाँ होती हैं। जो हिंसादिक निकृष्ट कार्यों में रत है उन्हें निरत और उनकी गति को निरतगति कहते हैं। अथवा, जो नर अर्थात् प्राणियों को गिराता है या दुःख देता है उसे नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है। इसके उदय से जिनकी उत्पत्ति होती है उन जीवों को नारक और उनकी गति को नारकगति कहते हैं। अथवा, जिस गति का उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मों के उदय का सहकारी कारण है उसे नरकगति कहते हैं।

जो समस्त जाति के तिर्यंचों में (उत्पन्न) उत्पत्ति का कारण है उसे तिर्यंच गति कहते हैं। अथवा, जो तिरस् अर्थात् वक्र या कुटिल भाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें तिर्यंच और उनकी गति को तिर्यंचगति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो मन, वचन और काय की कुटिलता को प्राप्त है; जिनकी आहारादि संज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं, और जिनके पाप की अत्यधिक बहुलता पाई जाती है, उसको तिर्यंच कहते हैं।

जो मनुष्य की समस्त पर्यायों में उत्पन्न कराती है उसको मनुष्य गति कहते हैं। अथवा जो मन से निपूर्ण अर्थात् गुण-दोषादि का विचार कर सकते हैं उन्हें मनुष्य और उनकी गति को मनुष्य गति कहते हैं। अथवा जो मनु की सन्तान हैं उन्हें मनुष्य और उसकी गति को मनुष्य गति कहते हैं।

जो अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियों की प्राप्ति के बल से क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव और उनकी गति को देवगति कहते हैं।

जो जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, आहारादि संज्ञाएँ और

रोगादि से रहित हो चुके हैं उन्हें सिद्ध और उनकी गति को सिद्ध गति कहते हैं।

अब इस गति में जीव समासों के अन्वेषण के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति (25)

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थान में होते हैं।

नरक गति में अपर्याप्त अवस्था के साथ सासादन अवस्था का विरोध है। परन्तु पर्याप्त अवस्था के साथ इनका विरोध नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टियों का पर्याप्त अवस्था में सातों ही पृथ्वीयों में सद्भाव पाया जाता है। चूँकि बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव मरकर, प्रथम पृथिवी में उत्पन्न होते हैं, अतः प्रथम पृथिवी की अपर्याप्त अवस्था के साथ सम्यग्दर्शन का विरोध नहीं है। किन्तु कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी अवस्था में मरकर द्वितीयादि पृथिवीयों में उत्पन्न नहीं होता। अतएव द्वितीयादि पृथिवीयों की अपर्याप्त अवस्था के साथ उक्त सम्यग्दर्शन का विरोध है। नरकगति में इन चार गुणस्थानों के अतिरिक्त ऊपर के गुणस्थानों की सम्भावना नहीं है, क्योंकि संयमासंयम और संयम पर्याय के साथ नरकगति में उत्पत्ति का विरोध है।

अब तिर्यंचगति में गुणस्थानों का अन्वेषण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति (26)

तिर्यंच जीव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पाँच गुणस्थानों में होते है।

बद्धायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थान वालों का तिर्यंचगति के अपर्याप्तकाल में सद्भाव संभव है। परन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतों का उस तिर्यंचगति के अपर्याप्त काल में सद्भाव संभव नहीं है क्योंकि, तिर्यंचगति में अपर्याप्त काल के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत का विरोध है। सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचनी और पचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच; इन पाँच प्रकार के तिर्यंचों में से अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उक्त पाँच गुणस्थान नहीं होते हैं, क्योंकि लब्ध्यपर्याप्तकों के एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही

होता है। तिर्यंचनियों में अपर्याप्त काल में मिथ्यादृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान वाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थान नहीं होते हैं। चूँकि तिर्यंचनियों में सम्यग्दृष्टियों की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त काल में चौथो गुणस्थान नहीं पाया जाता है। कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवी के बिना नीचे की छह पृथिवीयों में, ज्योतिषी व्यन्तर एवं भवनवासी देवों में और सर्व प्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा नियम है।

अब मनुष्यगति में गुणस्थानों का निर्णय करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्मा इट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी संजदासंजदा पमत्तसंजदा अपमत्तसंजदा अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा अणियट्टि बादर-सांपराइया-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा सुहुमसांपराइय पविट्ठ सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा सुहुम सांपराइया-पविट्ठ-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा उवसंतकसाय-वीयरायछदुमत्था खीणकसाय-वीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति। (27)

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, अनिवृत्ति-बादर-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धिसंयतों में उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयतों में उपशमक और क्षपक, उपशान्त कषाय-वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय - वीतराग-छद्मस्थ, सयोगि-केवली और अयोगिकेवली; इस प्रकार चौदह गुणस्थान में पाये जाते हैं।

अब देवगति में गुणस्थानों का अन्वेषण करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामि-च्छाइट्ठी असंदसम्माइट्ठि त्ति (28)

देव मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में पाये जाते हैं।

तिरिक्खा सुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति (29)

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक शुद्ध तिर्यंच होते हैं।

जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। जो असंज्ञी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असंज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। पाँचों प्रकार के एकेन्द्रिय, तीनों विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इतने जीव केवल तिर्यंच गति में ही पाये जाते हैं; यह सूत्रों में प्रयुक्त 'शुद्ध' पद का अभिप्राय है।

इस प्रकार शुद्ध तिर्यंचों का प्रतिपादन करके अब मिश्र तिर्यंचों का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

तिरिक्खा मिस्सा सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदा-संजदा त्ति (30)

संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक मिश्र तिर्यंच होते हैं।

तिर्यंचों की मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि रूप गुणों की अपेक्षा तीन गतियों में रहने वाले जीवों के साथ समानता है। इसलिये तिर्यंच जीव चौथे गुणस्थान तक तीन गति वाले जीवों के साथ मिश्र कहलाते हैं। आगे संयमासंयम गुण की अपेक्षा तिर्यंचों की समानता केवल मनुष्यों के साथ ही है, इसलिये पाँचवें गुणस्थान उन तिर्यंचों को मनुष्यों के साथ मिश्र कहा गया है।

अब मनुष्यों की गुणस्थानों के द्वारा समानता और असमानता का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं :-

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति (31)

मनुष्य मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक मिश्र हैं।

प्रथम गुणस्थान से लेकर चार गुणस्थानों में जितने मनुष्य हैं वे उक्त चार गुणस्थानों की अपेक्षा शेष तीन गतियों के जीवों के साथ समान हैं, और संयमासंयम गुणस्थान की अपेक्षा वे तिर्यंचों के साथ समान है। अतएव पाँचवें गुणस्थान तक के मनुष्यों को मिश्र कहा गया है।

अब शुद्ध मनुष्यों का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

तेण परं सुद्धा मणुस्सा (32)

पाँचवें गुणस्थान के आगे शुद्ध ही मनुष्य हैं।

प्रारम्भ के पाँच गुणस्थान को छोड़कर शेष गुणस्थान चूँकि मनुष्यगति के बिना अन्य किसी भी गति में नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उन शेष गुणस्थानवर्ती मनुष्यों को शुद्ध मनुष्य कहा गया है। अब इन्द्रियमार्गणा में गुणस्थानों के अन्वेषण के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया, बीइंदिया, तीइंदियो, चदुरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि (33) षटखण्डागम जीव.

इन्द्रियमार्गणा के अनुवाद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव होते हैं।

इन्दन अर्थात् ऐश्वर्यशाली होने से यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। इस इन्द्र के लिंग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, जो इन्द्र अर्थात् नामकर्म के द्वारा रची जाती हैं उसे इन्द्रिय कहते हैं। वह दो प्रकार की है-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इनमें द्रव्येन्द्रिय भी दो प्रकार की है-निर्वृत्ति और उपकरण। जो कर्म के द्वारा रची जाती है उसे निर्वृति कहते हैं। वह बाह्य निर्वृत्ति और अभ्यन्तर निर्वृत्ति के भेद से दो प्रकार की है। उसमें प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार रूप से परिणत हुए लोक प्रमाण अथवा उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशों की रचना को अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। अभिप्राय यह है कि स्पर्शन इन्द्रिय की अभ्यन्तर निर्वृत्ति लोकप्रमाण आत्मप्रदेशों में तथा अन्य चार इन्द्रियों की वह अभ्यन्तर निर्वृत्ति उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रदेशों में व्यक्त होती है। उन्हीं आत्मप्रदेशों में 'इन्द्रिय' नाम को धारण करने वाला व प्रतिनियत आकार से संयुक्त जो पुद्गल समूह होता है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। उक्त इन्द्रियों में श्रोत इन्द्रिय का आकार यव की नाली के समान, चक्षु इन्द्रिय का आकार मसूर के समान, रसना इन्द्रिय का आधे चन्द्र के समान, घ्राण इन्द्रिय का कदंब के फूल के समान और स्पर्शन इन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का है। जो निर्वृत्ति का उपकार करती है उसे उपकरण कहते हैं। वह भी बाह्य और अभ्यन्तर उपकरण के भेद से दो प्रकार की है। उसमें चक्षु इन्द्रियों में जो कृष्ण और शुक्ल मण्डल देखा जाता है वह चक्षु इन्द्रिय का अभ्यन्तर उपकरण तथा फलक और बरौनी (रोम समूह) आदि इसका बाह्य उपकरण है।

भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की है - लब्धि और उपयोग। इनमें इन्द्रिय की निर्वृत्ति

का कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष होता है उसका नाम लब्धि है और उस क्षयोपशम के आश्रय से जो आत्मा का परिणाम होता है उसे उपयोग कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि पदार्थ के ग्रहण में शक्तिभूत ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम होता है उसे लब्धि भावेन्द्रिय तथा उस क्षयोपशम के आलंबन से जो जीव पदार्थ के प्रति व्यापार विशेष होता है उसे उपयोग भावेन्द्रिय समझना चाहिये। उस उस प्रकार की इन्द्रिय की अपेक्षा जो अनुवाद अर्थात् आगमानुकूल इन्द्रियों का कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं। उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव हैं। जिनके एक ही प्रथम इन्द्रिय पाई जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। वीयान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय के अवलम्बन से जिनके द्वारा आत्मा पदार्थगत स्पर्श गुण को जानता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं। ये जीव चूँकि एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ही पदार्थ को जानते देखते हैं, इसलिये उन्हें एकेन्द्रिय (स्थावर) जीव कहा जाता है।

वीर्यान्तराय और रसेन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय का अवलम्बन करके जिसके द्वारा रस का ग्रहण होता है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं। जिनके ये दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं। लट, सीप, शंख और गण्डोला (उदर में रहने वाली बड़ी कृमि) आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पाई जाती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय कहते हैं। वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय के अवलम्बन से जिनके द्वारा गंध का ग्रहण होता है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। जिन जीवों के ये तीन इन्द्रिया होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे कुन्थु, चींटी, खटमल, जूँ और बिच्छू आदि।

चक्षुइन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय का आलम्बन करके जिसके द्वारा रूप का ग्रहण होता है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ पाई जाती है (उसे) वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं। मकड़ी, भौंरा, मधुमक्खी, मच्छर, पतंग, मक्खी और दंश से डसने वाले कीड़ों को चतुरीन्द्रिय जीव जानना चाहिए। वीर्यान्तराय और श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के आवलम्बन से जिसके द्वारा सुना जाता है उसे श्रोत इन्द्रिय कहते हैं। जिन जीवों के उक्त पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं वे पंचेन्द्रिय

कहलाते हैं। स्वदेज, संमूर्च्छिम, उद्भिज, औपपादिक, रसजनित, पोत, अंडज और जरायुंज आदि जीवों को पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये। जिनके इन्द्रियाँ नहीं रही हैं वे शरीर रहित सिद्ध जीव अनिन्द्रिय है। वे चूँकि इन्द्रियों के पराधीन होकर अवग्रहादिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा पदार्थों का ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये उनका अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सुख अतीन्द्रिय आत्मोत्थ और स्वाधीन माना गया है।

अब एकेन्द्रिय जीवों के भेद का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं-

एइंदिया दुविहा बादरा सुहमा। बादरा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता, सुहुमा दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता (34)

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं - बादर और सूक्ष्म। उनमें बादर एकेन्द्रिय दो प्रकार के हैं - पर्याप्त और अपर्याप्त। सूक्ष्म एकेन्द्रिय भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्त और अपर्याप्त।

जिन जीवों के बादर नामकर्म का उदय (होता है) पाया जाता है वे बादर कहे जाते हैं। जिनके सूक्ष्म नामकर्म का उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म कहलाते हैं। बादर नामकर्म का उदय दूसरे मूर्त पर्यायों से रोके जाने योग्य शरीर को उत्पन्न करता हैं, तथा सूक्ष्मनामकर्म दूसरे मूर्त पदार्थों के द्वारा नहीं रोके जाने के योग्य शरीर को उत्पन्न करता है।

बादर और सूक्ष्म दोनों ही पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। उनमें से जो पर्याप्त नामकर्म के उदय से युक्त होते हैं उनको पर्याप्तक और जो अपर्याप्तक नामकर्म के उदय से युक्त होते हैं उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं। पर्याप्तक जीव इन छह पर्याप्तियों से निष्पन्न होते हैं-आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनपानपर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। शरीर नामकर्म के उदय से जो आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कंध आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर खलभाग और रसभागरूप पर्याय से परिणमन करने रूप शक्ति के कारण होते हैं उनकी प्राप्ति को आहार-पर्याप्ति करते हैं। यह आहार पर्याप्ति शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय से लेकर एक अन्तमुहूर्त में निष्पन्न होती है। उस खल भाग को हड्डी आदि कठोर अवयवों के स्वरूप से तथा रस भाग को रस, रुधिर, वसा और वीर्य आदि द्रव अवयव स्वरूप से परिणत होने वाले औदारिक आदि तीन शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गलस्कन्धों की

प्राप्ति को शरीरपर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति आहारपर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्ति की उत्पत्ति के कारणभूत पुद्गलों की प्राप्ति को आनपानपर्याप्ति कहते हैं। यह पर्याप्ति इन्द्रियपर्याप्ति के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण होती है। मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न हुए जो पुद्गल अनुभूत पदार्थ के स्मरण की शक्ति में निमित्त होते हैं उन्हें मनःपर्याप्ति कहते हैं। अथवा, द्रव्यमन के आलम्बन से जो अनुभूत पदार्थ के स्मरण करने की शक्ति उत्पन्न होती है उसे मनःपर्याप्ति कहते हैं। इन छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ हो जाता है, क्योंकि, उन सबका अस्तित्व जन्म समय से लेकर माना गया है। परन्तु उनकी पूर्णता क्रम से ही होती है। इन पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। अपर्याप्त नामकर्म के उदय से जिन जीवों की शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो पाती है और बीच में ही मरण हो जाता है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय के होते हुए भी पर्याप्तियाँ जब तक पूर्ण नहीं हो जाती हैं तब तक उस अवस्था को निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रियों के भेद-प्रभेदों का कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवों के भेदों का कथन करने के लिये उत्तर सूत्र कहा जाता है -

बीइंदिया दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। तीइंदिया दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। चउरिदिया दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। पंचिदिया दुविहा सण्णी असण्णी। सण्णी दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता। असण्णी दुविहा पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि (35)

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं-संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी जीव दो प्रकार के है-पर्याप्तक और अपर्याप्तक। असंज्ञी जीव भी दो प्रकार के हैं-पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

द्वीन्द्रिय आदि जीवों का स्वरूप कहा जा चुका है। पंचेन्द्रियों में कुछ जीव मन से रहित और कुछ मन से सहित होते हैं। उनमें मन सहित जीव को संज्ञी अथवा समनस्क कहते हैं और मनरहित जीवों को असंज्ञी अथवा अमनस्क कहते हैं। वह मन द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमें पुद्गल विपाकी अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले जो पुद्गल मनरूप से परिणत होते हैं उनका नाम

द्रव्यमन है। तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमरूप आत्मा में जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह भावमन है।

अब इन्द्रियों में गुणस्थानों की निश्चित संख्या का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

एइंदिया, बीइंदिया तीइदिया चउरिंदिया असण्णीपंचिदिया एकम्हि चेव मिच्छाइट्ठिठाणे (36)

एकेन्द्रिय द्वान्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव एक मिथ्यादृष्टि नामक, प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं। दो तीन आदि संख्याओं का निराकरण करने के लिये सूत्र में 'एक' पद का तथा अन्य सासादनादि गुणस्थानों का निराकरण करने के लिये 'मिथ्यादृष्टि' पद का ग्रहण किया है।

अब पंचेन्द्रियों में गुणस्थानों की संख्या का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

पंचिंदिया असण्णी पंचिदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति (37)

पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थान तक होते हैं।

केवलियों के यद्यपि भावेन्द्रियाँ सर्वथा नष्ट हो गई हैं और द्रव्य इन्द्रियों का व्यापार भी बंद हो गया है तो भी छद्मस्थ अवस्था में भावेन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा उन्हें पंचेन्द्रिय कहा जाता है।

अब अतीन्द्रिय जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

तेण परमणिंदिया इदि (38)

उन एकेन्द्रियादि जीवों से परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं -

सूत्र में 'तेन' यह पद जाति सूचक है। 'परं' शब्द का अर्थ ऊपर है। इससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जाति भेदों से रहित जीव अनिन्द्रिय होते है, क्योंकि उनके सम्पूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो चुके हैं।

अब कायवर्गणा का प्रतिपादन करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं -

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वणप्फइकाइया तसकाइया अकाइया चेदि (39) (षठ. खंडा. जीव.)

काय मार्गणा के अनुवाद से पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और (कायरहित) अकायिक जीव होते हैं।

सूत्र के अनुकूल कथन करने को अनुवाद कहते हैं। काय के अनुवाद को कायानुवाद कहते हैं। पृथिवीरूप शरीर को पृथिवीकाय कहते हैं। यह काय जिन जीवों के होता है उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। अथवा जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय के वशीभूत हैं उन्हें 'पृथिवीकायिक' कहा जाता है। इस प्रकार से कार्मण काययोग में स्थित जीवों की भी पृथिवीकायिक संज्ञा बन जाती है, क्योंकि, उनके पृथिवीकायिक शरीर के न होने पर भी पृथिवीकायिक नामकर्म का उदय पाया जाता है। इसी प्रकार जलकायिक आदि शब्दों की भी निरुक्ति कर लेना चाहिये। स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता के कारण ये पाँचों ही जीव मरकर स्थावर कहलाते हैं। जो जीव त्रस नामकर्म के उदय से सहित हैं उन्हें त्रस कायिक कहते हैं। जिनका त्रस और स्थावर नामकर्म नष्ट हो गया है उन सिद्धों को आकायिक कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से सुवर्ण कीट और कालिमा रूप बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के मल से रहित हो जाता है उसी प्रकार ध्यान रूप अग्नि के सम्बन्ध से यह जीव काय और कर्मबन्ध से मुक्त होकर काय रहित हो जाता है।

सम्पूर्ण 14 गुणस्थानों में कर्म की निर्जरा

सम्मत्तुप्पत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खबगे, कसायउबसामगे य उवसंते।।(66)
खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकम्मा।
तव्विवरीया काला, संखेज्जगुणक्कमा होंति।। (67)-गो.जी.

अर्थ : सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाले 8-9-10 वें गुणस्थानवर्ती जीव,

उपशान्तकषाय, कषायों का क्षपण करने वाला 8-9-10 वें गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी दोनों प्रकार के जिन, इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यातगुणी अंसख्यातगुणी अधिक अधिक होती जाती है। और उसका काल इससे विपरीत है। क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन है।

भावार्थ : सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करणलब्धि को प्राप्त करके उसके अधः प्रवृत्तकरण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है, तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टि के जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारवस्था या मिथ्यात्वदशा में होने वाली या पायी जाने वाली निर्जरा से असंख्यातगुणी अधिक हुआ करती है। इससे असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने पर हुआ करती है। श्रावक अवस्था प्राप्त होने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह असंयतसम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यात गुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जरा का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन हीन अर्थात् सातिशयमिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है उससे संख्यात गुणा कम काल असंयतसम्यग्दृष्टि की निर्जरा में लगता है। और उससे भी संख्यातगुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा करता है। इसी प्रकार आगे के विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिये। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक होती जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे मोह कर्म निःशेष होता जाता है वैसे वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक अधिक निकट पहँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उन स्थानों में गुणश्रेणि निर्जरा कही जाती है।

टीकाकार ने यहाँ पर गुणश्रेणि निर्जरा के 11 स्थान बताये हैं। परन्तु प्रकृत

दोनों गाथाओं में 10 स्थानों के ही नाम का उल्लेख किया गया है। अतएव या तो सम्यक्त्वोत्पत्ति इस एक ही नाम से सातिशय मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि इस तरह दो भेदों का ग्रहण करके 11 स्थानों की पूर्ति की जा सकती है। अथवा ऐसा न करके सम्यक्त्व उत्पत्ति शब्द से तो एक ही स्थान लेना, परन्तु अन्तिम जिन शब्द से दो शब्दों का ग्रहण कर लेना चाहिये। टीकाकार ने इस जिन शब्द से दो शब्दों का ग्रहण कर लेना चाहिये। टीकाकार ने इस जिन शब्द से स्वस्व-स्थानस्थित केवली और समुद्घातगत केवली इस प्रकार दो विभाग किये हैं। और स्वस्थान केवली की अपेक्षा समुद्घात केवली के निर्जरा का द्रव्य का प्रमाण असंख्यात गुणा बताया है।

सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीमखिल प्रयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च।। (21) (पु.सि.)

व्याख्या-भावानुवादः-उस धर्मस्वरूप कथन में सर्वप्रथम समग्रता से अत्यन्त यत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन का सेवा करनी चाहिए अर्थात् उसका सेवन करना चाहिए। उस सम्यक्त्व के होते हुए स्वयमेव आत्मा में जिसके कारण सम्यग्ज्ञान होता है और ज्ञान से चारित्र होता है जो कि समस्त पापों से रहित होता है।

समीक्षाः-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक मार्ग ही मोक्ष मार्ग है। तीनों की पूर्णता से तत्क्षण साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे-

(1) अनेक बिन्दुओं के सम्यक् संयोग में रेखा बनती है परन्तु एक बिन्दु से या सम्यक् रूप से असंयोजित अनेक बिन्दुओं से भी रेखा नहीं बनती है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी तीन बिन्दुओं से मोक्षमार्ग रूपी रेखा बनती है।

(2) 100 संख्या के लिए एक तथा दो बिन्दुओं की सम्यक् समष्टि चाहिए। तीन अंक अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से या कोई भी दो के संयोग से भी 100 संख्या नहीं बन सकती है। इसी प्रकार 100 संख्या रूप मोक्षमार्ग के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के लिए तीनों अंको की सम्यक् संयोजना चाहिए।

बिना एक अंक स्वतन्त्र रूप से एक शून्य या दो शून्य मिलकर भी कोई विशिष्ट इकाई को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। एक अंक भी बिना दो शून्य के संयोग से भी

100 संख्या नहीं बन सकती। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान चारित्र, मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर है। उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र सम्यग्दर्शन पूर्ण मोक्षमार्ग बनाने के लिए असमर्थ है। **जैसेः**-100 संख्या के लिए प्रथम संख्या एक होने पर भी एक ही सौ नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान भी पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है। जब 10 के आगे एक शून्य का संयोग होता है तब 100 संख्या की पूर्णता होती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र का संयोग होता है तब पूर्ण मोक्षमार्ग बनता है।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्व भाव उवलद्धी
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियणादी।। (705) मूलाचार

जिन वचनों की श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है, उससे ज्ञान होता है अर्थात् उस सम्यक्त्व से ज्ञान की शुद्धि होती है। अतः सम्यक्त्व से ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान से भेद प्रभेद सहित पर्यायों सहित सर्व द्रव्यों के पदार्थों का और अस्तिकायों का बोध होता है।

शंकाः-सम्यग्दर्शन का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं है तो फिर तत्पूर्वक ज्ञान कैसे हुआ?

समाधानः-ऐसा दोष आप नहीं दे सकते हैं क्योंकि ज्ञान के विपरीत अनध्यवसाय और अकिंचित्कर आदि स्वरूप सम्यक्त्व से दूर किये जाते हैं।

पुनः पदार्थों के ज्ञानी मनुष्य श्रेय-पुण्य अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय-पाप अर्थात् कर्मों को दूर करने के कारण और अश्रेय-पाप अर्थात् कर्मबन्ध के कारण अच्छी तरह से जान लेते हैं। उसी को और कहते हैं-

सेयासेय विदण्हू उद्धददुस्सील सीलवं होदि।
सील फलेणब्भूदयं ततो पुण लहदि णिव्वाणं।।

श्रेय और अश्रेय के दाता दुःशील का नाश करके शीलवान् होते हैं। पुनः उस शील के फल से अभ्युदय तथा निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रेय और उसके कारणों के तथा अश्रेय और उसके कारणों के वेत्ता मुनि दुःशील पाप क्रिया से निवृत्त होकर चारित्र से समन्वित होते हुए अठारह हजार शील के आधार हो जाते हैं। उसके प्रसाद से स्वर्गादि सुखों का अनुभव रूप निर्वाण को

प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए सभी पूर्व ग्रन्थों मे चरित्र का महात्म्य कहा गया है। समन्तभद्र स्वामी ने भी इसी सिद्धान्त को उजागर किया है-

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानः।
राग द्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

जब मोह रूपी अन्धकार का विध्वंस हो जाता है तब सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बाद राग-द्वेष को निवारण करने के लिए साधु के आचरण रूप सम्यक् चारित्र को स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जब तक सम्यक् चारित्र का अवलम्बन नहीं लिया जाता, तब तक राग-द्वेष की निवृत्ति नहीं होती है। बिना राग-द्वेष की निवृत्ति के वीतरागता नहीं आती है। बिना वीतरागता केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। बिना केवलज्ञान प्राप्त किए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।।

ज्ञान मनुष्य का सार है। सम्यग्दर्शन भी सारभूत है। क्योंकि सम्यग्दर्शन भी सारभूत है। क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप परिणमन हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से चारित्र सम्यक् चारित्र होता है। सम्यक् चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण और स्वरूप

जीवऽजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेश-विविक्तमात्मरूपंतत्।।(22)

(पुरुषार्थ सि.)

व्याख्या-भावानुवादः-जीव अजीव तत्त्वों का श्रद्धान सदैव करना चाहिए। पृथ्वीकायिक आदि जीव धर्मास्तिकाय आदि अजीव है। ऐसे जीव अजीव तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का श्रद्धान अर्थात् रुचि करने योग्य है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। वह आत्मस्वरूप विपरीत अभिनिवेश से रहित है। विपरीत, एकान्त आदि मिथ्यात्व से रहित होने से सम्यक्त्व विपरीत अभिनिवेश से विविक्त कहा गया है।

सम्यग्दर्शन के अंगो में:-

(1) नि:शंकित अंग का स्वरूप

सकलमनेकांतात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्याः।। (23)

व्याख्या-भावानुवादः-उस सम्यक्त्व के अष्टांग में निशंकित्व का निरूपण यहाँ कर रहे हैं। भव्य जीवों को सत्य तत्त्व के ऊपर शंका करना कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ शंका का अर्थ सन्देह है। निशंक अर्थात् निस्संदेहव है। उपयुक्त तत्त्वों का वर्णन अखिलज्ञ अर्थात् सर्वज्ञ के द्वारा देखा हुआ है, प्रतिपादित किया गया है। सर्वज्ञ ने इन तत्त्वों को अनेकान्तात्मक दिखाया एवं बताया है। सर्वज्ञ ने समस्त द्रव्यों का अर्थात् पदार्थ समूह को अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप में कभी भी शंका नहीं करनी चाहिए। यह वस्तु स्वरूप सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए। ''नान्यथा वादिनो जिनाः'' अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होने के कारण उनके द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण द्रव्य, तत्त्व तथा पदार्थ सत्य ही है। प्रत्यक्ष से दृष्यमान वस्तु से लेकर आकाश तक सम्पूर्ण समूह नित्य, अनित्य गौण मुख्य रूप से अनेकान्त रूप सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है। मूल, अग्र, पोर, बीज, कन्द, शाखा, जल आदि जीव प्रत्येक साधारण अनन्तकाय संख्यात (असंख्यात अनन्त) ऐसे सर्वज्ञ देव ने कहा है जो के सत्य ही है। इस प्रकार विचार करके सन्देह को दूर करके निशंकित्व होता है। निश्चय से सम्यक् दृष्टि सप्तभय रहित मिथ्यात्वादि सत्तावन आस्रव रहित होता है, यह स्वतः सिद्ध है। इसलिए निशंक होकर के प्रवर्तन करता है। ग्रन्थ विस्तार भय से उसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

(2) नि: कांक्षित अंग का लक्षण

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व-केशवत्वादीन्
एकान्तवाद-दूषित-परसमयानपि न चाऽऽकांक्षेत्।। (24)

व्याख्या-भावानुवादः-सम्यक्दृष्टि जीव इस जन्म में धन सम्पत्ति आदि की तथा परलोक में चक्रवर्ती अद्धचक्र आदि पदवी की भी आकांक्षा नहीं करता है।

इस लोक में तद्भव में धन, पुत्र स्त्री आदि पदार्थों को तथा परभव में धर्म के प्रभाव से चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, कामदेव आदि पदवी भी नहीं चाहता है। एकान्तवाद से मिथ्यात्व आग्रह से दूषित मिथ्याधर्म को नहीं चाहता है। यह व्यवहार से है। निश्चय से वह एकान्तवाद से दूषित मिथ्याधर्म को नहीं चाहता है। एकान्तवाद से मिथ्यात्व आग्रह से दूषित परसमयमिथ्यामत-मिथ्याशास्त्र को वह नहीं चाहता है। सम्यक् दृष्टि को जाति, लाभ आदि अष्ट मद भी नहीं होते हैं। मद उत्पत्ति से आकांक्षा भी होती है। इसीलिए सम्यक् दृष्टिकोण निःकांक्षित रूप द्वितीय अंग होता है।

(3) निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण

क्षुत्तृष्णा-शीतोष्ण-प्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।। (25)

व्याख्या-भावानुवादः-विभिन्न प्रकार के द्रव्य में पुनः मल-मूत्र, रक्त, वान्ति आदि में घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा गुण है। निश्चय से शरीर आदि को पवित्र मानना रूप मिथ्या संकल्प से दूर होना निर्विचिकित्सा गुण है। इसी प्रकार क्षुधा-तृष्णा, शीत-उष्ण आदि में भी जानना चाहिए।

(4) अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण

लोकेशास्त्राऽऽभासे समयाऽऽभासे च देवताऽऽभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिनां, कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्।। (26)

व्याख्या-भावानुवादः-तत्त्वरुचि वाले जीवों को सतत् अमूढ़-दृष्टित्व गुण को अपनाना चाहिए। वह अमूढ़ दृष्टित्व है-वह वस्तु स्वरूप जैसा है उसी का उसी प्रकार जानना चाहिए। जिनमत में कहे हुए देव, शास्त्र, गुरु में दृढ़ता रखनी चाहिए अर्थात् उनकी श्रद्धा, भक्ति में दृढ़ता रखनी चाहिए। जीवादि षट् द्रव्य जहाँ रहते हैं, उसे लोक कहते हैं। जो शास्त्र के समान लगता है परन्तु यथार्थ शास्त्र नहीं है अर्थात् सदोष शास्त्र है उसे शास्त्राभास कहते है। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञ निष्कलंक जिनेन्द्र भगवान् से अन्य देव देवताभास है। इनमें सम्यक् दृष्टियों को अमूढ़ दृष्टि होकर व्यवहार करना चाहिए। निश्चय से मोह भाव से रहित होने के कारण सम्यक्

दृष्टियों को संशय विमोह विभ्रम नहीं होते हैं। इसलिए वे अमूढ़ दृष्टि वाले होतें हैं। अनाप्त द्वारा कहा हुआ तत्त्व में या चेतन अचेतन पदार्थ में मोह रहितपना अमूढ़ दृष्टित्व है।

(5) उपगूहन अंग का लक्षण

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनोमर्दवाऽऽदि भावनया।
परदोष-निगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थं।। (27)

व्याख्या-भावानुवादः-व्यवहार से सम्यक्त्वधारी भव्य जीवों के द्वारा परदोषों को छिपाना, आच्छादन करना और वह भी गुणों को बढ़ाने के लिए करना उपगूहन गुण है। पुनः निश्चय से सम्यक् दृष्टि के द्वारा आत्मा का धर्म स्वरूप ज्ञान उपयोग, दर्शन उपयोग स्वरूप सरलता, सहजता आदि गुणों को वृद्धिगत करना उपवृहण है। उत्तम क्षमादि आत्म धर्म की वृद्धि करना उपगूहन है और स्वयं के गुणों को बढ़ाना उपबृहण है। दूसरों के दोष उस दोष की वृद्धि के लिए छिपाना नहीं है परन्तु एकान्त में उसे समझाकर उसके दोषों को दूर करके उसके गुणो को बढ़ाना उपगूहन है। यह कार्य वह व्यक्ति कर सकता है जो स्वयं अपने आध्यात्मिक गुणों को बढ़ाता है, वही दूसरों के दोषों को दूर करके दूसरों के गुणों को बढ़ा सकता है जिस प्रकार प्रकाशित दीपक ही बुझे हुए दीपक को प्रकाशित कर सकता है।

(6) स्थितिकरण अंग का लक्षण

काम-क्रोध-मदादिषु चलयितु मुदितेषु वर्त्मनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।। (28)

व्याख्या-भावानुवादः-स्वयं को जिनमतानुसार अर्थात् जिनशास्त्र के अनुसार तथा दूसरे भव्यों को स्थिर करना स्थितिकरण अंग है। स्वयं या दूसरे भव्य जब काम, क्रोध, मद आदि से प्रेरित होकर न्यायमार्ग से विचलित हो जाते हैं उन्हें पुनः न्याय मार्ग में, धर्म मार्ग में स्थिर करना स्थितिकरण अंग है। व्यवहार से काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कर्म विध्वंसकारी कारणों से धर्म से विचलित हुए साधर्मी व्यक्तियों को पुनः धर्ममार्ग में स्थापित करना स्थितिकरण है। निश्चय से कामादि भाव को दूर होकर

संसार से उदासीन होकर स्वधर्म से विचलित नहीं होना स्थितिकरण अंग है।

(7) वात्सल्य अंग का लक्षण

अनुवरतमहिंसायां शिव-सुख-लक्ष्मी निबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु, परमं वात्सल्यमालम्व्यम्।। (29)

व्याख्या-भावानुवादः-सम्यक् दृष्टि का समस्त सधर्मी में परम उत्कृष्ट वात्सल्य प्रीति भाव होता है। यह व्यवहारनय की अपेक्षा है। निश्चय से शिवसुख रूपी लक्ष्मी अर्थात् मोक्ष लक्ष्मी को देने वाला धर्म अर्थात् जिनधर्म में उत्कृष्ट स्नेह होता है। पुनः अहिंसादि लक्षण स्वरूप धर्म में भी वात्सल्य भाव होता है। गुणानुरागी होने के कारण सम्यक् दृष्टि को वात्सल्य भाव निश्चय से होता ही है जो कि सप्तम् अंग है।

(8) प्रभावना अंग का लक्षण

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान-तपो-जिनपूजा-विद्याऽतिशयैश्च जिनधर्मः।। (30)

व्याख्या-भावानुवादः-व्यवहार नय से सम्यक् दृष्टि भव्यों के द्वारा दान, तप, जिनपूजा अतिशय विद्या के द्वारा स्याद्वाद से अंकित जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए अर्थात् अतिशय से उसको बढ़ाना चाहिए। पुनः रत्नत्रय रूपी तेज से दर्शन, ज्ञान, चारित्रात्मक आत्मा को सतत् उद्योतन करना चाहिए। प्रभावना का अर्थ है (प्र+भावना) अर्थात् प्रकृष्ट/ निर्मल भावना/ सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप से जिनशासन का उद्योतन करना, आत्म प्रकाशन करना प्रभावना है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण

सम्मत्तदेसधादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु।। (25)

व्याख्या-भावानुवादः-सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर (तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियों के आगामी निषेकों सद्वस्थारूप उपशम और

वर्तमान निषेकों की बिना फल दिये ही निर्जरा होने पर) जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तमुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छयासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण हैं।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोल रूप में परिणत होता है उस ही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हन्तों में समान अनन्त शक्ति होने पर भी ''शान्तिनाथ जी शन्ति के लिए और श्री पार्श्वनाथजी रक्षा करने के लिए समर्थ है'' इसी तरह नाना विषयों में चलायमान होता है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मिलन कहा जाता है उस ही तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यक् दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उस ही तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिरादि में यह ''यह मेरा मन्दिर है''और दूसरे के बनवाये हुए मंदिर आदि में ''यह दूसरे का है'' ऐसा भाव हो उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ-उपशम के प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह दो प्रकार है। विवक्षित प्रकृति यदि उदय योग्य न हो और स्थिति, अनुभाग, उत्कर्षण, अपकर्षण तथा संक्रमण के योग्य हों तो उस उपशम को अप्रशस्त कहते हैं। तथा जहाँ पर विवक्षित प्रकृति उदय योग्य भी न हो और उत्कर्षण अपकर्षण एवं संक्रमण योग्य भी न हो तो वहाँ प्रशस्त उपशम कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का प्रशस्तोपशम नहीं माना है, अतएव अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रशस्तोपशम अथवा विसंयोजन होने पर एवं दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति का प्रशस्त या अप्रशस्त उपशम अथवा क्षयोन्मुखता के होने पर और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थश्रद्धान रूप परिणाम होते हैं उनको ही वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ पर जीव सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन-अनुभव करता है, इसलिए इसको वेदक कहते हैं।

गाथा में आये हुए नित्य शब्द का अभिप्राय अविनश्वर नहीं किन्तु अन्तमुहुर्त से लेकर छयासठ सागर तक के काल के प्रमाण से है जैसा कि ऊपर बताया गया है।

अथवा इसका आशय ऐसा भी हो सकता है कि कर्मों के क्षपण का यह करण-असाधारण कारण है। यह बात केवल इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के विषय में ही नहीं किन्तु वक्ष्यमाण औपशमिक एवं क्षायिक के विषय में भी समझनी चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शन की साहचर्य के बिना संवर निर्जरा नहीं हो सकती, यह ध्रुव नियम है। इस ध्रुव नियम को स्पष्ट करना ही नित्य शब्द का अभिप्राय है। इससे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की असाधारणता सूचित हो जाती है। तथा यह भी विशेषता व्यक्त होती है कि इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के वेदक अथवा समल होते हुए भी वह कर्म क्षपण का कारण है। ध्यान रहे कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में होने वाली विशिष्ट निर्जरा का मूल कारण सम्यक् दर्शन ही है।

चतुर्थ गुणस्थान में उपदिष्ट सम्यग्दर्शन के तीन भेदों में से एक भेद समल सम्यग्दर्शन-वेदक का स्वरूप बताकर अब शेष दो-मल-दोष रहित औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनों का हेतु पूर्वक लक्षण और स्वरूप बताते हैं।

-औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनों का हेतु पूर्वक-

लक्षण और स्वरूप

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य।। (26)

अर्थः-तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिल्कुल नहीं होता। क्योंकि यहाँ पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहा करता है। यही कारण कि इस गुणस्थान वाले जीव को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

भावार्थः-सम्यग्दर्शन गुण की विरोधिनी इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय इन दोनों की अवस्थाओं में जो आत्मा का सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है वह विशुद्धि का अपेक्षा समान है। फिर भी औपशमिक और क्षायिक में प्रतिपक्षी कर्मों के सद्भाव और असद्भाव के कारण बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि क्षायिक सम्यग्दर्शन अन्त तक स्थिर रहता है। इस सम्यक्त्व से युक्त जीव कभी भी मिथ्यात्व

को प्राप्त नहीं होता, न आप्तागम पदार्थों में सन्देह करता है और न मिथ्यादृष्टियों के अतिशय या चमत्कार को देखकर आश्चर्य ही करता है। अर्थात् वेदक सम्यक्त्व में पाये जाने वाले चल मलिन और अगाढ़ दोषों से वह रहित होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है। परन्तु उसका काल अन्तरमुहुर्त मात्र ही है। उसके बाद वह प्रतिपक्षी कर्मों में से मिथ्यात्व के उदय में आने पर मिथ्यादृष्टि, अनन्तानुबन्धी कषाय में से किसी के उदय में आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र प्रकृति के उदय में आने पर सम्यग्मिथ्या और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में आने पर समल वेदक सम्यक्त्व को जिसका कि स्वरूप ऊपर की गाथा में बताया गया है प्राप्त करके असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् इन चारों में से किसी भी एक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कदाचित् ऊपर की कषायों का क्षयोपशम भी यदि साथ में हो जाये तो वह पाँचवे, सातवें गुणस्थानों को भी प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थान के असंयत शब्द का जो प्रयोग किया है वह अन्त्यदीपक है। अतएव असंयत भाव प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक ही पाया जाता है। क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में से पाँचवें के साथ देशसंयत या सयंतासंयत और फिर उसके ऊपर के सभी गुणस्थानों के साथ संयत विशेषण पाया जाता है।

इस गुणस्थान में श्रद्धान की अपेक्षा कुछ विशेषता-

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुनियोगा।। (27)

अर्थ : सम्यग्दृष्टि जीव आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

भावार्थ : स्वयं के अज्ञानवश ''अरिहन्तदेव का ऐसा ही उपदेश है'' ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहन्त का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है। परन्तु-

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि।। (28)

अर्थ : गणधरादि कथित सूत्र के आश्रय से आचार्यादि के द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थ का समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

भावार्थ : आगम दिखाकर समीचीन पदार्थ के समझाने पर भी यदि यह जीव पूर्व में अज्ञान से किये अतत्त्व श्रद्धान को न छोड़े तो वह जीव उस ही काल से मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

इसी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के असंयत विशेषण की अपेक्षा को दृष्टि में रखकर उसके आशय को स्पष्ट करने के लिए विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो।। (29)

अर्थ : जो इन्द्रियों के विषयों से त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ : संयम दो प्रकार का होता है, एक इन्द्रिय संयम दूसरा प्राणि संयम। इन्द्रिय के विषयों से विरक्त होने को इन्द्रिय संयम, और अपने तथा पर के प्राणों की रक्षा को प्राणि संयम कहते हैं। इस गुणस्थान में दोनों संयमों में से कोई भी संयम नहीं होता, अतएव इसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। परन्तु इस गुणस्थान के लक्षण में जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि वह बिना प्रयोजन किसी हिंसा में प्रवृत्त भी नहीं होता क्योंकि यहाँ असंयम भाव से प्रयोजन अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय के क्षयोपशम से पाँचवें आदि गुणस्थानों में पाये जाने वाले देश संयम तथा आगे के संयम भाव के निषेध से है। अतएव असंयत कहने का अर्थ यह नहीं है कि सम्यगदृष्टि की प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टि के समान अथवा अनर्गल हुआ करती है। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में 41 कर्म प्रकृतियों के बंध का व्युच्छित्ति के नियमानुसार अभाव हो जाया करता है। अतएव 41 कर्मों के बंध की कारणभूत प्रवृत्तियाँ उसके न तो होती ही है और न उनका होना सम्भव ही है। अतएव उसकी अन्तरंग-बहिरंग प्रवृत्ति में नीचे के तीन गुणस्थान वालों की अपेक्षा महान् अन्तर हो जाया करता है।

पञ्चम गुणस्थान देशविरत

पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देववदो होदि पंचमओ।। (30)

अर्थ : यहाँ पर प्रत्याख्यानावरणा कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यहाँ इतनी विशेषता होती है कि अप्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय न रहने से एकदेश व्रत होते हैं। अतएव इस गुणस्थान का नाम देशव्रत या देशसंयम है। इसी को पाँचवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ : प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ त्याग-पूर्ण त्याग सकल संयम होता है। उसको आवृत्त करने वाली कषाय को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। नाम के एक देश का उच्चारण करने पर पूरे नाम का बोध हो जाता है। इसी न्याय से यहाँ गाथा में प्रत्याख्यान शब्द का प्रयोग प्रत्याख्यानावरण के लिए किए किया गया है। यह हेतु वाक्य है। इससे एकदेश संयम और चारित्र की अपेक्षा यहाँ पाया जाने वाला क्षायोपशमिक भाव ये दो बातें सूचित होती है। क्योंकि तृतीय कषाय के उदय का मुख्यतया उल्लेखनीचे की अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कषायों के उदय के अभाव को व्यक्त करता है।

औदयिकादिक 5 भावों में से चारित्र की अपेक्षा यहाँ पर केवल क्षायोपशमिक भाव ही है। किन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीन में से कोई भी एक भाव रह सकता है। किन्तु बिना सम्यक्त्व के यह गुणस्थान नहीं हो सकता यह बात 'पञ्चम' शब्द से स्पष्ट होती है। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से प्रथम अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरा और सम्यक्त्व प्रकृति के साथ यद्वा उसके बिना अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से चतुर्थ गुणस्थान होता है। इसके अनन्तर ही अप्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय एवं सदुपशम के साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से क्षायोपशमिक देशचारित्र होकर यह पञ्चम गुणस्थान हुआ करता है।

कदाचित् यह शंका हो सकती है कि बिना सम्यग्दर्शन के भी देश-संयमी देखे जाते हैं, अतएव इस गुणस्थान के लिए सम्यग्दर्शन की आवश्यकता नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है। बिना सम्यक्त्व के संयम या देशसंयम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सं.

अर्थात् सम्यक्-सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले यम-बाह्य विषयों की उपरति को ही संयम कहा जाता है। यही बात जिनैकमति आदि शब्दों के द्वारा आगे की गाथा में स्पष्ट कर दी गई है।

विरत और अविरत दोनों धर्मों में परस्पर विरोध है। अतएव इनका एक जगह सहवास नहीं रह सकता। किन्तु इस गुणस्थान को विरताविरत भी कहते हैं, सो किस तरह सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर उपपत्ति पूर्वक देते हैं।

जो तसवहाउ विरदो, अवरिदओ तह य थावर वहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई।। (31)

अर्थ : जो जीव जिनेन्द्र देव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है, उस जीव को विरताविरत कहते हैं।

भावार्थ : यहाँ पर जिन शब्द उपलक्षण है, इसलिए जिन शब्द से जिनेन्द्र-देव, उनका उपदिष्ट आगम और धर्म तथा उसके अनुसार चलने वाले गुरुओं का भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् जिनदेव, जिनागम, जिनधर्म और जिन गुरुओं का श्रद्धान करने वाला जो जीव एक ही समय में त्रस हिंसा की अपेक्षा विरत और स्थावर हिंसा की अपेक्षा अविरत होता है इसलिए उसको एक ही समय में विरताविरत कहते हैं। अर्थात् विरत और अविरत दोनों ही धर्म भिन्न-भिन्न कारणों की अपेक्षा से हैं अतएव उनका सहावस्थान विरोध नहीं है।

जिस तरह गाथा नं. 29 में निर्दिष्ट अपि शब्द से विशेष अर्थ सूचित किया गया है उसी तरह यहाँ पर भी जो ''तथा च'' शब्द पड़ा है उसका अभिप्राय भी यह है कि बिना प्रयोजन यह स्थावर हिंसा को भी नहीं करता।

छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान का लक्षण

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य, तुम्हा हु पमत्तविरदो सो।। (32)

अर्थ : सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानवरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और

नोकषाय का उदय रहने से संयम मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है। अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं।

भावार्थ : चौदह गुणस्थानों में यह छट्ठा गुणस्थान है। परन्तु पूर्ण संयम जिनमें पाया जाता है, उनमें यह सबसे पहला है। यहाँ पर पूर्ण संयम के साथ प्रमाद भी पाया जाता है। यह प्रमाद संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से हुआ करता है। आगे के गुणस्थानों में उसका मन्द, मन्दतर, मन्दतम उदय हुआ करता है। संज्वलन के तीव्र उदय में भी प्रत्याख्यानावरण के अभाव से प्रकट हुए सकल संयम का घात करने की सामर्थ्य नहीं है, उससे प्रमाद रूप मल ही उत्पन्न हो सकता है। इस गुणस्थान में भी औदयिकादि पाँच भावों में से चारित्र की अपेक्षा केवल क्षायोपशमिक भाव ही है; किन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान के समान औपशमिक, अक्षायक, क्षायोपशमिक इन तीन में से कोई भी एक भाव-सम्यक् दर्शन अवश्य पाया जाता है। क्योंकि यहाँ द्रव्य संयम की नहीं, अपितु भाव संयम ही अपेक्षा है। यद्यपि यहाँ संज्वलन का उदय पाया जाता है, फिर भी औदयिक भाव अभीष्ट-विवक्षित नहीं है। क्योंकि सकल संयम जो यहाँ हुआ है, वह संज्वलन के उदय से नहीं किन्तु प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से हुआ है।

प्रमत्त गुणस्थान की विशेषता

वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयल गुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो।। (33)

अर्थ : जो महाव्रती सम्पूर्ण (28) मूलगुण और शील के भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है वह प्रमत्त-संयत गुणस्थान वाला है। अतएव वह चित्रल आचरण वाला माना गया है।

भावार्थ : इस छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि का आचरण संज्वलन कषाय के तीव्र उदय से युक्त रहने के कारण चित्रल-चितकबरा-जहाँ पर दूसरे रंग का सद्भाव भी पाया जाय, हुआ करता है और यह व्यक्त-अव्यक्त दोनों ही प्रकार के प्रमादों से युक्त रहा करता है।

पन्द्रह प्रमादों का वर्णन

विकहा तहा कसाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस।। (34)

अर्थ : चार विकथा-स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा, चार कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, पञ्च इन्द्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, एक निद्रा और एक प्रणय-स्नेह इस तरह कुल मिलाकर प्रमादों के पन्द्रह भेद हैं।

भावार्थ : संयम के विरोधी कथा या वाक्य प्रबन्ध को विकथा, इसी प्रकार जिसमें संयम गुण का घात हो ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम को कषाय, स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने स्पर्शादि विषय में राग भाव के होने को इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि आदि तीन कर्मों के उदय से अथवा निद्रा और प्रचला के तीव्र उदय से अपने विषय के सामान्य ग्रहण को रोकने वाली जो जाड्यावस्था उत्पन्न होती है, उसको निद्रा, बाह्य पदार्थों में ममत्व परिणाम को अथवा तीव्र हास्यादि नोकषायों के उदय से होने वाले संक्लेश परिणाम को प्रणय कहते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर संज्वलन और तत्सम्बन्धी नोकषाय के तीव्र उदय से होने वाले ही परिणाम प्रमाद शब्द से विवक्षित हैं। इन पन्द्रह प्रमादों के कारण सम्यग्दर्शन या गुण शील आदि कुशलानुष्ठान में असावधानी अथवा अनादर आदि भाव हो जाया करते हैं। यही प्रमाद है जो कि संयत को प्रमत्त बना देता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहा करती, उसके बाद अप्रमत्त गुण स्थान हो जाया करता है और इन गुणस्थानों में इसी तरह हजारों बार परिवर्तन होता रहता है।

यहाँ प्रमाद के मूल में 5 प्रकार हैं - विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय। इनके क्रम से 4-4-5-1-1 भेद हैं, और सब मिलकार 15 भेद होते हैं। सब संयोगी भंग 80 है जैसा कि आगे बताया गया है। विस्तार पूर्वक भेद करके भंग निकालने पर उनकी संख्या साढ़े सैंतीस हजार होती है। यथा विकथा 25, कषाय 25, इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मिलकर 6 और निद्रा 5 तथा मोह और प्रणय का युगल 2 इन सबका परस्पर में गुणा करने पर 37500 भेद होते हैं।

मोक्षमार्ग का विशेष वर्णन

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा,
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञान शुद्धिप्रदम्।।
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,
सोपानं प्रथम विनेयविदुषामाद्येयमाराधना।। (10) आत्मा.

अर्थ : आत्मा का विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा का स्वरूप है। वह सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जो उपदेशादि बाह्य निमित्तों के बिना होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो उपदेशादि बाह्य निमित्तों से होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अथवा वह सम्यग्दर्शन, तीन प्रकार का है जो दर्शनमोह के उपशम से हो वह औपशमिक सम्यग्दर्शन है। जो दर्शनमोह के क्षय से हो वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है और जो दर्शनमोह के क्षयोपशम से हो वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

अथवा वह सम्यग्दर्शन दस प्रकार का है।

वह श्रद्धान, मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित होता है। लोकमूढ़ता, समयमूढ़ता और देवमूढ़ता के भेद से मूढ़ता तीन प्रकार की होती है। जाति, कुल आदि के भेद से मद आठ प्रकार के होते हैं। मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा इनके धारक जीव इस प्रकार छह अनायतन होते हैं। अथवा असर्वज्ञ, असर्वज्ञ का स्थान, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञ के ज्ञानयुक्त पुरुष, असर्वज्ञ का आचरण और असर्वज्ञ के आचरण सहित पुरुष-इस प्रकार ये छह अनायतन है। ये सम्यक्त्व के स्थान नहीं है इसलिये इन्हें अनायतन कहते हैं तथा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टि - इन चार दोषों का सद्भाव और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना - इन चार गुणों का अभाव इस प्रकार आठ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद और शंकादि आठ दोष-इन पच्चीस दोषों से रहित श्रद्धान ही निर्मल श्रद्धान है, क्योंकि इन दोषों के होने पर सम्यक्त्व का अभाव ही होता है अतः सम्यक्त्व मलिन कैसे होगा?

वह श्रद्धान संवेगादि गुणों के द्वारा उत्पन्न निर्मलता से वृद्धिगत होता है, अथवा

इस श्रद्धान के द्वारा संवेगादि गुण बढ़ते हैं। संसार से भयभीत होना अथवा धर्म और धर्म का फल को देखकर हर्षित होना संवेग है। आदि शब्द से निन्दा गर्हा आदि जानना चाहिये।

वह श्रद्धान संसार का नाश करने वाला और कुमति, कुश्रुत तथा विभंगावधि-इन तीनों अज्ञानों को शुद्ध करने वाला है। जो ज्ञान सम्यक्त्व के पहले कुज्ञानरूप थे, वे ही ज्ञान सम्यक्त्व के होने पर सुज्ञान हो जाते हैं।

वह श्रद्धान जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप-इन नव तत्त्वों का अथवा पुण्य-पाप को आस्रव में गर्भित करके सात तत्त्वों का निश्चय करता है।

मोक्षरूपी मन्दिर में चढ़ने वाले पण्डित और बुद्धिमान शिष्यों के लिये वह श्रद्धान प्रथम सीढ़ी है। उस मोक्ष-मन्दिर से जीव कभी च्युत नहीं होता। ऐसे सम्यक्त्व के होने के बाद ही अन्य साधन होते हैं। यह सम्यक्त्व चार आराधनाओं में सर्वप्रथम आराधना है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन का कथन किया।

सम्यक्त्व के आज्ञा आदि दस भेद

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढ़ं च।। (11)

अर्थ : आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार और अर्थ से उत्पन्न होने के कारण आठ भेद होते हैं तथा प्रारम्भ में अव और परभाव विशेषण युक्त गाढ़पना होने से अवगाढ़ और परमावगाढ़-ये दो भेद मिलाकर सम्यक्त्व के कुल दस भेद जानना चाहिये।

भावार्थ : हेय, उपादेय तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय रहित (श्रद्धान रूप) सम्यक्त्व तो एक ही प्रकार का है। आज्ञा आदि आठ कारणों से उत्पन्न होने की अपेक्षा उसके आठ भेद किये गये हैं। ज्ञान की प्रकर्षता सहित होने की विशेषता की अपेक्षा अवगाढ़ और परमावगाढ़ ये दो भेद किये गये है। इस प्रकार सम्यक्त्व के दस भेद जानना चाहिये।

आज्ञा मार्ग और उपदेश सम्यक्त्व का स्वरूप

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञायैव।
त्यक्त्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदे शादिरादेशि दृष्टिः।। (12)

अर्थ : हे भव्य! शास्त्र-पठन के बिना वीतराग की आज्ञा से अर्थात् वचन सुनने मात्र से होने वाले श्रद्धान को आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं।

विस्तृत ग्रन्थों को सुने बिना, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित कल्याणकारी मोक्ष-मार्ग की श्रद्धा से दर्शनमोह उपशान्त होने के कारण होने वाले सम्यक्त्व को मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं।

तीर्थंकरादिक उत्कृष्ट पुरुषों के पुराण के उपदेश से उत्पन्न होने वाले सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पुरुष आगम-समुद्र में प्रवीण है, उनके उपदेश से होने वाली दृष्टि को उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं।

सूत्र, बीज और संक्षेप सम्यक्त्व का स्वरूप

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्धानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः।। (13)

अर्थ : मुनियों के आचरण के विधान का प्रतिपादन करने वाले आचार सूत्रों को सुनने से उत्पन्न होने वाला श्रद्धान सूत्र सम्यक्त्व कहलाता है। जो यह श्रद्धान करता है, उसे भले प्रकार सूत्र दृष्टि वाला कहा जाता है।

गणितज्ञान के कारणभूत बीजों की उपलब्धि अर्थात् श्रद्धान रूप परिणति को बीज सम्यक्त्व कहते हैं। यह श्रद्धान दर्शन मोह के उपशम से होता है। इसके द्वारा जिनका जानना अत्यन्त कठिन है - ऐसे पदार्थों के समूह का ज्ञान होता है। इस ज्ञान से युक्त करणानुपयोग के ज्ञानी भव्य जीव को बीजदृष्टि होती है। पदार्थों को संक्षिप्त

रूप से जानने से होने वाले श्रद्धान को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। इस श्रद्धानयुक्त जीव को भले प्रकार संक्षेप दृष्टि होती है।

विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गी कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टि,
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थ दृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनभवगाह्योत्थिता यावगाढः,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढ़ेति रुढ़ा।। (14)

अर्थ : हे भव्य! तू द्वादशांगरूप वाणी को सुनकर होने वाली रुचि को विस्तार सम्यक्त्व जान। ऐसी रूचिवाले जीव को विस्तारदृष्टि कहते हैं।

जैन शास्त्रों के वचनों के बिना किसी अर्थ के निमित्ति से होने वाली दृष्टि अर्थदृष्टि है। इसे ही अर्थ सम्यक्त्व जानना चाहिये।

अंग और अंगबाह्य सहित जैन शास्त्रों में अवगाहन करने से उत्पन्न होने वाली दृष्टि अवगाढ़ दृष्टि है। इसी को अवगाढ़ सम्यक्त्व जानना चाहिये।

केवलज्ञान द्वारा जाने गये पदार्थों का श्रद्धान परमावगाढ़ दृष्टि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी को परमावगाढ़ सम्यक्त्व जानना चाहिये।

इस प्रकार सम्यक्त्व के दस भेदों का स्वरूप कहा।

भावार्थ : यहाँ सम्यक्त्व के दस भेद कहे हैं। जो श्रद्धान वीतराग के वचनों से ही उत्पन्न हो, वह आज्ञा सम्यक्त्व है। जो मोक्षमार्ग ही के श्रद्धान से उत्पन्न हो, वह मार्ग सम्यक्त्व है। उत्तम पुरुषों के पुराण आदि सुनने से उत्पन्न होने वाला श्रद्धान उपदेश सम्यक्त्व है। मुनियों के आचरण सुनने से उत्पन्न होने वाला श्रद्धान सूत्र सम्यक्त्व है। बीजगणित आदि के द्वारा करणानुयोग के निमित्त से होने वाला श्रद्धान बीज सम्यक्त्व है। संक्षेपरूप से पदार्थों का स्वरूप सुनकर होने वाला श्रद्धान संक्षेप सम्यक्त्व है। द्वादशांग को सुनकर होने वाला श्रद्धान संक्षेप सम्यक्त्व है। किसी दृष्टान्त आदि रूप पदार्थ से होने वाला श्रद्धान अर्थ सम्यक्त्व है।

श्रुत केवली को होने वाला श्रद्धान अवगाढ़ सम्यक्त्व है। केवल-ज्ञानी को होने वाला श्रद्धान परमावगाढ़ सम्यक्त्व है। इस प्रकार एक सम्यक्त्व के अन्य निमित्तों

की अपेक्षा दस भेद जानना चाहिये।

गृहस्थाश्रम के त्याग की प्रेरणा

सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं,
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा,
मत्तोन्मत्तविचिष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा।। (41) आत्मा.

अर्थ : यह गृहस्थाश्रम इस जीव का कल्याण करने वाला सर्वथा नहीं है। जिस प्रकार मतवाला व्यक्ति अनेक प्रकार की उन्मत्त चेष्टायें करता है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम बुद्धिमान पुरुषों के भी अनेक प्रकार के चरित्र करता है। कभी तो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषधोपवास आदि से जीव को धर्ममय करता है; कभी स्त्री सेवनादि द्वारा पापमय करता है और कभी पूजा, प्रभावना, तीर्थयात्रा, चैत्य-चैत्यालय निर्माण इत्यादि कार्यों द्वारा पुण्य-पाप दोनों रूप करता है। इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे द्वारा रस्सी बुनने जैसी या गज-स्नान करने जैसी पागलों की चेष्टा है।

गृहस्थाश्रम में होने वाले निरर्थक क्लेशों का वर्णन

कष्ट्वोप्त्वा नृपतीत्रिषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया।। (42)

अर्थ : हे जीव! तू इस गृहस्थाश्रम में सुख के लिये चिरकाल से व्यर्थ क्लेश करता है, परन्तु इसमें सुख नहीं है। तू हल से खेल जोतकर बीज होता है, खड्ग धारण करके राजा आदि की सेवा करता है, लेखन वृत्ति से उद्यम करता है, व्यापार के लिये वन और समुद्र में भटकता है। तूने अज्ञान केकारण चिरकाल से ये कष्ट सहन किये हैं। हाय-हाय! तेरी यह चेष्टा बालू में से तेल निकालने के समान और विष से जीवित रहने के समान है।

अहो प्राणी! तुझे आशारूपी ग्रह शान्त करने से ही सुख होगा, तृष्णा से नहीं-

ऐसा न जानकर अज्ञानी होता हुआ तू व्यर्थ परिश्रम करता है।

आशारूपी अग्नि से दग्ध व्यक्ति की चेष्टा
आशाहुताशनग्रस्त वस्तूच्चैर्वंशजा जनाः।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखधर्मापनोदिनः।। (43)

अर्थ : आशारूपी अग्नि से दग्ध तथा कनक-कामिनी आदि वस्तुओं को निश्चय से भला जानने वाला व्यक्ति गर्मी में शीतलता प्राप्त करने के लिये बॉस की छाया ग्रहण करता है, परन्तु उसका यह प्रयास व्यर्थ है क्योंकि उससे धूप की गर्मी नहीं मिटती।

न्यायोपार्जित धन से कभी सम्पदा नहीं बढ़ती

शुद्धदैर्धनैर्विवधन्ते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।। (45)

अर्थ : जिस प्रकार निर्मल जल से कभी भी समुद्र पुरा नहीं भरता उसी प्रकार अहो प्राणी! न्यायोपार्जित धन से सज्जनों की भी सम्पदा नहीं बढ़ती है।

धर्म, सुख, ज्ञान और गति का स्वरूप

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्रद्ध नासुखम्।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः।। (46)

अर्थ : धर्म वही है, जिसमें अधर्म नहीं, सुख वही है, जिसमें दुःख नहीं, ज्ञान वही है, जिसमें अज्ञान नहीं और गति वही है, जिसमें आगति (पुनरागमन) नहीं।

धनोपार्जन छोड़कर धर्म-साधन की प्रेरणा

वार्तादिभिर्विषयलोल विचार शून्यं
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्धया।
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम्।। (47)

अर्थ : हे विषय लालुपी! विचार हीन!! इस लोक में धनोपार्जन के लिये

असि, मसि, कृषि, वाणिज्यादि प्रयत्नों से तू जो कष्ट बारम्बार करता है, यदि एक बार पर-लोक के लिये ऐसा प्रयत्न करें तो तुझे जन्म-मरणादि दुःख न होंगे। अतः तू धन का साधन छोड़कर धर्म का साधन कर।

मोहरूपी अग्नि की विशेषता

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः।। (56)

अर्थ : हे भव्य जीव! ईंधन की उपलब्धि से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है और ईंधन के अभाव में बुझ जाती है, परन्तु यह मोहरूपी अति प्रबल अग्नि परिग्रहरूपी ईंधन की उपलब्धि से तृष्णारूप होकर और परिग्रह के अभाव में व्याकुलतारूप होकर प्रज्जवलित होती है। यह दोनों स्थिति में प्रज्जवलित होती है, इसलिये मोहाग्नि के समान और कोई अग्नि नहीं है।

भावार्थ : अग्नि तो ईंधन के योग से प्रज्ज्वलित होती है और ईंधन के वियोग से बुझ जाती है, परन्तु वह मोहाग्नि परिग्रह के बढ़ने पर तृष्णारूप होती है और परिग्रह के घटने पर - व्याकुलतारूप होती है। जब असाता के योग से कुछ नहीं मिलता है, तब तृष्णा बढ़ती जाती है। सौ वस्तुयें मिले तो हजार वस्तुओं की और हजार वस्तुयें मिले तो लाख वस्तुओं की तृष्णा हो जाती है। इस प्रकार इसलिये पदार्थों के संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में मोहरूपी अग्नि दाह की उत्पन्न करती है। सन्तोष के बिना सुख नहीं है, कोई विवेकी जीव शान्तभावरूप जल से इसे बुझाये, तभी सुखी हो सकता है।

परिग्रह रहित यति ही महासुखी

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तिः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी।। (65)
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः।। (66)

अर्थ : सभी वस्तुओं के अभिलाषी निर्धन, धन रहित होने से महादुःखी हैं

और जो धनवान हैं, वे भी तृप्ति रहित होने से तृष्णा के कारण महादुःखी है। इस प्रकार जगत के सभी जीव दुःखी है।

वास्तव में विचार करें तो सन्तोषी महामुनि ही महासुखी हैं। पराधीन सुख से स्वाधीन दुःख ही श्रेष्ठ है, यदि ऐसा न हो तो तपस्वी मुनियों को सुखी कैसे कहा जाये?

भावार्थ : जगत में जितने भी जीव हैं, वे सभी दुःखी हैं। जो निर्धन हैं, वे सर्वसामग्री रहित हैं, इसलिये अपने को दुःखी मानते हैं। तथा जो धनवान है, उनकी तृष्णा बढ़ती रहती है और तृप्ति नहीं होती, अतः तृप्ति के बिना उन्हें सुख कैसे होगा? इसलिये वे भी महादुःखी हैं।

शास्त्र में मुनियों को ही सुखी कहा है, औरों को नहीं। जगत में सभी कुछ पराधीन है, अतः पराधीन सुख से स्वाधीन दुःख ही श्रेष्ठ है। पराधीनता में सुख मानना वृथा है। यदि पराधीनता में सुख होता तो स्वाधीनता से महातप करने वाला मुनिराज सुखी क्यों कहे जाते? अतः यही निश्चित हुआ कि जिनको आशा है वे दुःखी हैं और जिन्हें आशानहीं है वे सुखी हैं। सभी संसारी जीव आशा के दास होने से इन्द्रियों की आधीनता से दुःखी हैं तथा मन और इन्द्रियों को जीतने वाले आशा के त्यागी मुनि सदा सुखी ही हैं।

मुनियों के गुणों की प्रशंसा

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं,
सहायैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम्।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्,
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः।। (67)
विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा,
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदनी।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो,
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः।। (68)

अर्थ : मुनियों की क्या महिमा कही जाये? वे स्वाधीन विहार करते हैं, दीनता

रहित भोजन करते हैं और मुनिसंघ में वास करते हैं, उनके मन का वेग मन्द हो गया है, जिससे शान्त भावों को प्राप्त करके वे निरन्तर आत्मविचार में लीन रहते हुए कभी-कभी बाह्य क्रियायें करते हैं। उनकी ऐसी परमदशा किस उदार (महान्) तप की परिणति है - हम नहीं जानते।

अतुल वैराग्य, शास्त्र का चिंतवन, सर्वोत्कृष्ट सर्व जीव दया, एक नय के हठाग्रह स्वरूप एकान्तवाद रूपी महा-अन्धकार के विस्तार को नष्ट करने के लिये सूर्य की किरण के समान बुद्धि तथा अन्त समय में शास्त्रोक्त विधि से अनशन पूर्वक शरीर त्याग आदि क्रियायें सत्पुरुषों को अल्प तप का नहीं अपितु महातप का फल है।

भावार्थ : सभी जीव पराधीन हैं, इन्द्रियों के अधीन है। वे गमन भी करते हैं तो कामना की पूर्ति के लिये करते हैं, परन्तु साधु स्वाधीन विहार करते हैं, उन्हें कोई कामना नहीं है। वर्षा ऋतु के अतिरिक्त मुनि कभी एक स्थान पर नहीं रहते, क्योंकि एक स्थान पर रहने से लोगों में स्नेह बढ़ता है, इसलिये वे वैराग्य भाव की वृद्धि के लिये विहार करते हैं।

मुनिराज दीनता रहित होकर भोजन करते हैं। जगत के जीवों का भोजन दीनता सहित होता है। निर्धनों की दीनता तो प्रत्यक्ष ही दिखती है, उनके घर में तो सामग्री नहीं है और दूसरों के यहाँ से लाकर काम चलायें तो सामग्री मिलना मुश्किल है। धनवान भी अनेक वस्तुओं के अभिलाषी होते हैं, परन्तु देश-काल के योग से कोई अभिलाषा पूर्ण होती है, कोई नहीं होती, इसलिये उनका भोजन भी दीनता सहित है। एक मुनि ही दीनता रहित है, क्योंकि उनके लिये लाभ-अलाभ, रस-नीरस सब समान हैं।

मुनिराज को अन्य मुनियों के संग में रहने के समान और कोई उत्कृष्ट संग नहीं है। लोक में तो कुसंग ही है। सबसे बड़ा कुसंग तो स्त्री का है, जिसकी संगति से काम-क्रोधादि उत्पन्न होते हैं, जबकि साधुओं की संगति से काम-क्रोधादि विलीन हो जाते हैं।

जगत के जीव अन्य अनेक अभ्यासों में लगे रहते हैं, जबकि साधु श्रुत का ही अभ्यास करते हैं। शास्त्राभ्यास के फल में उन्हें शान्त भाव प्रगट हो जाता है जबकि मूढ लोग शास्त्राभ्यास से भी मदोन्मत्त हो जाते हैं, यह बड़ा दोष है।

मुनियों के मन का वेग मन्द हो गया है जबकि लोक का मन महाचंचल होकर बाह्य वस्तुओं में ही भटकता रहता है। मुनियों का मन आत्म-विचार में लगा रहता है और कभी-कभी बाह्य शुभ क्रियाओं में भी लगता है। अशुभ क्रियाओं का तो नाम भी नहीं है।

मुनियों की ऐसी दशा होती है, यह उनके कौनसे उत्कृष्ट तप का फल है, मैं नहीं जानता।

मुनिराज को संसार, शरीर और भोगों से उदासीनता रूप अतुल वैराग्य होता है। जगत के जीवों को राग-द्वेष का तीव्र उदय होता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से यद्यपि मिथ्यादृष्टियों के समान रागी नहीं है, तथापि अप्रत्याख्यान के उदय से रागी हैं। अणुव्रती श्रावक यद्यपि मिथ्यादृष्टियों के समान रागी नहीं है, तथापि अप्रत्याख्यान के उदय से रागी हैं। अणुव्रती श्रावक यद्यपि अप्रत्याख्यानके अभाव से अव्रत सम्यग्दृष्टियों से अधिक वैराग्य युक्त हैं, तथापि प्रत्याख्यान के उदय से अल्परागी हैं। मुनियों को तो प्रत्याख्यान का अभाव भी हो गया है, इसलिये उन्हें विषयानुराग तो सर्वथा मिट गया है, संज्वलन कषाय के उदय से कुछ धर्मानुराग शेष रहता है, यही छठवाँ गुणस्थान है। इससे ऊपर के गुणस्थानों में वीतरागभाव की ही वृद्धि होती है, इसलिये मुनियों को अतुल वैराग्य कहा गया है। उनका धर्मानुराग भी वीतराग भाव का ही कारण है।

मुनियों को छठवें गुणस्थान में शास्त्र का चिन्तवन होता है। ऊपर के गुणस्थानों में आत्मध्यान ही है। मुनियों जैसा शास्त्रज्ञान औरों को नहीं होता। अज्ञानी जीव तो विकथाओं में ही आसक्त रहते हैं, उन्हें शास्त्र का अनुराग नहीं होता। अव्रत सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती श्रावक यद्यपि जिन सूत्र के अभ्यासी है तथापि परिग्रह के योग से वे अल्पश्रुतवान ही हैं बहुश्रुतवान नहीं। बहुश्रुतवान मुनिराज ही शास्त्र के पारगामी हैं।

मुनियों के समान जीवदया औरों को नहीं होती। अज्ञानी जीव तो सदा निर्दयी ही हैं। अव्रत सम्यग्दृष्टि भावों की अपेक्षा तो दयारूप ही हैं, तथापि बहु-आरम्भ-परिग्रह के योग से दया नहीं पलती। अणुव्रती को अल्प प्रारम्भ और अल्प-परिग्रह के योग से अल्प हिंसा है, उन्हें त्रस जीवों की हिंसा तो सर्वथा नहीं है, स्थावर जीवों की

हिंसा है, इसलिये उन्हें सर्वथा अहिंसा नहीं कहा है। सर्वथा अहिंसा तो मुनिराज को ही होती है, वे महा दयावान है।

मुनियों की बुद्धि एकान्तवादरूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य की प्रभा के समान है। अन्य जीवों की बुद्धि ऐसी प्रकाशरूप नहीं होती। यद्यपि सम्यग्दृष्टि श्रावकों की बुद्धि एकान्तवादरूप अन्धकार से रहित स्याद्वाद श्रद्धानरूप परिणमित हुई है तथापि वह मुनियों की शिक्षावृत्य के साथ है [मुनियों की शिक्षा पर आधारित है] स्याद्वाद विद्या के गुरु मुनिराज ही हैं।

मुनिराज आयु के अन्त में अनशनादि तप करके शरीर का त्याग करते हैं। उत्कृष्ट आराधना मुनियों को ही होती है। अणुव्रती श्रावक को मध्यम आराधना है और अव्रत सम्यग्दृष्टियों को जघन्य आराधना है। अन्य जगवासी जीव आराधना रहित विराधक ही है।,

मुनियों की उपर्युक्त अलौकिक वृत्ति बतलायी, वह उनके अल्पतप की विधि का फल नहीं, अपितु पूर्ण तप का फल है। (अर्थात् ऐसी अलौकिक वृत्ति अल्प तप से प्रगट नहीं होती, पूर्ण तप से ही हो सकती है।)

ज्ञान-ज्योतिवन्त जीव धन्य हैं

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैर्रचिता यौवनान्तम्।
धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनी शंकयालोक्यते ते।। (88)

अर्थ : गृहस्थाश्रम में अविच्छिन्न सुखों में पला और मनोहर अंगों से युक्त स्त्रियों के चपल नेत्र-कमलों द्वारा सम्मानित एवं रमणीय शरीर था परन्तु अब यौवन अवस्था में बोधि प्राप्त एवं पूज्य होने पर तेरा वह शरीर भस्म हो गया, अतः वन में हिरणियों द्वारा कमलिनी की आशंका से देखा जाता है, अतः तू धन्य है।

भावार्थ : जीवों की ऐसी प्रवृत्ति है कि उन्हें अभ्यास होता है वे वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये बहुत से जीव तो मनुष्य भव पाकर दुःख ही सहते हैं (अर्थात् उनसे दुःख सहन हो जाता है) परन्तु कुछ लोग पूर्व पुण्योदय से सुख

समाज स्त्री आदि कारणों से बहुत सुखी होने पर भी, ज्ञान होने पर यौवनावस्था में ही दीक्षा लेकर तप करते हैं, उन्हें हिरणी जैसा चंचल जीव जले हुए ठूँठ के समान देखता है, अतः वे जीव धन्य हैं, सर्व प्रकार स्तुति करने योग्य हैं।

देखो! आत्मज्ञान की कोई ऐसी ही महिमा है। परम सुखी तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी दीक्षा लेकर सुमेरु पर्वत के समान निश्चल हो गये। बाहुबली आदि ने ऐसी प्रतिमा योग धारण किया कि उनके शरीर से बेलें लिपट गई। जिन सुकुमालजी को सरसों भी चुभती थी, उन्हें स्यालिनी खाने लगी, तो भी वे निश्चल रहे। ऐसे अनेक पुरुष भूतकाल में हुये हैं - वे सब धन्य हैं।

रागादि छोड़ने की प्रेरणा

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलामवृतिभिः ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम्।। (106)

अर्थ : हे भव्य! तूने स्वयं कुज्ञान और रागादिरूप विपरीत चेष्टाओं के द्वारा जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है। अतः अब तू ऐसी प्रतीति कर कि इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ करके उनके फल से विपरीत फल (मुक्ति) प्राप्त हो।

भावार्थ : लोक में भी ऐसा नियम है कि जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है उससे विपरीत कारण से विपरीत फल उत्पन्न होता है। जैसे-गर्मी से होने वाला रोग उससे विपरीत शीतल वस्तु से नष्ट हो जाता है। अतः हे भव्य! तूने अज्ञान और असंयम से जन्म मरणादि के दुःखरूप फल पाये हैं। यदि किसी कारण से एक ही बार कोई कार्य उत्पन्न हो तो यह भ्रम हो सकता है कि यह कार्य किसी और कारण से उत्पन्न हुआ होगा, परन्तु संसारी जीव तो अनादि से बारम्बार अज्ञान और असंयम का सेवन कर रहे हैं और इन्हें जन्म-मरण का दुःख होता दिख रहा है इसलिये यहाँ कोई भ्रम भी नहीं है।

किसी पदार्थ को जब-जब खायें, तब-तब वही रोग उत्पन्न हो तो जानना चाहिये कि यह पदार्थ ही इस रोग का कारण है। यदि किसी और को रोग हुआ तो भी (रोग के कारण के सम्बन्ध में) भ्रम हो सकता है। अतः तू स्वयं ही विचार कर कि ''मैं कैसा परिणमन कर रहा हूँ और क्या फल पा रहा हूँ।'' इसलिये यदि तुझे यह

फल बुरा लगता हो तो तू जैसे अज्ञानरूप परिणमन कर रहा है, वैसे परिणमन करना छोड़।

अज्ञान और असंयम से विपरीत सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं, उनका सेवन करने पर जन्म-मरणादि फल से विपरीत अविनाशी सुखरूप मोक्ष-फल प्राप्त होता है। इसमें कोई भ्रम भी नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन करने वाले जीव थोड़े हैं, उन्हें अज्ञान-असंयम जनित आकुलता मिटने से तत्काल ही कुछ सुख होता है तथा अधिक सेवन से बहुत सेख होता दिखता है। अतः जिस प्रकार किसी औषधि के सेवन से रोग घटता हुआ भासित हो तो जान लेना चाहिये कि इसके सेवन से रोग का सम्पूर्ण नाश भी होगा, उसी प्रकार यहाँ भी निश्चय करना चाहिये कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सेवन से सभी दुःखों का नाश होगा। इसलिये इनका सेवन करना युक्त है।

दया-दम आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ।। (107)

अर्थ : हे जीव! स्व-पर की करुणा करना दया, इन्द्रिय मन को वश करना दम, पर - पदार्थों से राग छोड़ना त्याग और वीतराग दशा रूप सुखी समाधि है - इनकी परम्परारूप मार्ग पर प्रयत्नशील होता हुआ, निष्कपट होकर गमन कर - यही मार्ग तुझे वचन-अगोचर और निर्विकल्प परम पद की प्राप्ति करायेगा।

भावार्थ : जिस प्रकार कोई अपने इष्ट स्थान पर जाने के लिये सही रास्ते पर सीधा चला जाये तो वह उस नगर में अवश्य पहुँचेगा, उसी प्रकार जो जीव सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सच्चे मोक्षमार्ग में गर्भित दया, दम, त्याग आदि में निष्कपट होकर प्रवर्तेगा, वह अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति करेगा। ''मैं साधना तो करूँगा, परन्तु यदि सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई तो'' - ऐसा भ्रम करके शिथिल मत होना। इस साधन से साध्य की सिद्धि अवश्य ही होती है।

परमात्मा बनने का रहस्य

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।

योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।। (110) आत्मा.

अर्थ : मैं आकिञ्चन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है - ऐसी भावना करके तू बैठ जा। इससे तू शीघ्र तीन लोक का स्वामी हो जायेगा। योगीश्वरों द्वारा गम्य परमात्मा बनने का यही रहस्य हमने तुझे कहा है।

भावार्थ : अज्ञान के कारण पर - पदार्थों में ममत्व होता है और पर पदार्थ अपने नहीं होते, इसलिये यह जीव हीन अवस्था को प्राप्त हो रहा है परन्तु जब यह जीव ऐसी भावना करता है कि परद्रव्य मेरा नहीं है, तब इसे परम उदासीनतारूप चरित्र होता है, जिसके फल से इसे तीन लोक अपना स्वामी माने- ऐसा पद प्राप्त होता है। यह रहस्य योगीश्वर जानते हैं, वही हमने तुझे कहा है। तू भी ऐसी भावना कर - ऐसी शिक्षा हम तुझे देते हैं।

अशुभ और शुभ छोड़ने का क्रम

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः।। (122)

अर्थ : जिस प्रकार सान्ध्यकालीन अवस्था प्राप्त किये बिना होने वाले सूर्य को अन्धकार प्रगट नहीं होता उसी प्रकार यह जीव आगम ज्ञान पूर्वक अशुभ से छूटकर शुभ को प्राप्त होता हुआ शुद्ध होता है।

भावार्थ : जिस प्रकार जब तक सूर्य में सन्ध्या कालीन लालिमा नहीं होती, तब तक वह अस्त नहीं होता और अन्धकार प्रगट नहीं होता उसी प्रकार जो अशुभ राग रहित आत्मा होकर क्रम से शुभ राग रूप होकर शुद्ध केवलदशा को प्राप्त होता है और उसे अज्ञानादि अन्धकार उत्पन्न नहीं होते।

ज्ञानियों का तप और श्रुत के प्रति अनुराग कल्याणकारी

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबंधनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदाय सः।। (123)

अर्थ : जिस प्रकार सूर्य की प्रातःकालीन लालिमा उसके उदय के लिये ही होती है, उसी प्रकार अज्ञान अन्धकार रहित ज्ञानी जीव को तप और शास्त्र सम्बन्धी राग भाव कल्याण के उदय के लिये ही है।

भावार्थ : सन्ध्याकालीन सूर्यास्त के समय जैसी लालिमा होती है, वैसी ही लालिमा प्रातःकालीन सूर्योदय के समय भी होती है, परन्तु प्रातःकाल की लालिमा और सन्ध्याकाल की लालिमा में इतना भेद है कि प्रातःकाल के समय रात्रि के अन्धकार का नाश करके संधिकाल में होने वाली लालिमा आगामी काल में सूर्य के शुद्ध उदय का कारण है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव को जैसा राग विषयादि के प्रति होता है, वैसा ही राग तप और शास्त्रादि के प्रति होता है, परन्तु तप और शास्त्र के प्रति जो राग मिथ्यात्व सम्बन्धी अज्ञान का नाश करके सन्धिकाल में उत्पन्न होता है, वह भविष्य में जीव की शुद्ध कैवल्य दशारूप उदय का कारण है।

मोक्षमार्ग की यात्रा

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं,
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहूलश्छाया दयाभावना,
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः।। (125)

अर्थ : जहाँ ज्ञानरूपी मार्गदर्शक आगे-आगे चलता हो, लज्जारूपी सहचरी हो तपरूपी का संबल हो, चारित्ररूपी जैसा पालक हो, स्वर्ग जैसा विश्राम स्थल हो, गुणरुपी रक्षक हो, जो सीधा हो, जिसमें उपशम रूपी जल का बाहुल्य हो, दयारूपी छाया हो और भावनारूपी गमन हो ऐसी सामग्रीयुक्त मार्ग में चलने वाले मुनि निरापदरूप से अभीष्ट स्थान को पहुँच जाते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी नगर को गमन करे और उसे योग्य मार्गदर्शक आदि अनेक सामग्री मिले तो वह निरापदरूप से उस नगर में पहुँच जाता है, उसी प्रकार किसी मोक्षाभिलाषी भव्य जीव को ज्ञानादिक सामग्री मिले तो वह निरापदरूप से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार किसी यात्री को मार्गदर्शक मार्ग बताता है उसी प्रकार ज्ञान मोक्षमार्ग में हेयोपादेय तत्त्वों का निर्णय कराता है।

जिस प्रकार स्त्री साथ में होने से मार्ग में सुखपूर्वक गमन होता है, उसी प्रकार धर्म सम्बन्धी लज्जा साथ में होने से मोक्ष मार्ग में सुख पूर्वक प्रवर्तन होता है।

जिस प्रकार खर्च करने वाला व्यक्ति साथ हो तो शिथिलता नहीं होती उसी प्रकार तप का साधन होने से मोक्ष मार्ग में शिथिलता नहीं रहती।

जिस प्रकार चढ़ाई आदि के समय पालकी में बैठकर गमन करने से थकान नहीं होती, उसी प्रकार निष्कषायरूप चारित्र भाव से मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने पर खेद नहीं होता।

जिस प्रकार मार्ग में ठहरने के स्थान अच्छे हो तो वहाँ विश्राम हो सकता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में ठहरने के स्थान स्वर्ग है, वहाँ सुखपूर्वक विश्राम हो सकता है।

जिस प्रकार रक्षा करने वाले साथ हो कोई लूटता नहीं है। उसी प्रकार मोक्षमार्ग में क्षमादिक गुण रक्षा करने वाले है, अतः क्रोधादिक नहीं लूटते हैं।

जिस प्रकार मार्ग सीधा हो तो आसानी से गमन हो सकता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग सरल अर्थात् कपट रहित है इसीलिये उसमें सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो सकती है।

जिस प्रकार मार्ग में जगह-जगह जल उपलब्ध हो तो प्यास की तकलीफ नहीं होती उसी प्रकार मोक्षमार्ग में उपशमभावरूपी जल होने से तृष्णा का दुःख नहीं होता।

जिस प्रकार मार्ग में छाया होने से धूप का कष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में स्व पर दया होने से संताप नहीं होता है।

जिस प्रकार गमन करने से गंतव्य नगर में पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार शुद्ध भावना से मोक्ष मार्ग में गमन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार उपर्युक्त समस्त सामग्री मिलने पर पथिक अभीष्ट नगर पहुँच जाता है उसी प्रकार मोक्षमार्गी भी इष्ट सामग्री (मार्गदर्शन आदि) मिलने पर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

निकट भव्य जीवों को होने वाले भाव

विषयविरतिः संगत्याग कषायनिविग्रहः,
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।। (224) आत्मा.

अर्थ : विवेकी जीवों को संसार-समुद्र का किनारा निकट आने पर विषयों से विरक्तता, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, शम (शान्ति अर्थात् रागादि का त्याग) दम (मन और इन्द्रियों का निरोध) और यम (जीवन पर्यन्त हिंसादि पापों का त्याग) इनका धारण, तत्त्व का अभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मन की वृत्तियों का निरोध, जिनेन्द्र भक्ति और जीवों की दया इत्यादि सामग्री प्राप्त होती है।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहितनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।। (225)

अर्थ : यम और नियम योग के मूल हैं, यम अर्थात् अयोग्य क्रियाओं का आजीवन त्याग और नियम अर्थात् घड़ी, पल, प्रहर, पक्ष, मास, चार्तुमास आदि की मर्यादा में संवर या त्याग। इनके पालन में साधु सदैव तत्पर रहते हैं। वे महाशान्त - चित्तवाले होते हैं। उनके भावों में देहादि बाह्य पदार्थों से निर्वृत्ति हो जाती है। समाधि अर्थात् निर्विकल्प दशा रूप परिणमित होते हैं। सभी जीवों के प्रति दया भाव रखते हैं। होते हैं।विहित अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से योग्य अल्प आहार लेते हैं। निद्राजयी होते हैं अध्यात्म के सारभूत आत्म स्वभाव का निश्चय करने वाले होते हैं। निरन्तर आत्मानुभव में मग्न।

गुणों से मण्डित मुनिराज ही मुक्ति के पात्र

समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजन ते विमुक्ताः।। (226)

अर्थ : जो समस्त त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का स्वरूप भलीभाँति जानते हैं, हिंसादि सभी पापों से दूर हैं, जिनका चित्त आत्मकल्याण के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, सर्व इन्द्रियों के विषयों से निर्वृत हो गये हैं, जिनके वचन स्व और पर का कल्याण करने वाले हैं और जो समस्त

संकल्प-विकल्पों से रहित हैं - वे महापुरुष सर्व प्रपञ्चों से रहित होते हुए मुक्ति के भाजन (पात्र) क्यों न होंगे? अर्थात् वे निःसंदेह शिव-सुख के पात्र होंगे।

भावार्थ : जो सर्व प्रपञ्चों से रहित होता है, वही मुक्त होता है, क्योंकि मुक्ति का मूल निःप्रपञ्चपना ही है। जो हेयोपादेय को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करते हैं और आत्मकल्याण के कारणभूत रत्नत्रय को ग्रहण करके विषयों से विरक्त होते हैं, वे भवसागर से पार होते हैं।

योगी कौन

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः।। (246) आत्मा.

अर्थ :

जिस विरक्त जीव के पुण्य और पाप, फल दिये बिना ही खिर जायें अर्थात् पुण्य का फल स्वर्ग और पाप का फल नरक न दे सकें-वही योगी है, उसे निर्वाण ही होता है, पुनः आस्रव नहीं होता।

भावार्थ : पुण्य पाप ही संसार-भ्रमण के मूल कारण हैं। जैसे फल का मूल पुष्प है यदि पुष्प ही खिर जाये तो फल कहाँ से होगा? वैसे जीवों को चतुर्गति भ्रमण रूप फल का कारण शुभाशुभ कर्मों का उदय है। लेकिन महामुनियों के शुभाशुभ कर्म ही खिर गये तो नया शरीर कैसे होगा? इसलिये उन्हें तो निर्वाण ही होता है।

आत्मा का स्वरूप

अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः।। (266)

अर्थ : आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता और कभी नष्ट नहीं होता। उसकी कोई मूर्ति नहीं है, अतः वह अमूर्तिक है। व्यवहारनय से कर्मों का कर्त्ता है और निश्चयनय से अपने स्वभाव का कर्त्ता है। व्यवहारनय से दुख-दुःख का भोक्ता है और निश्चयनय से अपने स्वभाव का भोक्ता है।

वह अज्ञान से इन्द्रियजन्य सुख को सुख मानता है और निश्चयनय से परमानन्दमय

और ज्ञानरूपी है। व्यवहारनय से देह मात्र है। निश्चयनय से चेतना मात्र है तथा कर्ममल से रहित होकर वह लोक के शिखर पर जाकर प्रभु होकर अचलरूप से स्थित हो जाता है।

अनन्त सुखमय हैं सिद्ध भगवान

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत् सुखं यदि तपस्विनाम्।
स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम्।। (267)

अर्थ : जब मुनियों के स्वाधीन काय-क्लेशरूप दुःख को भी सुख कहा है तो सिद्धों को सुखी क्यों न कहें? वे तो सदा स्वाधीन सुखमय ही हैं।

भावार्थ : तत्त्वदृष्टि की अपेक्षा जगत के जीव दुःखी हैं, उनमें सम्यग्दृष्टि मुनि ही सुखी कहे गये हैं, तो सिद्ध तो केवल आनन्दरूप ही हैं।

अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	अविरतसम्यक्त्व
१.	गुणस्थान	१४	१ अविरत सम्यक्तव गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	२ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त, ७ अपर्याप्त
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	४
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	१३ आहारकद्विक बिना
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	२१ अनन्तानुबन्धी ४ बिना
१२.	ज्ञान	८	३ (मति, श्रुत, अवधि)
१३.	संयम	७	१ असंयम
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)

१५.	लेश्या	६	६
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	३ (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक)
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	२ (आहारक, अनाहारक)
२०.	उपयोग	१२	६ (३ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (४ आर्त्तध्यान+४ रौद्रध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	४६ (१२ अविरति + २१ कषाय + १३ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	२६ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१०६ १/२ लाख कोटि

श्रावक-गृहस्थ धर्म

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सदगीस्त्रिवर्गं
भज-त्रन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहार विहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी।
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरधभीः सागारधर्म चरेत्।। (11)

[सागार ध., पृ. 16]

(1) न्यायोपात्तधन - न्याय से धन कमाना-स्वामिविद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जन रहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वह गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है। क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर वित्तोपार्जन में ही लगती रहती है। इसलिए धनेच्छुक मनुष्य यद्वा कद्वा न्याय अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एकदेशव्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा हैं :-

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।

स्वकर्मनिहितात्मनः पापाः सर्वत्र शंकिताः।।

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं। और भी आचार्यों ने कहा हैं -

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।

प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति।। (1)

यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायतां।

अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति।। (2)

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दश वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवें वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यंच भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरे की तो बात ही क्या है। इसलिए न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए।

(2) गुणगुरुन् यजन्-गुणों की, गुरुओं की तथा गुणों में श्रेष्ठ हैं, उनकी पूजा करना।

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।

कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः।।

लोकापवाद से भयभीत होना, दीनों के उद्धार करने में आदर रखना, कृतज्ञता और उदारता को सदाचार कहते हैं। सज्जनता, उदारता, दानशीलता, गम्भीरता और उत्कृष्ट भाषणशीलता आदि से अपना तथा पर का उपकार करना गुण कहलाता है और उन गुणों से युक्त पुरुषों को 'गुणगुरु' कहते हैं। उन गुणों में श्रेष्ठ पुरुषों का बहुमान, प्रशंसा, नाना प्रकार की सहायता से सत्कार सेवा आदि करना गुणगुरु पूजा कहलाती है तथा माता-पिता, आचार्यादि की त्रिकाल वन्दना करना, नमस्कार करना, मन, वचन, काय से उनकी शुश्रूषा करना भी गुरुपूजा कहलाती है। माता-पिता की

सेवा करना भी गुरु पूजा कहलाती है। क्योंकि आचार्यों ने कहा है -

यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणां।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि।। (1)

मनुष्यों की उत्पत्ति के समय में जो उनके माता-पिता दुःख को सहन करके उनका उपकार करते हैं, उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता है। इसलिए माता-पिता की सेवा करना भी व्यवहार में गुरु पूजा कहलाती है तथा ज्ञान संयमादिक गुणों से शोभायमान पूज्य गुरुओं की वैयावृत्य करना, उनको नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, उनके सामने आने पर आसन से उठना आदि उपचार विनय के द्वारा सत्कार गुण गुरुपूजा कहलाती है। गुण, गुरु तथा गुण गुरुओं की पूजन करना स्वकीय गुणों के विकास के लिए निमित्त कारण है। क्योंकि जो जिस गुणों का इच्छुक होता है वही उन गुणों की वा गुणवानों की संगति की उपासना करता है। इसलिए जो सम्यग्दर्शनादि गुणों में तथा गुणवानों में आदर भाव नहीं रखता है, वह अपने गुणों का विकास करने में समर्थ नहीं है।

(3) सद्गीः- सत् अर्थात् समीचीन प्रशंसनीय परावर्णवाद कठोर कर्कशादि दोषरहित भी अर्थात् वाणी वचन जिसके हो, उसको सद्गी कहते हैं। प्रशंसनीय वचन बोलना भी श्रावक धर्मपालन में कारण है। सो ही लिखा है -

यदिच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा,

परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय।

परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म,

नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटि दुर्मोचम्।।

जो तुम एक ही उपाय से सम्पूर्ण संसार को अपने वश में करना चाहते हो तो दूसरे की निन्दारूपी सस्य को चरने वाली अपनी वाणी रूपी गाय को रोको अर्थात् दूसरों की निन्दा मत करो। दूसरे का तिरस्कार तथा उसकी निन्दा करने से और अपनी प्रशंसा करने से प्रत्येक भव में नीचगोत्र कर्म का बन्ध होता है, जो नीचे गोत्र अनेक भव में भी नहीं छूट सकता है।

(4) अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्ग भजन्- परस्पर विरोध रहित तीनों वर्ग का सेवन करना। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों का परस्पर

विरोध रहित सेवन करना चाहिए।

धर्म- आत्मा के सम्यग्दर्शनादि गुणों को धर्म कहते हैं।

अर्थ - जिसके द्वारा हमें लौकिक कार्यों की सिद्धि होती है, उसको अर्थ कहते हैं अथवा बुद्धि, श्रम, जमीन को भी अर्थोत्पादक होने से अर्थ होते हैं।

काम-पंचेन्द्रियों के विषय को काम कहते हैं अथवा जिससे पाँचों इन्द्रियों की तृप्ति हो, उसको काम कहते हैं। इसमें काम का कारण अर्थ (धन) है क्योंकि धन के बिना पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोपभोग सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती है। अर्थ में धर्म कारण है क्योंकि पुण्योदय के बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तथा सत्यता, प्रामाणिकता के बिना धन की प्राप्ति नहीं होती है। सत्यता सदाचार से आती है और सदाचार का नाम ही धर्म है। इसलिए प्रत्येगक गृहस्थ का कर्त्तव्य है परस्पर विरोध रहित तीनों पुरुषार्थों का सेवन करें। क्योंकि जो मनुष्य अपने धर्म की रक्षा करते हुए अर्थोपार्जन करते हैं और अपने-अपने अर्थानुसार धर्मानुकूल पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करते हैं, उनकी प्रवृत्ति धर्म की रक्षा करने से अधार्मिक तथा अर्थ की रक्षा करते हुए विषय सेवन करने से दारिद्रय आदि दोषों से आक्रान्त नहीं होती है। इसलिए परस्पर में अविरोध भाव से त्रिवर्ग को सेवन करने वाले पुरुष ही श्रावक धर्म के पालन करने योग्य कहे गए हैं। अन्य शास्त्रों में भी आचार्यों ने भी कहा है-

यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यान्ति यांति च।
स लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति।।

परस्पर में अविरोध भाव से धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों के सेवन के बिना ही जिसके दिन आते हैं और जाते हैं, वह पुरुष लुहार की धोंकनी के समान श्वोच्छ्वास लेता हुआ भी मरे हुए के समान है अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के सेवन के बिना मनुष्य का जीवन पशु के समान निरर्थक है तथा उसका जीना और नहीं जीना दोनों बराबर है। और भी कहा है -

पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्त्तव्यपोषणे।।

गृहस्थ अपने द्वारा कमाये हुए धन के चार भाग करें। उसें एक भाग तो जमा रखें, दूसरा भाग धन कमाने के लिए व्यापार में लगावें, तीसरा भाग धर्म तथा अपने

उपभोग में खर्च करें और चौथा भाग अपने कुटुम्ब वा नौकर आदि के पालन पोषण में खर्च करें। अथवा -

आयार्द्धं च नियुञ्जीत धर्मे समधिकं ततः।
शैषेण शेष कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकं।।

गृहस्थ की अपनी आय का आधे से कुछ अधिक भाग धर्म में खर्च करना चाहिए और बचे हुए शेष धन के द्वारा यत्नपूर्वक इस लोक संबंधी शेष कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि इस लोक सम्बन्धी सुख तुच्छ है, इसलिये उसमें अधिक धन का व्यय करना योग्य नहीं है। परस्पर विरोध रहित त्रिवर्गों का सेवन करना ही योग्य है क्योंकि जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इससे विपरीत हैं वे पुरुष सांसारिक सुख वा शांति से रहित होकर हमेशा नाना प्रकार के संक्लेशों से आतुर रहते हैं और उस आतुरता के कारण धर्म-कर्म से विमुख होकर यथेष्ट रीति से न्याय अन्याय का विचार न करके अर्थ वा काम के सेवन में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए ऐसे पुरुष धर्म के अधिकारी नहीं है।

(5) योग्य स्त्री, योग्य स्थान तथा योग्य आलय-कुलीनता आदि गुणों से युक्त योग्य स्त्री, जहाँ पर उदार चेता, सज्जन, गुणवान धार्मिक पुरुष रहते हो तथा जहाँ पर अर्थोपार्जन की सामग्री हो ऐसा स्थान और योग्य गृह वगैरह त्रिवर्ग साधन करने में बाह्य कारण हैं। इसलिये जिसको स्त्री, स्थान तथा आलय के निमित्त से किसी प्रकार की आकुलता नहीं हैं, प्रत्युत उनमें त्रिवर्ग में सहायता मिलती है, ऐसा पुरुष श्रावक धर्म के धारण करने के योग्य कहलाता है। क्योंकि मनुष्य जीवन में तथा सृष्टि के ऊपर स्त्री का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये कुभार्या के निमित्त से अपने जीवन या संतान के कोमल हृदय पर बुरे संस्कार पड़ते है जिससे आकुलित मानव शीघ्र त्रिवर्ग के सेवन की तरफ रुचि नहीं कर सकता है, इसलिये त्रिवर्ग साधन में योग्य स्त्री का होना प्रधान कारण है। सीता को प्रस्थान के समय जनक ने शिक्षा दी थी-

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता,
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं।
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति,
प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधू सिद्धान्तधर्मा इमे।।

हे पुत्री! पति के घर जाने पर उनका सत्कार करने के लिए उठकर खड़ा होना, जो कुछ वो कहें, उसको विनयपूर्वक सुनना, उनके आसन पर बैठ जाने पर उनके चरणों में दृष्टि रखना, स्वयं उनकी सेवा करना, उनके सोने पर सोना और उनके उठने के पहले उठना, ये सब विद्वानों ने कुलपुत्रियों का धर्म कहा है। जिस प्रकार योग्य स्त्री त्रिवर्ग में प्रधान कारण है उसी प्रकार जिस-जिस स्थान में योग्य शासक नहीं है, उदार चित्त वाले सज्जन पुरुष नहीं है, अर्थोत्पादन के साधन नहीं है, सद्वेद्य नहीं, ज्ञान और संयम को बढ़ाने वाला वातावरण नहीं है और धर्म साधन के कारण जिनमन्दिर, शास्त्र स्वाध्याय का स्थान नहीं है, ऐसे स्थान में रहने वाले व्यक्ति भी पूर्ण रूप से त्रिवर्ग को सेवन नहीं कर सकते हैं। इसलिए योग्य स्त्री के समान योग्य स्थान भी धर्मसाधन में कारण है तथा रहने का मकान भी धर्मसाधन में कारण हैं। क्योंकि जिस मकान में धर्म, अर्थ और काम के सेवन करने के अलग-अलग विभाग नहीं है, योग्य पड़ोसी नहीं हो जो हमेशा ग्लानि युक्त रहता है, स्वच्छता से रहित हो तथा जहाँ पर त्यागी व्रतियों की आहारदान की व्यवस्था, विद्वान् पुरुषों का आगमन, आवास न हो, ऐसा मकान भी त्रिवर्ग साधन में उपयुक्त नहीं है। इसलिए योग्य स्थान भी धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्ग के साधन में मुख्य कारण है।

(6) ह्रीमयः-स्त्रियों के समान पुरुषों का भी लज्जा एक भूषण है। क्योंकि लज्जाशील पुरुष ही स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए समर्थ होता है तथा वही मानव अपकीर्ति के भय से असदाचार में प्रवृत्ति नहीं करता है। लज्जाशील पुरुष ही कितनी ही आपत्ति आने पर भी अपने स्वाभिमान पर धक्का नहीं आने देता है और अपनी ली हुई प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ता है। वह लोकभय के कारण हमेशा असत्कर्मों से दूर रहता है। उसकी प्रवृत्ति हमेशा कोमल तथा व्यवहार अत्यन्त शोचनीय होता है, परन्तु जिनके परिणामों में लज्जा नहीं है उसको लोकापवाद का भय नहीं है, वह भंड वचन बोलने वाला होता है, अपनी ली हुई प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं होता है। इसलिए लज्जाशील होना भी धर्मसाधन में एक कारण है।

(7) युक्ताहारविहार - शास्त्रविहित आहार-विहार करने वाला। सामान्यतया आहार का अर्थ भोजन और विहार का अर्थ गमनागमन करना है। परन्तु युक्त (योग्य) शब्द का विशेषण लगा देने से धर्मशास्त्र तथा वैद्यक शास्त्र कथित आहार-

विहार करने वाला होना चाहिए। क्योंकि जो धर्मशास्त्र विहित आहार को छोड़कर आहार करने वालों के भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं होता है। इसलिए जो पदार्थ अभक्ष्य है, शरीर को बाधा पहुँचाने वाला है, मदकारक है, अविचारी निन्दनीय पुरुषों के द्वारा बनाया हुआ है, उसका सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि यद्वा तद्वा आहार करने से मन दूषित होता है। कहा भी है-

यादृशं भक्षयेदन्तं तादृशी जायते मतिः।
दीपोऽपि भक्ष्यते ध्वांतं कज्जलं च प्रसूयते।।

''जैसा खावे अन्न' वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी' प्राणी जैसा अन्न खाता है वैसा मन होता है जैसे दीपक अन्धकार दूर करता है (खाता है) तो उससे कज्जल उत्पन्न होता है। अयोग्य आहार करने से स्वास्थ्य का घात होता है तथा शारीरिक शक्ति का और धर्म प्रवृत्ति का नाश होकर चित्त की प्रवृत्ति अनुचित विषयों में लग जाती हे। क्योंकि जिह्वा लोलुपी मानव विषय लम्पटी बन जाता है और विषय लम्पटी अर्थ, अनर्थ, धर्माधर्म का विचार नहीं कर सकता है। जिस प्रकार योग्य आहार श्रावक धर्म में प्रधान कारण है उसी प्रकार योग्य विहार भी श्रावक धर्म में मुख्य कारण है। क्योंकि यद्वा तद्वा निर्लज्ज होकर इधर-उधर विचरण किया करते हैं, वे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। उनसे अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं होता है।

(8) आर्यसमिति : जिनकी संगति से सम्यक्त्वादि गुणों का विकास हो, जगत में अपनी प्रशंसा हो तथा आत्मप्रतिष्ठा बढ़ती हो, ऐसे सज्जन सदाचारी पुरुषों की संगति को आर्य संगति कहते हैं। सज्जन सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला तथा उनके सहवास में रहने वाला पुरुष ही श्रावक धर्म का पालन कर सकता है। उक्तं च-

यदि सत्संगतिरतो भविष्यसि भविष्यसि।
अथ सज्ज्ञानगोष्ठीषु पतिष्यति पतिष्यसि।।

अर्थ : यदि तुम सज्जन पुरुषों के सहवास में रहोगे, उनकी संगति में लीन होवोगे तो अवश्य ही ज्ञान की गोष्ठी में पड़ोगे अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त करोगे। इसके विपरीत दुराचारी जुवारी धूर्त्त भंडवचन बोलने वाले भाट आदि पुरुषों की संगति से सदाचार रूप श्रावक धर्म का नाश होता है। इसलिए आर्यसंगति भी त्रिवर्ग साधन में एक कारण है।

(9) प्राज्ञः-ऊहापोहात्मक मतिज्ञान के अतिशय को धारण करने वाले को प्राज्ञ कहते हैं। सो ही कहा है -

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषक्रमो,
व्ययोऽयमनुषङ् गजं फलमिदं दशैषा मम।
अयं सुहृदयं द्विषत्प्रयतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।।

यह इस कार्य का फल है, यह इसकी क्रिया है, यह इसका साधन है, यह क्रम है, इतना इसमें खर्च है, यह इस कार्य से होने वाला लाभ है, यह मेरी अवस्था है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है और यह देश है, क्षेत्र है, यह काल है, इस प्रकार का विचार करके कार्य में प्रवृत्ति विद्वान् ही करते है, मूर्ख लोग नहीं कर सकते। अर्थात् हेयापदेय का विचार ज्ञानी को ही होता है। उक्तं च-

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति।।

मनुष्यों को हमेशा अपने आचरित कार्यों का अवलोकन करना चाहिए और फिर विचार करना चाहिए कि आज मैंने कौन-कौन से कार्य तो पशुओं के समान किये और कौन-कौन से कार्य मनुष्य के समान किये। इस प्रकार हिताहित का विचार करने वाले को प्राज्ञः कहते हैं।

(10) कृतज्ञः-दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार को मानता है, कृतघ्न नहीं बनता है, उपकार को नहीं भूलता है वह कृतज्ञ कहलाता है। सज्जन पुरुष पहले तो किसी से उपकार कराते नहीं और यदि कोई उपकार करते तो उसका उपकार कभी भूलते नहीं है। कृतज्ञता यह महान् गुण है, इससे सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि होती है, जगत को वश में करने के लिए यह अमोघ मंत्र है। उक्तं च-

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं, कृतज्ञतायाः समुपैहि पारं।
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकं।।

अर्थ : यदि तुम सम्पूर्ण जगत को अपने वश में करना चाहते हो तो प्रथम कृतज्ञता की सीमा को प्राप्त अर्थात् कृतज्ञ बनो। क्योंकि सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने पर

भी कृतघ्नी समस्त जगत को उद्वेलित करता है, पीड़ित करता है। इसलिये कृतज्ञता भी श्रावक धर्म में प्रधान गुण है।

(11) वशी- जो इष्ट पदार्थों में आसक्ति न करता हुआ और विरुद्ध पदार्थों में प्रवृत्ति न करता हुआ, बाह्य में स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय विषयों के विकार का और अंतरंग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि, शत्रुओं का निरोध करते हैं अर्थात् उन पर विजय प्राप्त करते हैं, उनको वशी कहते हें। जो बाह्य में पंचेन्द्रिय के विषयों को रोकने के साथ में काम क्रोधादि अंतरंग विकारों को भी रोकता है वही वस्तुतः वशी कहलाता है। केवल ख्याति, पूजा, लाभादिक के निमित्त इन्द्रियों के विषयों को रोकने वाला वशी नहीं है। पंचेन्द्रिय संबंधी विषय निग्रह तथा काम क्रोधादिक का निग्रह करने वाला ही श्रावक धर्म धारण कर सकता है। इनके वशीभूत होने वाला श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता है। इसलिये वशी (इन्द्रियों को वश में करना) होना भी श्रावक का गुण है।

(12) धर्मविधि को सुनने वाला - धर्म का कारण धर्मविधि है अर्थात् मोक्ष और स्वर्गादि सुख के कारण को धर्मविधि कहते हैं और युक्ति आगम से सिद्ध धर्म के स्वरूप को जो प्रतिदिन सुनता है, उसको धर्म की विधि को सुनने वाला कहते हैं। धर्म की विधि का सुनने का अधिकारी कौन है? उसका वर्णन आत्मानुशासन में लिखा है-

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद्भृशं भीतवान्,
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धि विभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
धर्म कार्यकरं दयागुणमयं, युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गृह्नन्धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः।।

जो भव्य हो, कौन से कार्य में मेरा कल्याण होगा, इस बात का अर्थात् अपने हित का विचार करने वाला हो, दुःखों से अत्यन्त डरने वाला हो, सुख को चाहने वाला हो, श्रोतापने के गुणों से युक्त हो अर्थात् शास्त्रों के सुनने आदि में उत्तम बुद्धि रखने वाला हो, युक्ति तथा आगम से सिद्ध और सुख को करने वाले ऐसे दया गुणमयी धर्म को सुन करके तथा अच्छी तरह से विचार करके उसको ग्रहण करने वाला हो और जो दुराग्रह से रहित हो वही शिष्य हो, पुरुष ही धर्मकथा सुनने का अधिकारी माना गया है।

(13) दयालु : दुःखी प्राणियों के दुःखनाश करने की इच्छा को दया कहते हैं और जिनके परिणामों में दया हो अर्थात् जो दया युक्त हो, उसको दयालु कहते हैं। 'धर्मस्य मूलं दया' ऐसा शास्त्र वचन है। इसलिए दया को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। सो ही कहा है -

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः।।

जिस प्रकार तुमको अपना प्राण प्रिय है उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय है, इसलिए मनुष्यों को अपने समान ही सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करनी चाहिए।

श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

धर्म के सार को सुनो तथा सुनकर उन पर विचार करो। क्योंकि सम्पूर्ण धर्म का सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल हैं उन कार्यों को दूसरों के प्रति मत करो अर्थात् दूसरों के द्वारा किये गये जिन कार्यों से तुमको दुःख होता है उन कार्यों को तुम दूसरों के प्रति भी मत करो।

अवृत्तिव्याधि शोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः।।

अर्थ : जो आजीविका के अभाव से रोग तथा शोकादिक से दुःखी हैं ऐसे प्राणियों की सदैव अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करनी चाहिए और छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि सम्पूर्ण जीवों को भी सदैव अपने समान ही देखना चाहिए। इसलिए दयालु होना भी श्रावक धर्म में एक मुख्य गुण है।

(14) अघभीः-दृष्ट अदृष्ट (प्रत्यक्ष और परोक्ष) अपाय स्वरूप फल देने वाले चोरी आदि मदिरापानादि पाप कर्म से भयभीत होने वाले को पाप भीरू कहते हैं अर्थात् अघ-पाप से डरने वाला अघभी कहलाता है। इन गुणों को धारण करने वाला श्रावक धर्म को पालन कर सकता है।

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन्यंच गुर पदशरण्यः।

दानयजनप्रधानो ज्ञान सुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।। (15)
[सागर ध.,]

भावार्थ : श्रावक किसको कहते हैं - ''श्रृणोति गुर्वादिभ्यो धमं इति श्रावकः'' जो गुरुओं से धर्म सुने उसको श्रावक कहते हैं। वह श्रावक कैसा होता है, उसका आचरण कैसा है? इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। सामान्य रूप से श्रावकों के गुणों के दो भेद हैं-एक मूलगुण एवं दूसरा उत्तरगुण। जो गुण उत्तर गुणों की उत्पत्ति में कारण होते हैं तथा जो संयम को चाहने वाले पुरुषों के द्वारा सबसे पहले धारण किये जाते हैं, उनको मूलगुण कहते हैं और मूलगुणों के बाद में पाले जाते हैं, उनको उत्तरगुण कहते हैं। अथवा जो मूलगुणों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं, इसलिए भी उत्तरगुण कहलाते हैं। तीन मकार, पाँच उदुम्बर फल का त्याग करना अष्ट मूलगुण है और पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का पालन करना गुणव्रत कहलाता है। उत्तरगुण यह एकदेश संयम का भेद है। जो इन मूलगुण और उत्तरगुणों का ऐहिक सुख की अपेक्षा न करके निराकुलता से पालन करता है और अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठी कहलाते हैं, उनके चरणों की शरण है जिसके अर्थात् पंचपरमेष्ठी पर ही जिनकी दृढ़ भक्ति है वा पंच परमेष्ठी के चरणों में ही अपने दुःख दूर करने के लिए अपनी आत्मा के समर्पण करने में योग्य समझता है, दान यजन प्रधान-पात्रादानादि चार प्रकार के दान को तथा नित्यमहादि पाँच प्रकार की पूजाओं को प्रधान रूप से करता है, क्योंकि दान और पूजा यह गृहस्थ का मुख्य धर्म है। रयणसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है -

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मं सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि।।

मुनियों के लिए ध्यायाध्ययन मुख्य है। ध्यान और अध्ययन के बिना मुनि मुनि नहीं है। उसी प्रकार दान और पूजा यह गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य है। और भी कहा हे-

ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः।
सत्येन वचसा राजा गेही दानेन शोभते।।

ध्यान के द्वारा योगी, संयम के द्वारा तपस्वी, सत्यवचन के द्वारा राजा और दान के द्वारा गृहस्थ शोभित होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्रावक के दान और पूजन यह मुख्य कार्य हैं तथा आजीविका के उपायभूत अन्य असि मसि आदि षट् कर्म गौण हैं। आत्मानुशासन में लिखा है -

आयुः श्री वपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं,
स्यात्सर्वं न भवेत्र तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम्।।

यदि पूर्वजन्म में पुण्य उपार्जन किया है तो इस भव में भी दीर्घ आयु, लक्ष्मी, सुन्दर, निरोग शरीर आदि सम्पूर्ण सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है और यदि पूर्वभव में पुण्य उपार्जन नहीं किया है तो अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी इस भव में उक्त सांसारिक सुखों की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार कार्य करने में कुशल सज्जन पुरुष विचार करके इस लोक सम्बन्धी कार्यों में तो मन्द उद्यम करते हैं, थोड़ा प्रयत्न करते हैं। किन्तु आगामी काल में बहुत सुखों की प्राप्ति हो, इसके लिए शीघ्र ही तथा प्रीतिपूर्वक सदैव अधिक प्रयत्न करते रहते हैं। अर्थात् सज्जन पुरुष पूजन व दानादिक धार्मिक कार्यों को मुख्य रूप से करते रहते हैं और आजीविका के उपायभूत कृष्यादिक को गौण रूप से करते हैं।

इसलिए श्रावक को दान और पूजन दोनों आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों को प्रधान रूप से करना चाहिए तथा जिस रीति से पूजनादिक धार्मिक कार्यों में बाधा न आवे इस रीति से दान पूजनादि के साधनभूत कृष्यादिक कर्मों को भी गौण रूप से करना चाहिए। ''ज्ञानसुधां पिपासुः'' - स्व-पर का भेदज्ञान अर्थात् मैं कौन हूँ? दृष्टिगोचर होने वाले बाह्य पदार्थ क्या है? इनका स्वरूप क्या है? मैं चैतन्य अनन्त ज्ञान दर्शन सुखादि का भोक्ता अविनाशी चिन्मय ज्योति और वह दृष्टिगोचर होने वाले शरीरादिक बाह्य पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, इस प्रकार स्व परान्तर भेदज्ञानरूपी अमृत का पिपासु (उपयोग करने की इच्छा करने वाला) श्रावक - देशसंयमी वा संयतासंयत होता है।

जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो।
एक्क समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई।। (गो.जी.,39 गा.)

जो त्रस घात का तो त्यागी है और स्थावर घात का त्यागी नहीं है, इसलिए एक

समय में ही विरताविरत कहलाता है। इन गुण विशिष्ट मानव श्रावक कहलाता है।

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु।
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वैकं यः श्रयते यतिव्रततस्तं श्रद्धे श्रावकम्।। (16) [सागर ध.]

भावार्थ : प्रतिमाओं का अंतरंग स्वरूप और बाह्य स्वरूप का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। क्योंकि व्रत बाह्य और अंतरंग के भेद से दो प्रकार के होते हैं। राग-द्वेष और मोह के सर्वघाति स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय की तथा देशघाति स्पर्द्धकों के उदय की हीनाधिकता के अनुसार व्यक्त होने वाली निर्मल चिद्रूप आत्मानुभूति से उत्पन्न होने वाले सुख का अनुभव अर्थात् स्वसंवेदन के स्व का अनुभव तो प्रतिमाओं का अंतरंग स्वरूप है और मन वचन काय से राग द्वेष के कार्यभूत स्थूल त्रस हिंसादिक पाँचों पापों का देव शास्त्र गुरु तथा धर्म की साक्षी पूर्वक त्याग करना प्रतिमाओं का बाह्य स्वरूप है। इस प्रकार अंतरंग और बहिरंग स्वरूप से युक्त देशव्रत नामक पञ्चम गुणस्थान के दार्शनिक व्रतिक सामायिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हिंसादिक पाँच पापों का सर्वथा त्याग रूप मुनियों के धर्म में अनुरक्त होकर के अपनी शक्ति अनुसार क्रम का भंग न करके किसी एक स्थान को अर्थात् किसी एक प्रतिमा को धारण करता है उस पुरुष का मैं श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ। वही पुरुष अपने कर्त्तव्य कर्मों का भली प्रकार से पालन करता है, ऐसा मैं मानता हूँ।

इस श्लोक में जो सम्यग्दृष्टि व्रती के लिए 'यतिव्रततरतः' यह विशेषण दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जैसे प्रासाद के ऊपर कलश चढ़ाया जाता है वैसे ही श्रावक धर्म रूपी महल के ऊपर मुनिधर्म रूपी कलश चढ़ाना चाहिए। क्योंकि जैसे कलश के बिना महल की शोभा नहीं, उसी प्रकार मुनिधर्म रूपी कलश के बिना श्रावक धर्म की शोभा नहीं है। इसलिए जो जिस धर्म वा वस्तु का इच्छुक होता है उसका उसमें अनुराग होता ही है, जैसे मोदक का इच्छुक बालक का मोदक में अनुराग। जिसका मुनिपद में अनुराग नहीं है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। सारांश यह है कि श्रावकधर्म के पालन के अनन्तर अवश्य ही मुनिधर्म को धारण करना

चाहिए। क्योंकि मुनिधर्म में अनुरागी होने से ही श्रावक धर्म के धारण करने की सार्थकता सिद्ध हो सकती है अन्यथा नहीं।

ग्यारह प्रकार के श्रावकों का स्वरूप

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं
सचित्तान्नदिनव्यवायव नितारम्भोपधिभ्यो मतात्।
उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सहभवन्त्येकादशोपासकाः।। (17)

भावार्थ : प्रतिमाओं के ग्यारह भेद हैं। उनका नाम इस श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है। अनादि काल से जीवों के विषय वासनाओं का अभ्यास पड़ा हुआ है इसलिए यह जीव प्रायः कर सहसा एक साथ असंयम को छोड़कर ग्यारह प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता है। इसलिए एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस क्रम से सम्यग्दर्शन और आठ मूलगुणों की प्रकर्षता के साथ व्रत प्रतिमा को तथा सम्यग्दर्शन, अष्ट मूलगुण और बारह व्रतों की प्रकर्षता के साथ सामायिक प्रतिमा को, इस प्रकार पूर्व पूर्व प्रतिमाओं के गुणों की वृद्धि के साथ आगे-आगे की प्रतिमाओं के पालन करने से श्रावकों के भी ग्यारह भेद हो जाते हैं।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप-

(1) दर्शन प्रतिमा- सम्यग्दर्शन सहित आठ मूलगुणों का पालन करता है, उसको दर्शन प्रतिमा वाले श्रावक कहते हैं।

(2) व्रत प्रतिमा- जो दर्शन प्रतिमा के पालन करने के साथ-साथ निरतिचार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत-बारह व्रतों का पालन करता है, उसको व्रत प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं।

(3) सामायिक प्रतिमा-पूर्व की दोनों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ-साथ तीनों कालों में निरतिचार सामायिक को करता है, उसको सामायिक प्रतिमा कहते हैं।

(4) प्रोषध प्रतिमा-जो पूर्व की तीनों प्रतिमाओं के साथ निरतिचार प्रोषधोपवास व्रत को पालन करता है, उसको प्रोषधोपवास प्रतिभा वाला श्रावक कहते हैं।

(5) सचित्त त्याग-जो पूर्व की चारों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ सचित्त आहारादिक का त्याग करता है, उसको सचित्त त्याग प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं।

(6) दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा- जो पूर्व की पाँच प्रतिमाओं के पालन करने के साथ दिन में मैथुन का त्याग करता है, उसको दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं।

(7) ब्रह्मचर्य की प्रतिमा-जो पूर्व की छह प्रतिमाओं के पालन करने के साथ स्त्री मात्र का त्याग करता है, उसको ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं।

(8) आरम्भत्याग प्रतिमा-जो पूर्व की सातों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ सेवा, कृषि, वाणिज्यादि गृह संबंधी सम्पूर्ण आरम्भों का त्याग करता है, उसको आरम्भ त्याग प्रतिमा वाला कहते हैं।

(9) परिग्रह त्याग प्रतिमा-आठ प्रतिमाओं के पालन करने के साथ राग द्वेषादि अभ्यंतर परिग्रहों के मंदतापूर्वक क्षेत्र, वास्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों में से आवश्यक वस्त्र और पात्र के सिवाय शेष सब परिग्रहों का त्याग कर देता है, उसे परिग्रह त्याग प्रतिमा वाला श्रावक कहते हैं।

(10) अनुमति त्याग प्रतिमा-जो पूर्व की नौ प्रतिमा पालन करने के साथ-साथ आरंभादिक पाप कार्यों में अनुमति का त्याग करता है, उसको अनुमति त्याग वाला कहते हैं।

(11) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा-जो पूर्व की दशों प्रतिमाओं के पालन करने के साथ-साथ उद्दिष्ट भोजन वगैरह का भी त्याग कर देता है, उसको उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा वाला कहते हैं।

इस प्रकार अनुक्रम से पूर्व पूर्व की प्रतिमाओं के पालन करने के साथ-साथ ही आगे-आगे की प्रतिमाओं का पालन करना चाहिए। क्योंकि जब तक आगे-आगे की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुणों का पालन नहीं किया जाता है तब तक आगे-आगे की प्रतिमाओं में प्रतिमापना ही नहीं आ सकता है और न योग्य रीति से उनका पालन हो सकता है। इसलिए ही आगे-आगे की प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के गुणों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।

इस श्लोक में जो ''उद्दिष्टादपि भोजनाच्च'' में 'अपि' शब्द दिया गया है उसका यह अभिप्राय है कि जो ग्यारहवीं प्रतिमा वाला श्रावक अनुमत और उद्दिष्ट भोजन को भी नहीं करता है, वह दूसरे आरम्भादिक पाप कार्यों में अपनी अनुमति क्यों देगा? तथा उद्दिष्ट वसतिका व वस्त्रादिक को अर्थात् अपने निमित्त से बनाये गये मकान व कपड़े वगैरह को उपयोग में क्यों लायेगा अर्थात् न तो वह पाप कार्यों में अपनी अनुमति देगा और न उद्दिष्ट वसतिका आदि उपयोग में लावेगा?

पति की सहमति से किया व्यभिचार अपराध नहीं माना जाता, क्या महिला पति की बपौती है? : सुप्रीम कोर्ट

158 साल पुरानी आईपीसी की धारा 497 की वैधता पर पाँच जजों की संविधान पीठ कर रही है सुनवाई

व्यभिचार को अपराध मानने वाले 158 साल पुराने कानून की संविधानिक वैधता पर गुरुवार को दूसरे दिन भी सुप्रीम कोर्ट में पाँच जजों की संविधान पीठ ने सुनवाई की। इसके प्रावधानों को बेतुका बताते हुए कोर्ट ने कहा, ''महिला अगर पति की सहमति से व्यभिचार करे तो यह अपराध नहीं होता। क्या महिला पति की बपौती है?'' साथ ही कोर्ट ने कहा कि यह प्रावधान समानता के अधिकार का उल्लंघन है।

दरअसल आईपीसी की धारा 497 में प्रावधान है कि अगर कोई व्यक्ति किसी दूसरे की पत्नी के साथ सहमति से संबंध बनाता है तो वह व्यभिचार होता है। ऐसे मामलों में सिर्फ पुरुष पर ही केस दर्ज होगा। हालांकि, अगर कोई पुरुष दूसरे पुरुष की सहमति से उसकी पत्नी के साथ संबंधी बनाता है तो यह व्यभिचार नहीं माना जाता। चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा, जस्टिस आरएफ नरीमन, एम खानविलकर, डीवाई चंद्रचूड़ और इंदु मल्होत्रा की बेंच के समक्ष याचिकाकर्ता के वकील कालीस्वरम राज ने दलील दी कि धारा 497 संविधान के अनुच्छेद 14, 15, और 21 का उल्लंघन है। उन्होंने कहा कि दो वयस्कों का वैवाहिक स्तर चाहे जो हो, लेकिन जब वह सहमति से संबंध बनाएं तो उन्हें सजा क्यों दी जाए। वहीं, वकील मीनाक्षी अरोड़ा ने कहा कि महिला अपने पति के व्यभिचार की शिकायत नहीं कर सकती। इसका अधिकार सिर्फ दूसरी महिला के पति या परिजनों को है।

पति की सहमति से संबंध अपराध नहीं होने वाला हिस्सा हटा सकते हैं?

धारा 497 विवाह की पवित्रता की रक्षा करती है। पर जब विवाहित पुरुष अविवाहित महिला से संबंधी बनाए, तब क्या होगा? धारा 497 के तहत यह कृत्य अपराध नहीं लेकिन विवाह की पवित्रता प्रभावित करता है। महिला के प्रति की सहमति से संबंध अपराध नहीं मानने वाला हिस्सा क्या इस कानून से हटा सकते हैं? - **जस्टिस डीवाई चंद्रचूड़**

इस कानून का मतलब हुआ कि महिला पति की सहमति पर आश्रित है

विभिन्न पर्सनल लॉ में व्यभिचार तलाक का आधार है। जिस अपराध में दोनों पक्षों की सहमति हो, उसमें एक को पीड़ित और एक को आरोपी के रूप में दिखाना ठीक नहीं। इसके प्रावधान मानव विरोधी हैं। कानून का यह अर्थ है कि महिला पति की सहमति पर आश्रित है। यह भारतीय विचारों के लिए अज्ञात हैं। इस तरह की सहमति या सहानुभूति अस्वीकार्य है। - **चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा**

(कुछ विषय विचारणीय व परिवर्तनीय है।)

श्रावक के दातृत्व गुण

(1) पात्रदत्ती का स्वरूप-

महातपोधनायार्च्या प्रतिग्रह पुरः सरम्।
प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यतं।।

अर्थ : महातपस्वी मुनियों के लिए पूजा, प्रतिग्रह आदि नवधाभक्तिपूर्वक आहार, शास्त्र, पींछी, कमण्डलु, औषध आदि के देने को दानदत्ती अथवा पात्रदत्ती कहते हैं।

(2) दयादत्ती का स्वरूप-

सानुकम्पमनुग्राह्यो प्राणिवृन्देऽभयप्रदा।
त्रिशुद्धयानुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः।।

अर्थ : अनुग्रह करने के योग्य जो दीन दुःखी प्राणी है उन प्राणियों का मन वचन काय से जो दयापूर्वक भय दूर करता है, उसको विद्वान् लोग दयादत्ती कहते हैं।

भावार्थ : दुःखों से भयभीत पुरुषों के भय को दूर करना दयादत्ति है।

(3) अन्वयदत्ती, स्वाध्याय, तप और संयम का स्वरूप-

आत्मान्वय प्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं।।
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः शुभभावना।
तपोऽनशनवृत्यादि संयमो व्रतधारणम्।।

अर्थ : अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए, स्थिति के लिये, सम्पूर्ण रीति से पुत्र के लिए धर्म और धन के साथ जो अपने कुटुम्ब व उसके सम्पूर्ण भार को सम्पर्ण करना है, सौंपना है, उसको सकलदत्ती अथवा अन्वयदत्ती कहते हैं। शास्त्रों के पठन-पाठन चिन्तवन करने आदि को स्वाध्याय कहते हैं। उपवासादिक करने को तप कहते हैं और अहिंसादिक व्रतों के धारण करने को संयम कहते हैं।

(4) समानदत्ती का स्वरूप-

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम्।।
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते।
समान प्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता।।

अर्थ : गर्भाधानादिक क्रिया, मन्त्र और व्रतादि के द्वारा जो अपने समान है, ऐसे गृहस्थाचार्य के लिए अथवा गृहस्थाचार्य के अभाव में मध्यम, जघन्य पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धापूर्वक कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि के देने को समानदत्ती कहते हैं।

(5) वार्ता का स्वरूप-

वार्ताविशुद्धकृत्या स्यात्कृत्यादीनामनुष्ठितिः।

अर्थ : विशुद्धि वृत्ति से न्यायपूर्वक कृष्यादिक छह कर्मों के द्वारा आजीविका के करने को वार्ता कहते हैं।

पक्ष, चर्या और साधन के स्वरूप

स्यान्मैत्र्याधुपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्याम्यहं,

धर्माद्यर्थमिंतीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योन्झतः।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं,
त्वन्तेऽत्रेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम्।।(19)

भावार्थ : धर्म, देवता, मंत्र सिद्धि और आहारादि के लिए भी मैं कभी संकल्पपूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करुँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके जो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ इन चार भावनाओं के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने वाला स्थूल असत्यादि पाप के सम्पूर्ण त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, उसको पक्ष कहते हैं। प्रतिदिन वैराग्य परिणामों की वृद्धि होने पर कृष्यादि कर्मों से उत्पन्न हिंसादिक पापों को प्रायश्चित के द्वारा दूर करके अपने पालन पोषण करने योग्य स्त्री, माता, पिता आदि रूप पोष्य वर्ग को ग्राम, घर, खेत, सोना-चाँदी आदि के रूप धन को तथा चैत्यालय पात्रादानादिक रूप धर्म को अपने भार के चलाने में समर्थ योग्य पुत्र के सुपुर्द करके अथवा पुत्र न हो तो पुत्र के समान योग्य वंश के पुत्र पर रखकर घर के छोड़ने को चर्या कहते हैं। चर्या में लगे हुए दोषों को प्रायश्चित से दूर करके गृह त्याग करने के अन्तिम समय में अथवा मरण समय में चार प्रकार के आहार का तथा मन, वचन, काय के व्यापार का तथा शरीर के ममत्व के दोष से उत्पन्न होने वाले निर्मल ध्यान के द्वारा आत्मा के रागादिक दोषों को दूर करना साधन कहलाता है।

इस श्लोक में ''अखिल वध त्याग'' पद आया है, उसका अर्थ यद्यपि सम्पूर्ण पाँच पापों का त्याग है। अखिल में सम्पूर्ण और वध हिंसा में झूठ आदि गर्भित है। क्योंकि झूठ आदि हिंसा की पर्याय है, परन्तु यहाँ पर श्रावक धर्म का प्रकरण है इसलिये प्रकरणवश सम्पूर्ण हिंसा के त्याग का अर्थ स्थूल हिंसादि पाँच पापों का त्याग ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ परिग्रह आदि में आसक्त होने से आरम्भादिक को करने वाला पाक्षिक श्रावक यद्यपि मन्द कषायी भी हो तथापि वह आरम्भ से नहीं होने वाली केवल संकल्पी हिंसा को ही छोड़ सकता है किन्तु गृह सम्बन्धी कार्यों के करने से आरम्भादिक में होने वाली अथवा उससे संबंध रखने वाली जो हिंसा है उसको वह नहीं छोड़ सकता है।

संक्षेप अर्थ यह है कि प्रतिमा धारण न करके अभ्यास रूप से अष्ट-मूलगुण और अणुव्रतादि बारह उत्तरगुणों का पालन करना पक्ष कहलाता है।

कृष्यादिक आरम्भों से होने वाले पापों को प्रायश्चित से दूर करके घर छोड़ने वाले गृहस्थ द्वारा दर्शन प्रतिमा से लेकर दशवीं प्रतिमा तक के व्रतों का पालन किया जाता है, वह चर्या कहलाती है और चर्या संबंधी दोषों को दूर करके ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन करना अथवा समाधिमरण करना साधन कहलाता है।

इस श्लोक में 'त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनात्', यहाँ पर तु शब्द दिया गया है। उसका यह अभिप्राय है कि साधन में भी कृष्यादिक आरम्भों से होने वाले दोषों को प्रायश्चित से दूर करना चाहिए।

पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तनिष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक्।।(20)

भावार्थ : श्रावक के तीन-तीन भेद हैं - 1. पाक्षिक श्रावक 2. नैष्ठिक श्रावक 3. साधक श्रावक।

पाक्षिक- जिसके हिंसादिक पाँच पापों का त्याग रूप पक्ष है तथा जो अभ्यास रूप से श्रावक धर्म का पालन करता है, उसको पाक्षिक श्रावक वा प्रारब्ध देशसंयमी कहते हैं।

नैष्ठिक - जो निरतिचार श्रावक धर्म का पालन करता है, उसको नैष्ठिक वा घटमान देशंसयमी कहते हैं।

साधक - जिसका देश संयम पूर्ण हो चुका है और जो आत्म ध्यान में लीन होकर समाधिमरण करता है, उसको साधक श्रावक वा निष्पन्न देशसंयमी कहते हैं।

अहिंसा धर्म की सिद्धि करने के लिए मद्यादि का त्याग

तत्रादौ श्रद्धजैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरिफलानि च।। (2)

भावार्थ : गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) में अहिंसा धर्म की प्रसिद्धि के लिए सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का श्रद्धान करने वाले देशसंयम के सन्मुख हुए गृहस्थों को मद्य, माँस, मधु और पिप्पल, गूलर, अंजीर, बड़ और पाकर इन पाँच

उदुम्बर फलों का त्याग करना चाहिए। आचार्यों ने कहा है -

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
अनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुरम्बरसेविषु।।

माँस भक्षियों में दया, मद्य पीने वालों में सत्यता, मधु और उदुम्बर भक्षण करने वालों में भद्रता नहीं रह सकती है। इस श्लोक में चकार है, उससे यह अर्थ निकलता है कि श्रावकों को नवनीत, रात्रि भोजन और बिना छने पानी पीने का भी त्याग करना चाहिए। क्योंकि मद्यादि के सेवन करने से तद्गत जीवों की द्रव्य हिंसा तथा उनके सेवन करने से राग रूप परिणाम होने से भाव हिंसा होती है। जिनेन्द्र की आज्ञा श्रद्धान करके जो मद्यादि का त्याग करता है, वह देशव्रती होता है। परन्तु जो कुल परम्परा की बुद्धि से त्याग करता है, वह देशव्रती नहीं हो सकता है।

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा।।(13)

भावार्थ : मूलगुणों के विषय में आचार्यों ने भिन्न रूप से वर्णन किया है। सोमदेव आचार्य ने उपासकाध्ययनांग में -

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बर पञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानाभुक्ता मूलगुणाः श्रुते।। (1)

पाँच उदुम्बर फल के साथ मद्य, मांस, मधु का त्याग करना गृहस्थों के अष्टमूलगुण कहे गये हैं। समन्तभद्राचार्य ने-

मद्यमाँसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।। (2)

मद्य, माँस, मधु का त्याग और पाँच अणुव्रत का पालन करने को मुनि-श्रेष्ठों ने गृहस्थों के आठ मूलगुण कहा है। जिनसेनाचार्य ने -

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सत्यमी मूलगुणाः।।(3)

पाँचों पापों के त्याग के साथ जुआ, मद्य और माँस का त्याग करना अष्टमूलगुण कहा है।

श्रावकाचार के अनुसार सबसे पहले अनुष्ठान करने योग्य मूलगुण है। जैसे- मूल (जड़) के बिना वृक्ष नहीं है, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना उत्तर-गुण नहीं हो सकते हैं। यह भिन्न-भिन्न आचार्यों का मत विवक्षावश किया है। इसलिए इसमें कोई बाधा नहीं आती है। 'स्मरेत्' इस क्रिया प्रयोग से सब जगह यह नियमादि में मुक्ति का कारणपना है, ऐसी भावना भानी चाहिये।

मद्य सेवन से दोष

यदेक बिन्दोः प्रचरन्ति जीवा-
श्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं,
यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्।। (4) [सागर ध.,]

भावार्थ : यदि दारू के एक बिन्दु के जीव संचार करे तो यह तीनों लोक पूरित कर देते हैं अर्थात् तीनों लोक में समा नहीं सकते हैं। इसको पीने से मनुष्य हेयापादेय के विवेक से शून्य हो जाता है जिससे उसके दोनों लोक भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् इस लोक में अविश्वास का, निन्दा का पात्र होता है और परलोक में नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है। सो ही आचार्यों ने कहा है -

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्।।

मद्य मन को मोहित करने का कारण है, दुर्गति का कारण है। इस लोक और परलोक दोनों को भ्रष्ट करने वाला है। इसलिए बुद्धिमानों को मद्य का त्याग करना चाहिए।

विवेकः संयमो, जानं सत्यं शौचं दयाक्षमा।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वन्हिकणादिव।।(5)

जिस प्रकार अग्नि के कण से सम्पूर्ण घास जल जाता है, उसी प्रकार मद्य से विवेक संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया, क्षमा आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। इसलिए अपना हित चाहने वाले सुज्ञ पुरुषों को मद्य का त्याग अवश्य करना चाहिए।

माँस भक्षण में दोष

भक्षयन्ति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसंभवम्।
यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मनः किं विडम्बनमतः परं बुधाः।
यतो मांसाशिनः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता।
सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च।।

माँस सप्त धातुमय देह के घात से उत्पन्न होता है। उसे अपने को पवित्र और विवेकी मानने वाले खावे, इससे अधिक और क्या विडम्बना होगी? जिसके खाने से मनुष्य में दया, दम, सत्य, शौच, व्रत, आचार-विचार, विद्यादिक नहीं हो सकते हैं।

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यारतिकामशोककोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च नरकसंनिहिताः।।(1)
न बिना प्राणि विघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।। (2)
ये भक्षयन्त्यन्यपलं स्वकीय पलपुष्टये।
त एव घातका यत्र वद को भक्षकं बिना।।(3)
मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्य इस दुर्धियः।।(4)
आमां वा पक्वां वा खादति वा स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सतत निचितं पिंडं बहुजीव कोटीनाम्।।(5)
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।(6)

अर्थ : अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, काम, शोक, कोप वगैरह सब दोष नरक को ले जाने वाले हैं तथा हिंसा के पर्याय हैं। बिना वध के मांस की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए मांस भक्षण करने वालों को जरूर हिंसा लगती है। जो अपने शरीर की पुष्टि के लिए मांस खाते हैं, बताओ, उनको छोड़कर दूसरा कौन हिंसा का भागी होगा? क्योंकि डाकिन के समान मांस भक्षी की दृष्टि प्राणी के वध के तरफ

लगती है। कोई प्रश्न करे कि प्रासुक करके मांस खाने वाले को हिंसा का दोष नहीं लगता है। उसका समाधान यह है कि मांस के सुखाने पर, पकाने पर तथा कच्ची अवस्था में भी निरन्तर उसी जाति के जीवों की उत्पत्ति मांस में होती रहती है। अतः जो मांस की डली को चाहे, वह कच्ची हो, सूखी हो या पक्की हो, खाता है, वह जीवों का वध करता है।

प्राण्यङ्गत्वे समेप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका।।(10)

भावार्थ : मांस भी जीव का शरीर है और अन्न भी जीव का शरीर है। जीव शरीर की अपेक्षा समान होते हुए भी मांस रक्त, रस आदि अशुचि पदार्थों से उत्पन्न होता है, इसलिए खाने योग्य नहीं है और मूँग आदि अन्न खून पीपादि अशुचि पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए खाने योग्य है। जैसे-स्त्रीत्व मात्र के साथ भोग्यता की व्याप्ति नहीं है अर्थात् केवल स्त्रीत्व होने से भोग्यता की व्याप्ति लगाना ठीक नहीं है। माता तथा पत्नी इनमें स्त्रीत्व समान रहने पर भी पत्नी ही भोग्य है, माता नहीं। उसी प्रकार प्राणी के शरीरत्व मात्र के साथ भक्ष्यपने की व्याप्ति नहीं है। सो ही लिखा है -

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेत्र वा मांसम्।
यद्वित्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेत्र वा निम्बः।।(1)
शुद्ध दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः।।(2)
हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम्।।(3)

अर्थ : जो जीव का शरीर है वह मांस है, ऐसी तर्क सिद्ध व्याप्ति नहीं है, किन्तु जो मांस है वह अवश्य ही जीव का शरीर है, ऐसी व्याप्ति अवश्य है। जैसे-जो वृक्ष है वह जरूर नीम है, ऐसी व्याप्ति नहीं है, किन्तु जो नीम है वह वृक्ष जरूर है, ऐसी व्याप्ति है। गाय का दूध शुद्ध है, मांस नहीं, जैसे-सांप का रत्न विष नाशक होता है और विष तो घातक है। यद्यपि मांस और दूध दोनों की उत्पत्ति गाय से होती है तथापि ऊपर के दृष्टान्त से दूध उपादेय है और मांस त्याज्य है। दूसरा उदाहरण भी देते हैं कि विषवृक्ष के पत्ते जीवन दाता और उसकी जड़ मृत्युदायिक होती है। इसलिए

मांस में और अन्न में प्राणी के अंशत्व समान होते हुए भी मांस और अन्न में समानता नहीं होती है।

पंचेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे।
यथा हि नरक प्राप्ति र्न तथा धान्य भोजनात्।।
धान्येपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते।
गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यंत बाधकः।।
मांसखादक गतिं विमृशंतः, शस्यभोजनरता इह संतः।
प्राप्नुवंति सुरसम्पद मुच्चैर्जैन शासन जुषो गृहिणोऽपि।।(3)

अर्थ : किसी भी पंचेन्द्रिय जीव के मांस भक्षण से जैसे नरक की प्राप्ति होती है, वैसे धान्य भक्षण से नहीं होती है। धान्य के भक्षण से भी वनस्पतिकायिक जीव का वध होता है, परन्तु देशसंयमी के लिये अत्यन्त बाधक नहीं है। क्योंकि उसके बिना जीव का निर्वाह नहीं होता है, इसलिए आशक्यानुष्ठान है। मांस भक्षण करने वालों को दुर्गति की प्राप्ति होती है। अतः इसका विचार करने वाले विचारवान मांस के त्यागी जैन गृहस्थों को उच्च गति सम्बन्धी सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

हिंसादि का त्याग

स्थूलहिंसानृतस्तेय-मैथुनग्रन्थवर्जनम्।
पापभीरुतयाऽभ्यस्ये-द्वलवीर्यनिगूहकः।।(16)

भावार्थ : आहारादि पचाने की शक्ति को बल कहते हैं - ''आहारा-द्विजा शक्तिः बल''। नैसर्गिक वीर्य-स्वाभाविक शक्ति को वीर्य कहते हैं। अपनी शक्ति को न छिपाकर अर्थात् शक्ति अनुसार श्रावकों को पाप के भय से पाँच पापों का त्याग करना चाहिए अर्थात् हिंसादिक पाँच पाप दुःख के कारण हैं। हिंसक मानव प्राणियों को उद्वेजनीय होता है, नित्यानुबद्ध वैर वाला होता है, इस लोक में वध बंधनादि क्लेशादि को प्राप्त होता है, मरकर नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

असत्यवादी मानव अविश्वास का पात्र होता है। जिह्वा, कर्ण, नासिकादि के छेद को प्राप्त होता है, असत्यवादी को अनेक प्रकार की आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। परलोक में वसुराजा के समान दुर्गति को प्राप्त होता है। चोरी करने वाला मनुष्य

कर्मचारी चाण्डाल आदि के द्वारा उद्वेजनीय होता है। इस लोक में वध, बन्धन, कर चरण, नासिक छेदन, गर्भभारोहण, शिरमुण्डनादि अनेक आपत्तियों को प्राप्त होता है। परलोक में नरक तिर्यंचादि दुर्गतियों में जाता है और वहां अनेक प्रकार के दुःख सहन करता है। अब्रह्मचारी पुमान् मदोन्मत्त होता है। हथिनी में मदोन्मत्त हुए हाथी के समान परवश होकर अनेक प्रकार के वध-बन्धनादि क्लेशों को सहन करता है। परस्त्री लम्पट पुरुष, दानपूजा, जिनस्तवन, उपवासादि कुछ भी पुण्यकर्म नहीं करता है। इस लोक में भी अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, परलोक में परस्त्री के स्मरण मात्र से रावण के समान नरकादि गति को प्राप्त होता है। सर्वलोक में निन्दनीय होता है।

सपरिग्रही मानव उस परिग्रह का अर्जन रक्षण क्षयादि से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है अर्थात् पहले अर्जन करने में दुःख, पश्चात् धन की रक्षा में दुःख और नाश होने के बाद महादुःख होता है, तो भी मानव यह उचित कार्य है, यह अनुचित कार्य है, ऐसा नहीं जानता है। मरकर सर्पादि अनेक कुयोनियों में जन्म ग्रहण कर दुःख को प्राप्त होता है। यह पाँचों पाप दुःख के कारण आत्महित के नाशक हैं, दुर्गति को ले जाने वाले हैं, ऐसा विचार कर पाप के भय से अपनी शक्त्यानुसार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का श्रावकों को त्याग करना चाहिए। पाप के भय से त्याग करने वाला ही अणुव्रती कहलाता है, राजादिक के भय से त्याग करने वाला अर्थात् मन में इच्छा होते हुए भी लोकभय से पाप नहीं करने वाला अणुव्रती वा त्यागी नहीं कहलाता है, क्योंकि उसके वास्तविक त्याग नहीं है।

प्रकारान्तर से अष्टमूलगुण

मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिददृष्टमूलगुणाः।।(18)

भावार्थ : मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पंचोदुम्बर फलों का त्याग करना तथा पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करना, जीवों की दया पालन करना और पानी वस्त्र से छानकर पीना, इस प्रकार किसी शास्त्रों में अष्ट मूलगुण कहे गये हैं। सो ही लिखा है-

मद्योदुम्बर पंचकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां,
नक्तं भुक्तविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रासृतम्।

एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता,
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी।।

मद्य, पाँच उदुम्बर, मांस और मधु का त्याग, जीवों पर दया, रात्रि भोजन त्याग, आप्त स्तुति, छान कर पानी पीना, ये श्रावकों के आठ गुण गणधरों ने बताये हैं। ये सभी गुण श्रावक में रहना चाहिए। इनमें से यदि एक भी गुण न हो तो वह श्रावक नहीं हो सकता है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखा है -

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धदधियः।।

अनिष्ट दुस्तर और पापों के घर जो सप्त व्यसन हैं, उनको छोड़कर और अष्टमूलगुण धारण कर शुद्ध हुई है बुद्धि जिनकी ऐसे गृहस्थ जिनधर्म के उपदेश सुनने के पात्र हैं।

सांकल्पिक हिंसा का परित्याग

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्येजत्।
ध्वनोऽपि कृषकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः।।(82) [सागर ध.]

भावार्थ : शास्त्र में हिंसा करना पाप का कारण वा दुर्गति में ले जाने वाला कहा है, ऐसा विचारकर बुद्धिमान श्रावक ''मैं मांस के लिए इस जीव को मारूँ'' ऐसी संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। यद्यपि आरम्भ में होने वाली हिंसा को परित्याग करने के लिए गृहस्थ असमर्थ है तथापि मैं कुटुम्ब का पोषण, देव पूजा, दान आदि की प्रवृत्ति के लिए खेती करता हूँ वा व्यापार करता हूँ, जीवों का घात करना नहीं चाहता हूँ, इस भावना से व्यापार आदि में प्रवृत्ति करते समय आरंभजन्य हिंसा करते हुए श्रावक की अपेक्षा ''मैं बहुत सी मछलियों को मारूँगा'' ऐसी भावना करने वाला यदि कारणवश जीवों की हिंसा नहीं कर सका तो भी महापातकी है। क्योंकि आचार्यों ने कहा हैं -

पुण्य और पाप में मुख्य कारण जीवों के परिणाम ही है। परिणामों के अनुसार ही पुण्यास्रव और पापास्रव होता है।

हिंस्र आदि प्राणियों की हिंसा न करें

हिंस्रदुःखिसुखिप्राणि-घातं कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति-सुखोच्छेदसमीक्षणात्।।(83)

भावार्थ : कोई अज्ञानी जन कहते हैं कि एक हिंसा सर्पादिक का घात करने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है और धर्माधिगम तथा पापोपरम होता है, इसलिए हिंसक जीवों को मारना चाहिए। हिंसक जीवों के मारने से बहुत जीवों की रक्षा के अभिप्राय से धर्म तथा पापोच्छेद होता है, ऐसा विचारकर हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए। क्योंकि हिंसक जीवों के मारने से अतिप्रसंग दोष आयेगा। जो हिंसक जीव को मारता है वह भी जीवघ्न होने से हिंसक है, इसलिए उसको भी मारनेवाला कोई दूसरा होना चाहिए, फिर उसको मारने वाला कोई दूसरा होना चाहिए, इस प्रकार अतिप्रसंग दोष आएगा।

कोई कहते हैं दुःखी जीवों को मार देना चाहिए जिससे वह दुःख से मुक्त हो जाएगा, ऐसा विचारकर दुःखी जीवों को मारना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तिर्यंच, मानुष्य सम्बन्धी दुःख तो अल्प है। उन स्वल्प दुःख का नाश करने के विचार से दुःखी जीव का घात किया और वह मरकर नरक में गया तो महादुःखी होगा। इसलिए दुःखी को भी नहीं मारना चाहिए। कोई अज्ञ जन कहते हैं, सुखी मरकर परमभव में सुखी ही होता है, इसलिए सुखी को मारना चाहिए। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुखी को मारने से वर्तमान में तो प्रत्यक्ष सुख का नाश होता है अथवा दुर्ध्यान से मरकर दुर्गति में भी जा सकता है-इसलिए सुखी को भी नहीं मारना चाहिए। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है, सुखी की, दुःखी की, हिंसक की हिंसा करना वा स्वगत-परगत किसी भी प्रकार से की हुई हिंसा धर्म का साधन नहीं है, पाप का ही कारण है। इसलिए कल्याण के चाहने वाले मनुष्यों को हिंसा का त्याग ही करना चाहिए।

कल्याणेच्छुक मानव कीर्ति को अर्जन करे

अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः।
तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत्।।(85)

भावार्थ : गृहस्थ को चित्त प्रसन्नता के लिए कीर्ति उपार्जन करना चाहिए। क्योंकि अपनी अपकीर्ति से मन संतापित होता है, मन के संताप से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और अशुभास्रव से पापबन्ध होता है तथा कीर्ति से मन प्रसन्न होता है, मन की प्रसन्नता से शुभास्रव होता है और शुभास्रव से पुण्यबन्ध होता है। इसलिए कीर्तिकारी काम करना योग्य है।

कीर्ति के उपार्जन के उपाय

परासाधारणान्गुण्यप्रगण्यानघर्मर्षणान्।
गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः।।(86)

भावार्थ : जो मानव अपनी कीर्ति चाहता है, उसको हमेशा अन्य मानवों में नहीं पाये जाने वाले असाधारण विद्वान् के द्वारा प्रशंसनीय पापनाशक, दान, सत्य, शौच, शील, संयमादि प्रशंसनीय गुणों को विस्तरित करना चाहिए।

श्रावक नैष्ठिक के आचार को पालकर मुनिचर्या को प्राप्त होवें

शार्दूलविक्रीडित (छन्द)

सैषः प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृ-
त्निर्वेदद्रुमभावपन् शमरसोद्गारोध्दुरं बिभ्रति।
पाकं कालिक मुत्तरोत्तर महान्त्येतस्य चर्याफला,
न्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्ध चरित प्रासाद मारोहतुं।।(87)

भावार्थ : पाक्षिक श्रावक जिनवचन रूपी अमृत के अनुभव द्वारा संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर सल्लेखना पर्यन्त यतिधर्मरूपी महल के ऊपर चढ़ने की सामर्थ्य को प्राप्त करे। किससे प्राप्त करे? ऐसा पूछे जाने पर यह बताया जाता है कि 11 प्रतिमा रूपी निर्वेद वृक्ष के मधुर फलों का उपभोग कर अपने में शक्ति बढ़ानी चाहिये। नैष्ठिक अवस्था की तैयारी करने वाला पाक्षिक होता है। यह अपनी अवस्था में निर्वेद (वैराग्य) रूपी वृक्ष को बोता है। संसार, शरीर और भोग से विरक्तता यह नैष्ठिकों की प्रथम प्रतिमा में बताया है, उसको यहाँ कल्पवृक्ष की उपमा दी है और उसके उत्तरोत्तर प्रतिमाओं को उत्तम मधुर रसवाले यथाकाल मधुर और पौष्टिक रस सम्पन्न फलों की उपमा दी है। उन 11 प्रतिमा रूपी रसभरे शक्तिवर्द्धक फलों का

अनुभव करके अपनी मुनिधर्म की पालने की योग्यता बढ़ाकर, पाक्षिक श्रावक क्रम से मुनिधर्म रूपी उत्तम, उन्नत सुख शान्ति के आधार रूप महल के ऊपर आरोहण करे, ऐसा आशावादमय तथा आशीर्वादात्मक भाव इस पद्य का है।

देशविरत गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	तिर्यंचगति
१.	गुणस्थान	१४	१ देशविरत या संयतासंयत गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१ संज्ञी पर्याप्त
३.	पर्याप्ति	६	६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१०
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	२ (तिर्यंच, मनुष्य)
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	९ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+एक औदारिक काययोग)
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	१७ (अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान ८ बिना)
१२.	ज्ञान	८	३ (मति, श्रुत, अवधि)
१३.	संयम	७	१ संयमासंयम
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	३ (पीत, पद्म, शुक्ल)
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	३ (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक)
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	१ आहारक

२०.	उपयोग	१२	६ (३ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (४ आर्त्तध्यान+४ रौद्रध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	३७ (११ अविरति + १७ कषाय + ९ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	१८ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	५५ १/२ लाख कोटि

जैन श्रमण की स्वरूप

(स्व-दोष दूर व आत्म गुण सम्वर्ध्दन रत साधक है जैन साधु)

(तर्ज:-आत्मशक्ति....)

प्रमत्त विरत है छट्ठा गुणस्थान, आचार्य-उपाध्याय-साधु का स्थान।
निर्ग्रन्थ स्वरूप है बाह्य में प्रमाण, आत्म साधना में होते लवलीन।।
मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया व लोभ।
इनके होते उपशम या क्षयोपशम, क्षय भी सम्भव होने से यह गुणस्थान।।(1)
किन्तु सज्जंवलन क्रोध-मान-माया-लोभ, नव नोकषायों का होता सद्भाव।
अतएव यहाँ तक होता प्रमत्त भाव, इसलिए प्रमत्त विरत होता स्वभाव।।
अट्ठाईस मूलगुणों का होता पालन, तथापि व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद परिणाम।
इसे दूर करने हेतु षट्आवश्यक पालन, निन्दा-गर्हा से ले प्रत्याख्यान।।(2)
आत्मस्वभाव होता श्रद्धान-ज्ञान, मैं हूँ शुद्ध-बुद्ध आनन्द धन।
किन्तु पूर्व कर्म उदय के कारण, प्रमाद जनीत दोष भी होते उत्पन्न।।
दोष परिमार्जन व गुण वर्द्धन हेतु, होता है स्वाध्याय-मनन-चिन्तन।
आत्मविश्लेषण से होता आत्म संशोधन, इस हेतु ही पालन होते यम-नियम।।(3)
दोष होते हैं सतत प्रमाद जनित, व्यक्त-अव्यक्त या ज्ञात-अज्ञात।
प्रमाद दूर हेतु होती है साधना, प्रमाद नष्ट से न होती आत्मविराधना।।
ख्याति-पूजा-लाभ हेतु नहीं साधना, मान-सन्मान-सत्कार नहीं भावना।
वर्चस्व हेतु भी नहीं बाह्य प्रभावना, रत्नत्रय तेज से आत्म प्रभावना।।(4)
इस हेतु ही होता आहार ग्रहण, औषधि-उपकरण-ग्रन्थ ग्रहण।

शक्ति अनुसार होता तप-त्याग, आत्मविशुद्धि से प्रमाद नाश।।
तीव्र कषाय के अनुदय के कारण, ऐसा परिणाम वाला होता गुणस्थान।
अतएव स्व-दोषों का होता है परिज्ञान, दोष निवारण हेतु होता परिणाम।।(5)

कषाय उदय संस्कार न रहता दीर्घकाल, अन्तर्मुहूर्त मध्य में होता समाप्तकाल।
इससे अधिक संस्कार से गुणस्थानच्युत, अतएव दोष दूर हेतु सतत प्रयत्न।।
इस हेतु रहते हैं एकान्त में मौन, धन-जन-मान से विरक्त मान।
समता-शान्ति निस्पृहता से चिन्तन, उत्तरोत्तर धर्मध्यान में लवलीन।।(6)

आत्मविशुद्धि की क्रमवृद्धि से, परमात्मा बनते कर्मनाश से।
ऐसे साधक ही बनते-पंचपरमेष्ठी, अधिक साधना करते साधु परमेष्ठी।
इस हेतु ही चक्री तक बनते श्रमण, सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि करके विसर्जन।
अतएव महान् है साधु की साधना, लौकिक उपलब्धि से न सम्भव तुलना।।(7)

साधु बनकर जो चाहते लौकिक उपलब्धि, संसार दुःख वर्द्धक उनकी बुद्धि।
उभयभ्रष्ट होते ऐसे साधु, 'सूरी कनक' का परम लक्ष्य आत्मोपलब्धि।।(8)

नन्दौड़ 29.07.2018 रात्रि 10:33 व 01:21 व 02:26

सन्दर्भ-

महाव्रती-

संजलणणोकसायणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो।।32 गो.सा.

सकल संयम रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और नो कषाय का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है। अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्त विरत कहते हैं।

विगलितदर्शन मोहैः समंजसज्ञानविदितत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निष्प्रकम्पैः सम्यक् चारित्रमालव्यम्।।31 पु.सि.उ.

नष्ट हो चुका है दर्शन मोहनीय कर्म जिनका सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाने हैं जीव अजीव आदिक तत्व जिन्होंने जो सदा अडोल अथवा अचल रहने वाले हैं ऐसे पुरुषों-जीवों द्वारा सम्यक् चारित्र धारण किया जाना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे कषाय का क्षयोपशम होने पर जिसका विषयों और कषायों में गाढ़ा, दुश्रुति (बुरा शास्त्र श्रवण), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी संगति) इनसे सहित, उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में तत्पर ऐसा उपयोग है वह जीव अशुभ में स्थित है। इस गाथा में कहे हुए लक्षण के धारक अशुभोपयोग से रहितपना और उक्त अशुभोपयोग से विलक्षण (उल्टा) जो शुभोपयोग है उसमें प्रवृत्त होना जो है उसको हे शिष्य! तुम चारित्र जानो! और वह चारित्र मूलाचार, भगवती आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे हुए प्रकार से पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप है तो भी अपहृत संयम नामक शुभोपयोग लक्षण का धारक सराग-चारित्र नामक चारित्र होता है। उसमें जो बाह्य में पांचो इन्द्रियों के विषय वगैरह का त्याग है वह तो उपचरित है और जो अन्तरंग में राग आदि का त्याग है वह शुद्ध निश्चयनय से चारित्र है, इस प्रकार नयों का विभाग जानना चाहिये। ऐसे निश्चय चारित्र को साधने वाला जो व्यवहार चारित्र है उसका व्याख्यान किया गया।

कुन्दकुन्द स्वामी सूत्र पाहुड़ में बताते हैं कि जब तक तद्भव मोक्षमार्गी तीर्थंकर भी व्यवहार चारित्र सहित निश्चय चारित्र का प्रतिपालन नहीं करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मगया सव्वे।। 23 सूत्तप्राभृतं

परम वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् के शासन के अनुसार तीर्थंकर भी जब तक बाह्य परिग्रह रूप वस्त्र को स्वीकार करते है तब तक वे सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। निर्ग्रन्थ ही मोक्ष मार्ग है अन्य सर्व कुत्सित कुमार्ग उन्मार्ग हैं।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउण्णाणं जुदोवि करेइ तवयरणं।
णाऊणधुवं कुज्जा तवयरणं णाण जुत्तो वि।। 60 मोक्षप्राभृत।।

जिनकी सिद्धी (मुक्ति) तद्भव में निश्चित है एवं जो मति श्रुत अवधि मनः पर्यय ज्ञान समन्वित है एवं चरम शरीरी तीर्थंकर भी स्वयं को चरम शरीरी तथा निश्चय

मोक्षगामी जानते हुए भी ज्ञान से युक्त होकर सिद्धी प्राप्त के लिए तपश्चरण करते हैं।

तीर्थेश्वरा जगज्जेष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना।
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे।।

विश्व में सर्वश्रेष्ठ तीर्थंकर यद्यपि तद्भव मोक्षगामी हैं तथापि मुक्ति के लिये चारित्र का परिपालन करते हैं।

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइटठं परमजिण वरिदेहि।
एक्को वि मोक्ख मग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।। 10 सूत्रपा.

अचेलकत्व एवं पाणिपात्र में भोजन करना परम जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित है। यह अंतरंग बहिरंग निग्रंन्थता रुप चारित्र ही, मोक्ष मार्ग है अन्य अवशेष मार्ग उन्मार्ग है।

आचार्य भगवन्त का स्वरूप

दंसणणाण पहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च झुंजइ सो आयरियो मुणी झेओ।। 52 द्रव्य.

That sage who attaches himself and others to the practice of virya (power), Charitra (conduct) and Tapa (penance) in which faith and knowledge are eminent is to be meditated as Acharya (preceptor).

1.दर्शनाचार, 2.ज्ञानाचार, 3.वीर्याचार, 4. चारित्राचार और 5.तपश्चरणाचार इन पांचो आचारों में जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्य शिष्यों को भी लगाते हैं ऐसे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांचो आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्या स्थानों के पारंगत हो, ग्यारह अंग के धारी हों अथवा आचारांग मात्र के धारी हो, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हो, मेरु के समान निश्चल हो, पृथ्वी के समान सहनशील हों, जिन्होनें समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहिर फैंक दिया हो, और जो सात प्रकार के भय से

रहित हो उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमोतस्स।।53

That being, the greatest of the great sages who being possessed of the tree jewels, is always engaged in preaching the religious truths, is (known as) upadhaya (teacher). Salutation to him.

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररुप रत्नत्रय से रहित हैं, निरन्ती धर्म का उपदेश देने में तत्पर हैं, वह आत्मा मुनीश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है। इसलिये उनको मैं नमस्कार करता हूँ।

चोद्दस-पुव्व महोयहिमहिगग्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं।
सीलधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो।। 32
एतेभ्यः उपाध्यायेभ्योः नमइति यावत्। धवला पृ.50

णमो उवज्झायाणं उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागम विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।

सो साधु चौदह पूर्वरुपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनिश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार हो।

साधु परमेष्ठी का स्वरुप

दंसणणाणसमग्गंमग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स।। 54

That sage who practises well conduct which is always pure

and which is the path of liberation with perfect faith and knowledge is a Sadhu. Obeisance to him.

जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्ष का मार्गभूत और सदा शुद्ध ऐसे चारित्र को प्रकट रुप से साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं उनके अर्थ मेरा नमस्कार हो।

सीय-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरवहि-मंदरिदु-मणी।
खिदी-उरगम्बर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू।। (33)
सकल धर्म भूमीषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः।

धवला पृ.5

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाईद्वीपवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित है, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमान या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर में समान गम्भीर, मन्दाराचल अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान परिषह और उपसार्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहने वाले, चन्द्रमा के समान शक्ति दायक, मणि के सामन प्रभापुंज युक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय वसति आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

देहात्म बुद्धि रूपी भ्रान्ति-कारण व निवारणोपाय

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांति भूयोऽपि गच्छति।।45 समाधि.

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ।।46

पद्य भावानुवाद-

आत्मतत्त्व को जानने पर व अन्य से भिन्न मानने/(भाने) पर भी।
पूर्व विभ्रम संस्कार के कारण, पुनरपि देहात्म बुद्धि हो जाती।। (45)
इस भ्रान्ति के निवारण हेतु, अन्तरात्मा करता भेद विज्ञान।
दृश्यमान जड़ व अदृश्यमान चेतन है अतः मैं क्यों करु राग द्वेष।। (46)

बहिरात्मा व अन्तरात्मा की ग्रहण-त्याग प्रवृत्ति

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यत्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।। (47)
पद्यभावानुवाद-(चालःआत्मशक्ति...)

बाह्य त्याग व ग्रहण करता मूढ़, अन्तरंग करता है आत्मज्ञानी।
न अन्तर-बाह्य ग्रहण व त्याग करते हैं, वे हैं कृतकृत्य आत्मज्ञानी।। (1)
समीक्षा-
अज्ञानी-मोही भेदविज्ञान बिन, नहीं जानता स्व-पर भेद।
अतएव उसका ग्रहण व त्याग, होता है केवल मोहाश्रित काम।। (2)
द्वेष से अनिष्ट को त्याग करे व, राग से इष्ट को ग्रहण करे।
इससे और भी अधिक कर्म बान्धे, संसार चक्र में भ्रमण करे।। (3)

अन्तरात्मा भेदविज्ञान से, जानते हैं स्व-पर भेदज्ञान।
राग-द्वेषादि को पर मानकर, करते उसका अन्तरंग से त्याग।। (4)

समता-शान्ति व सहिष्णुता को, मानते हैं स्व-आत्मिक गुण।
अतएव इसे ग्रहण करके, आत्मा को करते अधिक गुणवान्।।(5)

कृतकृत्य परमात्मा तो होते हैं, पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध व आनन्द।
स्व-स्वभाव में ही स्थित होने से, नहीं करते ग्रहण व त्याग।।(6)

अन्तरात्मा की अन्तरंग त्याग-ग्रहण प्रवृत्ति

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्।।(48)

पद्यभावानुवाद- (चाल : आत्मशक्ति....)
मन से (भावश्रुत) आत्मा को करे सम्बन्ध, तथा वचन-काय से त्याग करें।
वचन-काय से किया हुआ कार्य, मन से उसका वियोग करे।।(1)

समीक्षा-
राग-द्वेषादि अन्तरंग त्याग के लिए, आत्मा को मन से सम्बन्ध करे।
आत्मनिष्ठ हो वचन-काय से, निस्पृह भाव से काम करे।।(2)
भावश्रुत रूप आत्मज्ञान करे वे, निस्पृह-समता से काम करे।
वचन-काय से काम करने पर भी, अनासक्त रूप से प्रवृत्ति करे।।(3)
पाँच समिति में प्रवृत्त होकर, परके कर्त्ता-भोक्तादि न बने।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागकर, मधुकर/(गोचरी) वृत्ति काम करे।।(4)
आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व-वर्चस्व, त्यागकर ज्ञान-ध्यान-तप करे।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि त्यागकर, आत्मविशुद्धि में तत्पर रहे।।(5)

बहिरात्मा व अन्तरात्मा के विश्वास योग्य

जगद्देहात्मदृटष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनाक्व विश्वासः क्वा वा रतिः।।(49)

पद्यभावानुवाद-
देहात्मदृष्टि वालों के लिये, स्त्री पुत्रादि विश्वास योग्य होते।
आत्मा में ही आत्मदृष्टि वाले, स्त्री पुत्रादि से कैसे विश्वास करे।

समीक्षा-
मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा स्त्री पुत्रादि में अहंकार-ममकार करे।
स्व-आत्म तत्व के विश्वास बिना, स्त्री पुत्रादि में विश्वास करे।।2
इससे भिन्न अन्तरात्मा स्त्री पुत्रादि को पर स्वरूप माने।

आत्म तत्त्व में विश्वास करे स्त्री पुत्रादि से मोह न करे।।3

मोही पर को अपनाता

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।।8।। इष्टो.

All the objects, the body, the house, the wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like are quite different in their nature from the soul; the foolish an, however, looks upon then as his own.

स्व-पर विवेकहीन मूढ़ मोही जीव शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र यहाँ तक कि शत्रु को भी जो सर्वथा स्वयं से भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। सर्वथा सर्व प्रकार से अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से जो स्व. स्वरूप से अन्य है, भिन्न है ऐसे परद्रव्य को भी दृढ़तर मोह से आविष्ट जीव अपना मान लेता है। शरीर जो कि अचेतन परमाणुओं से (रक्त, माँस, हड्डी, चर्म आदि) निर्मित होने के कारण अचेतन स्वरूप है उसे भी अपना मान लेता है। इसी प्रकार घर, धन स्पष्ट रूप से भौतिक जड़ वस्तु से निर्मित है उसे भी अपना मान लेता है। भार्या, पुत्र, मित्र तथा शत्रु जो कि शारीरिक दृष्टि से तथा आत्मिक दृष्टि से भी भिन्न है उसे भी अपना मान लेता है। यहाँ पर शरीर आदि को हितकारी मानता है और शत्रु आदि को मेरा अहितकारी मानकर उसमें भी मेरा शत्रु है ऐसा अपनापन रखता है।

समीक्षा-शुद्ध निश्चय से स्वशुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ही स्व-चतुष्टय है और इससे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन द्रव्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है, पर है तथापि मोही जीव मोह के कारण पर आत्म स्वरूप को भी स्व-स्वरूप मान लेता हैं, जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती है, इन्द्रियजनित सुख मिलता हो उसको अपना हितकारी मानकर अपना मानता है और राग करता है तथा जिससे स्वार्थसिद्धि नहीं होती है, इन्द्रियजनित सुख नहीं मिलता हो उसको अपकारी मानकर उससे द्वेष करता है। एक के प्रति रागात्मक सम्बन्ध है तो दूसरे के प्रति द्वेषात्मक संबधं है। मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्म के कारण श्रद्धा रूप से तथा आचरण रूप से शरीर आदि पर वस्तु में मोह करता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धा रूप से

परद्रव्य को पर मानते हुए भी जब तक चारित्रमोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक वह पर द्रव्य को व्यवहार रूप से, आचरण रूप से अपना मानता है।

साधुओं को जनसम्पर्क त्यजनीय

जनेभ्यो वाक् ततःस्पन्दो मनसश्चितविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।(72)

(राग : आत्मशक्ति से...)

जन-सम्पर्क सह वार्तालापों से, स्पन्दित होता मन विभ्रम चित्त भी।
जन-सम्पर्क तथा वार्तालाप दोनों, त्याग करते मुमुक्षु श्रमण योगी।।

आत्मज्ञानात्परं कार्य न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः।।(50)

आत्मज्ञानपरे अन्य सभी कार्य, नहीं धारणीय है अधिक काल।
आवश्यकतानुसार कुछ कार्य, करणीय वाक् काया से अतत्पर।।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा में ज्ञापनश्रमः।।(58 समाधितंत्र)

समझाने या असमझाने पर भी,मूढ़ न समझते ऐसी अवस्था में ही।
समझाने का मेरा श्रम व्यर्थ जाता, अतएव मूढ़ को नहीं समझाता।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।(78 समाधितंत्र)

व्यवहार में सुप्त होते ज्ञानी-ध्यानी, आध्यात्मिकता में होते पारगामी।
व्यवहार में जागृत होते भोगी-अज्ञानी, आध्यात्मिकता से होते प्रतिगामी।।

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।। (43 समाधितंत्र)

आत्मा के लिए बोलो तथाहि पूछो, उसकी इच्छा करो तत्पर बनो।
अज्ञानता को त्यागो विद्यामय ही बनो, ऐसा ही ज्ञानी-ध्यानी श्रमण बनो।

पैशून्य हास्यगर्भं कर्कशमसमंजसं प्रलापितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।। (96 पु.सि.)

पैशून्य हास्यगर्भ कर्कश वचन, त्यजनीय है असमंजस व प्रलाप।
अन्य भी जो उत्सूत्र व गर्हित कथन, त्यजनीय (है) सभी ये असत्य वचन।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोक कलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।। (98 पु.सि.)

अरतिकर व भीतिकर जो कथन, त्यजनीय सभी खेदकर भी वचन।
वैर शोक कलहकर जो वचन, त्यजनीय (सभी) तापकर अप्रिय वचन।

मिथ्यापेदेश दानं रहस्योऽभ्याख्यान कूटलेखकृती।
न्यासाऽपहार अतिचाराः भवन्तिमन्त्रभेदाश्च।। (184 पु.सि.)

मिथ्या-उपदेश रहस्य उद्घाटन कथन, कूटलेखकरण न्यासापहार हरण।
गुप्त अभिप्राय का भी प्रगटीकरण, अतिचार पाँचों सत्य कथन में।।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थ विप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने।। (ज्ञानार्णव)

धर्म के नाश में या क्रिया के ध्वंस में, सुसिद्धांत अर्थ के विप्लव (समय) में।
बिना पूछे भी कथन करणीय, तत्तस्वरूप प्रकाशन के लक्ष्य में।।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।।(81 र.श्रा.)

अज्ञान-तिमिर से व्याप्त संसार में, उसे दूर करने के प्रयोजन में।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशनार्थे, प्रभावना हो पवित्र भाव से।।

रुसउ वा परो मा वा विसं वा परियतउ।
भासियव्वा हिय भासा सपक्खगुण करिया।। (श्वे. साहित्य)

कोई हो रोष या कोई हो तोष, कोई विष माने कोई अमृत।
स्व-पर हितकर वचन ही योग्य, अहितकर वचन सभी ही त्याज्य।
शिक्षा-समता-शांति मौन मेरे तो श्रेय, हितकर सत्य कथन प्रिय।
असत्य विसंवाद कलह अप्रिय, अनुशासनहीन अव्यवस्था अप्रिय।।
अधिकांश जन होते (है) संकीर्ण स्वार्थी, रूढ़िवादी पंथ-मत के दम्भी।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा से होते आवेशित, सत्य-समता से होते वे वंचित।।

आत्महित हेतु वे होते न तत्पर, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि के आतुर।
अव्यवस्थित ज्ञान तथाहि व्यवहार, न करते कर्त्तव्य विनय सदाचार।।
दम्भ प्रदर्शन हेतु होते वे आतुर, छिद्रान्वेषण निन्दा में होते हैं भरपूर।
फैशन-व्यसन व भोगोपभोग में, अस्त-व्यस्त व संत्रस्त जीवन में।।
इनसे विपरीत मेरे भाव-व्यवहार, अतः मैं चाहूँ मौन-एकांतवासं।
राग-द्वेष-मोह मैं किसी से न करूँ, 'कनक' स्व-स्वभाव हेतु करूँ प्रयास।।

सफलता का मार्ग है अनुशासन

आपको अपने आप से निरंतर यह प्रश्न करना चाहिए कि आप सबसे बेहतर क्या कर सकते हैं और इसके बाद अपने जीवन को बेहतर बनाने के प्रयास में जुट जाना चाहिए।

हर काम को करने का एक निश्चित और अनुशासित तरीका होता है। अपनी जिन्दगी में अनुशासन को अपनाने से पूर्व जरूरी है आत्मानुशासन धारण करना। इसका सीधा सा अर्थ है भटके हुए मन को एक दशा में केंद्रित करना और यह सीखना कि इसे कैसे निर्देशित किया जा सकता है। हमारी सफलता इसी पर निर्भर करती है और यकीन मानिए स्वयं पर अनुशासन रखकर हम कर कार्य को सम्भव बना सकते हैं।

अनुशासन सफलता का प्रमुख कारक

अनुशासन हमारे अंदर आत्म नियंत्रण लाता है। इसका आरम्भ हमारे मन से होता है क्योंकि सफलता या असफलता, जय या पराजय सब यहीं से उत्पन्न होते हैं। भले ही हमारे सपने बड़े हो, हमारे जीवन में उनकी कितनी ही बड़ी अहमियत क्यों न हो, यदि हम अनुशासित रहकर अभ्यास नहीं करते हैं, तो उसे कभी नहीं पा सकते। अनुशासन हमारी शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत है, जो हमें जीवन में सबसे आगे ले जा सकता है या हमें जीवन की इस दौड़ में पछाड़ सकता है।

स्वयं पर अनुशासन की ताकत

आत्मानुशासन को आप बाज़ार से ख़रीद नहीं सकते। जीवन में कोई भी निश्चित

लक्ष्य या उद्देश्य पाने के लिए आपको आत्मनियंत्रण, आत्मनिर्भरता तथा वचनबध्दता को अपनाना ज़रूरी है क्योंकि अगर हम अपने विचारों पर ही नियंत्रण नहीं रख सकते। तो अपने कार्यों पर नियंत्रण रखना नामुमकिन है। मैं अनेक कार्यक्रमों में हिस्सा लेता रहता हूँ और यह पहले से तय कर लेता हूँ किस समारोह में कितना समय दूंगा। इसके लिए मैं दो घड़िया पहनता हूँ जिनमें से एक स्टॉपवॉच मोड पर रहती है। मैं किसी भी कार्यक्रम में आवश्यकता से अधिक नहीं रुकता। इस तरह मैं अपने उन कामों के लिए समय निकाल पाता हूँ जिनके लिए मुझे आवश्यक रूप समय निकाल पाता हूँ जिनके लिए मुझे आवश्यक रूप से समय निकालना चाहिए।

सकारात्मक चिंतन है आवश्यक

सफलता सकारात्मक चिंतन से आरंभ होती है क्योंकि सकारात्मक विचारों से ही हम विचारों, भावानाओं तथा कर्मों को उत्पन्न करते हैं, जो हमारी सफलता में योगदान देते हैं। अनुशासित मन सकारात्मकता से भरपूर होता है तो हमारे लिए प्रसन्नता, स्वास्थ्य व जय की और देखना सरल हो जाता है। और यह सफलता केवल एक ही अनुशासन पर आधारित है वह है आत्मानुशासन।

अधिक उत्पादक बनाता है

आत्मानुशासन से आत्म रुचि, बेहतर आत्म नियंत्रण तथा आत्मनिर्भरता भी उत्पन्न होते हैं। ये हमें इस योग्य बनाता है कि हम रचनात्मक, उत्पादक और आनंददायक जीवन जी सकें। अगर हम आत्मानुशासन के साथ अपने समय का उचित प्रबंधन सीख लें तो हम किसी भी चुनौती का सामना आसानी से कर सकते हैं। जीवन में सफलता के लिए त्याग भी करने पड़ सकते हैं। जैसे छात्र को सफल होने के लिए सैर-सपाटा, मौज-मस्ती से ध्यान हटाकर पढ़ाई में मन लगाना ही होगा। अनुशासन हमें अधिक से अधिक उत्पादक बनाता है।

स्वास्थ्य-पर्यावरण सुरक्षा हेतु पैदल चलो!

(चाल-1.परदेशियों से न अँखिया... 2. क्या मिलिए... 3.आत्मशक्ति... 4. सायोनारा... 5.देहाची तिजोरी... 6.दुनिया में रहना है तो...)

मानव यदि है तुम्हें स्वस्थ्य (सुखी) जो होना,
पैदल चलने में प्रमाद/(आलस्य) न करना।
चलने से तन-मन होते स्वस्थ्य-सबल,
पर्यावरण सुरक्षा से ले धन का न अपव्यय।। (1)
शिशु चलते हैं घुटने के बल पर,
विकसित भ्रूण हिलाते हैं हाथ-पैर।
बालक व किशोर तो दौड़-धूप करते,
साधु-साध्वी तो पैदल ही चलते।। (2)
श्रमिक-कृषक आदि पैदल ही चलते/(काम करते),
पशु-पक्षी भी सदा पैदल ही चलते।
आलसी-दंभी बडे ही न चलते,
विभिन्न रोग व समस्याओं को भोगते।। (3)
तीर्थंकर गणधर ऋद्धि-मुनि-साध्वी,
महात्मा बुद्ध-श्रमण-श्रमणी-आदि।
पैदल ही विहार करते है सदा,
अहिंसा-अपरिग्रह स्वास्थ्य सुरक्षा।। (4)
करोड़ो वर्षों से मानव चल रहें हैं,
चलने योग्य शरीर की रचना हुई है।
स्थावरों के देह बने स्थिरता योग्य,
चले बिन मानव बने स्थावर (निष्क्रिय) सम।। (5)
शरीर प्रकृति से विपरीत निष्क्रियता,
जिससे उत्पन्न होती अनेक समस्या।
अनेक आधि-व्याधि होते उत्पन्न,
अपव्यय होते धन-जन-साधना।। (6)
जो न चलते उनकी औषधियाँ चलती,
डाक्टर के आधीन जिन्दगी चलती।

स्थावर के सम निष्क्रिय जीवन होता,
शरीर की समस्याओं में जीवन बीतता।। (7)
तीन कि.मी. रोज चलने के कारण,
शरीर सक्रिय होता स्राव सैरेटोनिन।
मांसपेशियों में (होती) गति, लचीली बनती,
रक्त प्रवाह बढता विषाक्तता निकलती।। (8)
जोड स्वस्थ्य होते गठियावात न होता,
वजन नियंत्रण होता चर्बी न बढती।
कब्ज-अपच-तनाव-थकान न होते,
गहरी निद्रा आती तन-मन-स्वस्थ्य होते।। (9)
ब्रेन-स्ट्रोक-हृदय रोग व अल्जाइमर,
कोलन-प्रोस्टेट-गर्भाशय कैंसर।
इन की संभावना होती काफी कम,
यदि हुए है इनकी शक्ति होती क्षीण।। (10)
प्रातःकाल सूर्योदय में भ्रमण योग्य,
प्राकृतिक स्वच्छ स्थान में चलना योग्य।
इससे सूर्य किरणों से विटामिन डी (D) बनता,
अस्थि दृढ़ होती अस्थि रोग भी न होता।। (11)
प्राकृतिक दृश्य-कलरव के कारण,
तन-मन होते स्वस्थ बढता ज्ञान।
प्रकृति प्रेम से पर्यावरण सुरक्षा होती,
अहिंसा पालन होती मित्रता बढ़ती।। (12)
स्वावलम्बन से दुर्घटना न होती,
धन-जन-साधनों का दुरुपयोग न होता।
सहज-सरल-सादा जीवन जीते,
'कनक' बाल्यकाल से पैदल चलते।। (13)

सागवाड़ा-दि. 11-7-2018 रात्रि 9.46

चलिए... क्योंकि चलना ही सेहत है

बेहतर स्वास्थ्य का सरल उपाय

पिट्सबर्ग यूनिवर्सिटी में हुए एक शोध के अनुसार 10 % वजन में कमी होती है, 1 साल तक रोज़ाना 40 मिनट के वर्कआउट से। अगर वजन 70 किलो है तो एक साल में ही इसे 63 किलो किया जा सकता है।

रोज़ाना चलने से...

30 % ब्रेन स्ट्रोक

27 % हृदय रोग

32 % अल्ज़ाइमर का ख़तरा कम होता है

और...

53 % कोलन कैंसर

35 % प्रोस्टेट कैंसर

53 % गर्भाशय कैंसर की सम्भावना काफ़ी कम हो जाती है...

कम मेहनत और अधिक आराम हमारी सफलता का पैमाना बन चुका है।

हम विश्व इतिहास की सबसे कम चलने वाले पीढ़ी है।

इस रिकॉर्ड को यहीं रोक दें और चलना शुरु करें,

व्यायाम से दूर होते हम

विश्व की लगभग 90 % आबादी व्यायाम नहीं करती। चिकित्कों के पास लगी लाइन आधी हो सकती है अगर लोग आधा घंटा रोज़ चलना शुरू कर दें तो। मैं अक्सर रोगियों से पूछता हूं कि आख़िरी बार 3 से 4 कि.मी. कब चले या दौड़ थे तो अधिकांश सोचते रह जाते हैं। उन्हें याद ही नहीं आता कि यह सामान्य-सा दिखाई देने वाला काम उन्होंने कब किया था। अगर आप यह काम रोज़ाना करें तो शायद दवाइयों की कम ही ज़रूरत पड़े।

निरोगी काया की कुंजी

जिन्हें चक्कर आते हों उन्हें छोड़कर सभी को चलना चाहिए। चलने से कई रोगियों ने अपने स्वास्थ्य में सुखद और आश्चर्यजनक बदलाव महसूस किया। सेहत को लेकर हर संस्कृति बहुत सजग रही है और चलने का सभी ने बहुत गुणगान किया है। जब हम चलते हैं तो कोशिकाओं में गति होने लगती है। माँसपेशियों में गति होती है, वे लचीली बन जाती हैं, उनमें रक्त प्रवाह बढ़ता है जो कि विषैले पदार्थों को उनमें से निकालकर ले जाता है। जोड़ स्वस्थ होते हैं। आनन्द देने वाले रसायन सैरेटोनिन का स्राव बढ़ता है जिससे हम खुश रहने लगते हैं, हमारा तनाव दूर होता है, हम अवसाद से मुक्त होने लगते हैं।

अनिद्रा को दूर करता है

चलने या वर्कआउट करने से आंतों में गति (पेरिस्टालसिस मूवमेंट) होने लगती है जिससे हम कब्ज, अपच, एसिडीटी जैसी समस्याओं से मुक्त होने लगते हैं। चलने से हम थकते हैं और थकान नींद के लिए सबसे प्रभावी दवाई है। जर्नल ऑफ क्लीनिकल स्लीप मेडिसिन में प्रकाशित एक शोध के अनुसार रोजाना वर्कआउट करने या चलने वाले अनिद्रा के रोगियों में यह समस्या 55 प्रतिशत कम हो जाती है। साथ ही दिल, किडनी और दिमाग स्वस्थ रहते हैं। नसों में बन चुके ब्लॉक हटते हैं, पथरी घुलती है।

चलें नहीं तो दवाइयां चलेंगी

चलने मात्र के इतने फायदे देखकर सोचना लाजमी है कि कल से ही जिम जॉइन कर लेंगे या फिर मॉर्निंग वॉक पर जाने लगेंगे। लेकिन विश्व के 90 प्रतिशत लोग छः महीने में ही व्यायाम छोड़कर उसी पुराने ढ़र्रे पर लौट आते हैं। इसलिए जरूरी है कि इसे केवल एक निश्चित समय देने के साथ ही अपनी दिनचर्या में शामिल करें।

चलने को अपनी आदत बना लें या इसे अपनी मजबूरी बना लें। जैसे कार को ऑफिस से एक किलोमीटर दूर पार्क करें, घर के सामान जैसे किराना, दूध, सब्जियाँ लेने पैदल ही जाएं।

लिफ्ट की जगह सीढ़ियों का इस्तेमाल करें।

रोजाना पैदल चलने का लक्ष्य बनाए जैसे 10 हजार क़दम या 3 किलोमीटर। यह लक्ष्य आप 24 घंटे में कभी भी पूरा कर सकते हैं।

घर के मेहनत वाले काम खुद करें जैसे-सफाई करना, कपड़े धोना, पोछा लगाना, बागवानी करना आदि।

तैरना, डासिंग, बच्चों के साथ मस्ती करना या खेलना भी बहुत अच्छे और लाभदायक व्यायाम है।

तो आज से चलिए...

क्योंकि चलना ही जीवन हैं...

एक सेहतमंद जीवन जिसके हकदार हैं आप...

फॉरेस्ट थेरेपी क्या हैं इसके लाभ

बहुत से लोग प्रकृति या नेचुरल जगहों पर समय बिताना पसंद करते हैं। लेकिन क्या आप जानते थे कि ये सिर्फ हमें आनन्द ही नहीं देता, बल्कि कई स्वास्थ्य लाभ भी देता है। जी हाँ फॉरेस्ट थेरेपी भी एक ऐसी ही बढ़ती प्रथा है जो हमारे दिमाग और आपके शरीर के लिए बहुत लाभदायक है। यह थेरेपी खासकर के उन लोगों के लिए बहुत फायदेमंद है जो हर वक्त चिंता और तनाव में रहते हैं। यह अद्भुत प्रैक्टिस जापान में शुरु हुई थी और इसे जापानी भाषा में शिन्रीन-योकू कहा जाता है। इस मनोरंजक अभ्यास में आपको जंगलों में आराम के लिए एक यात्रा करनी पड़ती है। इस थेरेपी की शुरुआत करने का मकसद लोगों को नेचुरल चीजों की ओर आकर्षित करना है। जंगल की जगहें, ध्वनियाँ और गंध हमें उस पल में सही ले जाती हैं, जिसके चलते हमारा मस्तिष्क अनुमान लगाना, याद करना, और चिंता करना बंद कर देते हैं।

जंगल की जगहों और ध्वनियों को लेने से व्यक्ति आराम महसूस करता है। फॉरेस्ट थेरेपी सिर्फ हमारे मस्तिष्क को ही नहीं बल्कि शरीर को भी आराम पहुँचाती है। एक अध्ययन से पता चला है कि वन थेरेपी कॉर्टिसोल एक तनाव हार्मोन को कम कर देता है। एक और अध्ययन में पाया गया कि वन थेरेपी का रक्तचाप और

एडीपोनेक्टिन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इतना ही नहीं ये रक्त शर्करा में ग्लूकोज के स्तर को नियंत्रित करने में भी मदद करता है।

इसके अन्य लाभ

- ब्लड प्रेशर के मरीजों के लिए फॉरेस्ट बादिंग या थेरेपी बहुत फायदेंमद है। इसे लेने से रक्तचाप सामान्य रहता है।
- वन में स्नान करने से सकारात्मक भावनाओं में वृद्धि होती है, नेगेटिव भावनाएँ कम हो जाती हैं और आप अपने बारे में बहुत अच्छा महसूस करते हैं। यानि कि इससे चिंता, अवसाद और डिप्रेशन में आराम मिलता है।
- बच्चे के स्वास्थ्य पर ये थेरेपी बहुत अच्छा असर डालती है।
- फॉरेस्ट बादिंग से रक्त में ग्लूकोज के स्तर को भी कम करने में मदद मिलती है। डायबिटीज के मरीजों के लिए ये थेरेपी बहुत फायदेमन्द है।
- मोटापे और ओबेसिटी के शिकार लोग यदि रोजाना आधे घटे भी फॉरेस्ट थेरेपी लेते हैं तो अतिरिक्त कैलोरी को बर्न करने में मदद मिलती है।

सैन फ्रांसिस्को युनिवर्सिटी ने छात्रों को गणित के सवाल देकर टेस्ट कराया, उसी से नतीजा निकाला

शरीर की पोजीशन से भी है पढ़ाई का संबंध : बैठकर सवाल हल न हो तो खड़े हो जाएं, हल की संभावना 50 प्र. बढ़ जाती है : रिसर्च

ऑफिस में भी खड़े होकर काम करने से नतीजे में 40 प्र. तक का सुधार आता है

गणित का कोई मुश्किल सवाल हल नहीं हो रहा, तो जरा शरीर की पोजीशन बदलकर देखिए। बैठे हैं तो खड़े हो जाइए। ऐसा करने से सवाल के हल होने की संभावना 50 प्र. तक बढ़ जाएगी। ये नतीजा सैन फ्रांसिस्को युनिवर्सिटी के हालिया अध्ययन से निकला है।

यूनिवर्सिटी ने पढ़ाई और शरीर के पॉश्चर के बीच संबंध का पता लगाने के लिए

करीब एक हजार छात्रों पर शोध किया। इन सभी छात्रों को गणित के कुछ सवाल हल करने के लिए दिए गए। देखा गया कि सवाल हल करते-करते कुछ ही देर में छात्रों के शरीर का पॉश्चर बदलने लगता है। कुछ अपनी पीठ बिल्कुल सीधी करके बैठने लगे तो कुछ कुर्सी के बिल्कुल आगे खिसककर बैठ गए। कई छात्र तो खड़े ही हो गए। कुछ ऐसे भी थे जो मेज पर झुककर सवाल हल कर रहे थे। टेस्ट खत्म होने के बाद 56 प्रतिशत छात्रों ने माना कि खड़े होकर सवाल हल करने में उन्हें आसानी महसूस हुई। इसका कारण है-एक्टिव और पैसिव ब्रेन यानी सक्रिय और कम सक्रिय दिमाग। शरीर के पॉश्चर का दिमाग की रफ्तार पर सीधा असर पड़ता है। लेटकर या आरामतलब होकर पढ़ाई करने से दिमाग की सक्रियता कम होती है। शरीर की मुद्रा सुधारने पर ये सुधरती है। दफ्तरों में भी अगर खड़े होकर काम किया जाए तो नतीजे में 40 प्रतिशत तक का सुधार होता है। इसी वजह से यूरोपीय देशों में स्टैडिंग ऑफिस का कल्चर बढ़ रहा है।

शोध टीम में शामिल प्रोफेसर एरिक पेपर बताते हैं - 'अगर बच्चे लंबी देर तक बैठकर पढ़ रहे हैं, तो उन्हें हर 30 मिनट में कुछ देर के लिए खड़े होकर भी पढ़ना चाहिए। ऐसा करने से बेहतर नतीजा आने की संभावना तो बढ़ती ही है, साथ ही पढ़ाई में होने वाला तनाव भी कम होता है। ये नतीजा सिर्फ गणित तक नहीं, बल्कि सभी विषयों और हर उस काम के लिए है, जिसमें एकाग्रता की जरूरत होती है। गणित के सवाल तो इसलिए दिए गए क्योंकि इसे सबसे कठिन विषय माना जाता है।'

रोगों को भगाने के लिए करें योग

सांस लेने का सही तरीका और एक्सरसाइज का कॉम्बिनेशनल यानी योग, कई बीमारियों को जड़ से खत्म कर सकता है। शरीर की अलग-अलग समस्याओं और रोगों के अनुसार अलग-अलग योग क्रियाएँ होती हैं जिन्हें अपनी दिनचर्या में शामिल करना जरूरी है। साथ ही शरीर को लचीला, ऊर्जावान और मजबूत बनाए रखने के लिए भी योग करना जरूरी है। यहाँ हम कुछ ऐसे ही योग की चर्चा कर रहे हैं जिनसे न सिर्फ आप फिट रह सकते हैं बल्कि रोग को भी दूर भगा सकते हैं।

30 प्रतिशत लोग पूरी दुनिया में बिना किसी दवा या थैरेपी के केवल योग के सहारे स्वयं को स्वस्थ और तंदुरुस्त बना रहे हैं। यह दावा किया है येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कीट्स ने हाल में किए गए एक ताजा शोध में।

थायराइड

ज्यादातर लोग इन दिनों इस बीमारी से जूझ रहे हैं। हमारे शरीर की उपापचयी क्रियाओं को एडम्स एप्पल नियंत्रित करता है लेकिन जब हॉर्मोन का स्राव अनियंत्रित हो जाता है तो थायराइड संबंधित बीमारियाँ शुरु हो जाती है। थायराइड कम या ज्यादा होने पर अलग-अलग समस्याएँ सामने आने लगी हैं। ऊर्जा का कम होना, त्वचा संबंधित परेशानियाँ, चिंता, तनाव, गर्दन में सूजन, बालों का झड़ना और कब्ज जैसे लक्षण इस बीमारी में दिखाई देते हैं।

योग में इलाज

इस समस्या से बचने के लिए हलासन और मत्स्यासन किया जा सकता है। दोनों ही आसनों का प्रभाव गर्दन पर पड़ता हैं, जो थायराइड ग्रंथियाँ सुचारु रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं।

पीसीओडी

महिलाओं में इन दिनों पीसीओडी यानी पॉलिसिस्टिक ओवेरियन सिंड्रोम डिजीज काफी देखने को मिल रही है। जब महिलाओं की ओवरी या एड्रिनल ग्रंथि सामान्य से ज्यादा पुरुषों के हॉर्मोन का निर्माण करने लगे तो इस बीमारी के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। पीसीओडी में मासिक धर्म का अनियमित या न होना, शरीर और चेहरे पर अत्यधिक बाल उगना, गंजापन बढ़ना, ओवेरियन सिस्ट जैसे लक्षण दिखते हैं।

योग में है इलाज

धनुरासन और भुंजगासन इस बीमारी को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। धनुरासन जहाँ प्रजनन अंगों को प्रभावित करते हैं, वहीं भुजंगासन, ओवरी की गतिविधियों को सक्रिय बनाता है।

डायबिटीज

यह ऐसी स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति का ग्लूकोज स्तर बढ़ने के साथ ही इंसुलिन का निर्माण कम हो जाता है और शरीर में पर्याप्त इंसुलिन नहीं मिलने से व्यक्ति का मेटाबोलिक सिस्टम बिगड़ जाता है। बार-बार पेशाब आना और प्यास लगना अत्यधिक भूख लगना और थकान व चक्कर जैसे लक्षण अक्सर डायबिटीज के मरीजों में देखने को मिलते हैं।

पेट से जुड़ी बीमारी

अपच, कब्ज, डायरिया, गैस्ट्राइटिस या अन्य पेट संबंधित गड़बड़ी से राहत के लिए भी कई योग आसन किए जा सकते हैं। ऐसी बीमारी में अक्सर पेट फूलना, जी मिचलाना, वजन का कम होना, गैस जैसी समस्याएँ सामने आती हैं।

योग में है इलाज

इसमें पश्चिमोतानासन और हस्तपादासन किया जा सकता है। कब्ज, अपच, पेट फूलना और इसमें एसिडिटी आदि से राहत दिलाने के साथ सिस्टम से विषैले तत्वों को हटाने व पाचन सुधारने में मददगार।

योग में है इलाज

अर्ध मत्स्येंद्रासन और चक्रासन इस रोग से राहत दिला सकते हैं। दोनों ही आसन शरीर में शुगर के स्तर को नियंत्रित करने में लाभकारी होते हैं।

गठिया

जोड़ों में दर्द, अकड़न और संबंधित अंगों का सही तरीके से नहीं घुमापाना गठिया का लक्षण होता है। यह खासतौर पर 65 से अधिक आयु के लोगों में ज्यादा दिखाई देता है। इन दिनों यह समस्या किसी भी उम्र के लोगों में देखी जा सकती है।

योग में है इलाज

शिशुआसन और अधो मुख शवासन इस रोग में लाभकारी हो सकते हैं। वर्टिब्र को सीधा रखने में शिशुआसन और अधोमुख शवासन शरीर का लचीलापन बढ़ाने के साथ रीढ़ की हड्डी में भी खिंचाव लाता है।

निचले कमर में दर्द

लंबे समय तक बैठे रहने या सही पोश्चर में नहीं सोने, उठने से ऐसी परेशानी हो रही है। ज्यादा समस्या होने पर बुखार और ठंड लगना, मूत्र त्यागने में असुविधा होना, पेट में लगातार और तेज दर्द होना जैसे लक्षण सामने आने लगते हैं।

योग में है इलाज

सुप्त मत्स्येंद्रासन और वृक्षासन से निचले कमर दर्द की समस्या से निजात पाया जा सकता है। दोनों ही आसन रीढ़ की हड्डी और शरीर का संतुलन बनाने में लाभकारी होते हैं।

माइग्रेन

हाइपएक्टिविटी, सिर के एक या दोनों हिस्सों में तेज दर्द होना, कई बार गंध से उल्टी या जी मिचलाना जैसे लक्षण माइग्रेन में नजर आते हैं। यह एक क्रॉनिक न्यूरोलॉजिकल बीमारी है जिसमें सिर में बहुत तेज दर्द होता है।

योग में है इलाज

पद्मासन और शीर्षासन जैसे योग इसमें लाभकारी होते हैं। पद्मासन से जहाँ दिमाग शांत होता है और सिर दर्द कम होता है। वहीं शीर्षासन से मस्तिष्क तक का रक्त का संचार बढ़ता है और इस समस्या से राहत मिलती है।

देश-विदेश में हुए सैंकड़ो-हजारों शोधों में यह बात साबित हो चुकी है कि योग सभी तरह की बीमारियों में कवच का काम करता है। योग न केवल आपको अच्छी सेहत देता है बल्कि योग को अपनाने से मानसिक शांति और सुकून भी मिलता है। अगर आप किसी बीमारी से जूझ रहे हैं या हमेशा के लिए बीमारियों से दूरी बनाए रखना चाहते हैं, तो योग से बेहतर शायद ही कोई उपाय हो सकता है।

ध्यान से संभव है अनेक रोगों का उपचार

ध्यान योग की एक ऐसी क्रिया है जिसके नियमित अभ्यास से 'तनाव' जैसी मानसिक व्याधियाँ तो दूर होती ही हैं, साथ ही अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियों से भी मुक्ति मिल जाती है। 'ध्यान' करने

वाले व्यक्तियों के शारीरिक तांत्रिक-तंत्र की क्रियाशीलता बढ़ जाती है और व्याधियों से छुटकारा मिलता है।

बेलिंगटन विश्वविद्यालय के अनुसंधानकर्ता वैज्ञानिक टाम जे. रौट ने अपने अध्ययन में पाया है कि ध्यान का अभ्यास करने वालों में शारीरिक क्षमता सामान्य एवं सुचारू रूप से सम्पादित होने लगती है। ध्यान के बाद भी अभ्यासकर्ता की श्वसन गति धीमी एवं आरामदायक रूप में चलती रहती है। धीरे-धीरे श्वसन गति दर कम हो जाती है जो स्वास्थ्य के लिए सुखद मानी जाती है।

वैज्ञानिकों का मत है कि ध्यान का प्रयोग उच्च रक्तचाप को कम करता है। ध्यान करने वाले व्यक्तियों में नशे की आदत छूटने लगती है। जो लोग ध्यान से पहले तनाव, श्वसन-खांसी के मरीज बने रहते हैं, उनके स्वास्थ्य में सुधार आने लगता है।

हाइपोकोड्रिया, साइजोफ्रेनिया, टायलर मैनीफेस्ट एंक्जाइटी जैसी बीमारियों को भी 'ध्यान' द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। अधिक दिनों तक ध्यान के नियमित अभ्यास का क्रम बनाए रखने से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में असाधारण रूप से वृद्धि होती है।

वैज्ञानिक फ्रैंक पैपेण्टिन ने अपने अनुसंधान 'ध्यान और शुद्धिकरण' में बताया है कि ध्यान का नियमित अभ्यास करने से मनुष्य के शरीर की जीवन शक्ति बढ़ती है तथा इम्यून सिस्टम का विकास होता है। इससे आये दिन धर दबोचने वाली अनेक छूत की बीमारियों-संक्रामक बीमारियों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है। 'ध्यान' के माध्यम से ध्यानार्थियों के शरीर और मस्तिष्क के बीच अच्छा समन्वय तथा सतर्कता में वृद्धि होती है, मतिमन्दता में कमी आती है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान निष्पादन क्षमता एवं रिएक्शन टाइम में असामान्य रूप से वृद्धि होती है। उनके शारीरिक न्यूरोमस्कुलर समाकलन की दक्षता में अप्रत्याशित वृद्धि हो जाती है। चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत ध्यान योग को चिकित्सा की एक विधा के रूप में स्वीकारा गया है। ध्यान राजयोग का दूसरा चरण होता है। धारणा में जहाँ चित्त की एकाग्रता रहती है वहीं ध्यान में मन को उससे आगे ले जाना पड़ता है। ध्यान में मन की एकाग्रता के साथ ही चिन्तन और मनन की क्रिया में भी मन लगाना पड़ता है। पद्मासन की मुद्रा में बैठकर आँखों को बंद कर ध्यान करते रहने से सिरदर्द, दांतदर्द, पेट की गड़बड़ी, दमा, सर्दी-

खाँसी, मोटापा, शारीरिक विकास में कमी आदि में तो लाभ पहुँचता ही है, साथ ही पांचन तंत्र, रक्त संचार तंत्र, श्वसन तंत्र, स्नायु तंत्र, उत्सर्जन तंत्र आदि पर भी लाभकारी प्रभाव पड़ता है। तन-मन को व्यवस्थित करके मानसिक संतुलन को बनाये रखकर अच्छे स्वास्थ्य को प्रदान करने में 'ध्यान' के समान अन्य और कोई दूसरी विधि नहीं है अतः 'ध्यान' का नियमित अभ्यास करते हुए इससे लाभ उठाया जाना चाहिए।

बाहर समय बिताने से बेहतर रहता है स्वास्थ्य

प्रकृति के नजदीक रहने और बाहर समय बिताने से टाइप-टू मधुमेह, हृदय संबंधित बीमारियाँ, अकाल मौत और समय से पूर्व जन्म और लोगों में तनाव पैदा होने का खतरा कम होता है। इस अध्ययन में 20 देशों के 29 करोड़ के लोगों के आँकड़ों को शामिल किया गया है। अध्ययन के अनुसार जहाँ लोग प्रकृति के ज्यादा नजदीक होते हैं, उनकी सेहत अच्छी होती है।

शोध में कहा गया है कि प्रकृति के नजदीक समय बिताने से निश्चित रूप से हम लोग स्वस्थ महसूस करते हैं, लेकिन अभी तक लंबे समय तक स्वस्थ रहने के प्रभाव को अच्छे से समझा नहीं गया था। इस अनुसंधान में टीम ने प्रकृति के नजदीक रहने वाले लोगों की तुलना ऐसे लोगों से की जो हरे-भरे जगहों में कम ही रहते हैं।

तन-मन स्वस्थ रखता विशेष अष्टांग योग

भारत की दो हजार वर्ष पुरानी योग विद्या की विश्व स्तर पर अपनी महत्ता है, यह वजह हे कि आज विश्व के 193 देशों ने आधिकारिक रूप से योग को स्वीकारा है। आयुर्वेद शास्त्रों में योग का विस्तृत वर्णन है जिसके अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के आठ अंग है जिनका अपना अपना महत्त्व है।

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच मनोभाव यम हैं। इनका पालन करने से सद्भाव, भ्रातृत्व भाव, शांति स्थापना, क्रोध, लोभ, मोह आदि

दुर्गुणों से मुक्त रहकर हम सुखमय जीवन की ओर बढ़ते हैं। आज के प्रतिस्पर्धी युग में ईर्ष्या, राग, द्वेष, क्रोध, दंभ व अहंकार आदि के कारण मनोरोगों का अनुपात बढ़ रहा है। यम पालना से मनोविकृतियां निश्चित तौर पर दूर रहती है।

नियम

शोध, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, ये 5 नियम हैं। ये नियम भी सदाचरण पर चलने के माध्यम के साथ-साथ आत्म शुद्धि के स्वरूप है। सात्विक प्रकृति का प्रार्दुभाव तथा राजसी व तामसी प्रवृत्तियों का नाश होता है।

प्राणायाम

आसन के स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम है। मुख्य रूप से तीन क्रियाएँ 'पूरक' (श्वास लेना), 'कुंभक' (श्वास रोकना), 'रेचक' (श्वास छोड़ना) क्रमशः 1:4:2 के समान अनुपात में की जाती हैं। शरीर का नाड़ी तंत्र पुष्ट होता है और योगी की स्मृति भी बढ़ती है।

प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है विषयों से विमुख होना, इन्द्रियों का चित के स्वरूप का अनुकरण करना। प्रत्याहार पालना से इंद्रियों के ग्राह्य दोष काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार आदि से मुक्ति मिलती है, साधना का मार्ग प्रशस्त होता है।

धारणा

चित्त को बाहरी या आंतरिक देश (बिन्दु विशेष) यथा ,ॐ गोल अक्षर, सूर्य, चन्द्रमा में समाहित करना ही धारणा है। आभ्यन्तर धारणा मूलाधार, नाभि प्रदेश, हृदय, त्रिकुटी, ब्रह्मरंध्र आदि स्थानों पर चित्र को कल्पना में ठहरा कर की जाती है। इससे मन की एकाग्रता बढ़ने के साथ शांति और सुकून मिलता है।

ध्यान

निरन्तर धारणा में मन को लगाना ध्यान कहलाता है। इससे मन की शांति और अलौकिक अनुभूति की प्राप्ति होती है। ध्यान तीन प्रकार से किया जाता है। स्थूल ध्यान-किसी वस्तु, मूर्ति आदि पर ध्यान करना, ज्योतिर्मय ध्यान-दीप्तिमान वस्तु का ध्यान करना तथा सूक्ष्म ध्यान-निराकार ब्रह्म का ध्यान करना। स्थूल ध्यान व

ज्योतिर्मय ध्यान भौतिक वस्तु या दीप्यमान निकाय पर सतत दृष्टिबद्ध कर किया जाता है। सूक्ष्म ज्ञान में निराकार ब्रह्म की कल्पना कर आँख बंद कर ध्यान किया जाता है।

समाधि

समाधि ध्यान की वह अवस्था है, जिसमें ध्यान का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है। यह अध्यात्म की परम अवस्था है। इसमें दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, जीव आत्मा का परमात्मा से एकीकरण रूप है। यह योग का शास्त्रोक्त विवेचन है।

रहना चाहते हैं हमेशा जवां तो खुद को न समझें बूढ़ा

शोध में कहा गया है कि इन्सान जब तक खुद को बूढ़ा नहीं मानता, तब तक उसका दिमाग जवां रहता है। ऐसे लोगों के मस्तिष्क में ग्रे मैटर अधिक मात्रा में हो सकता है। ग्रे मैटर सुनने, भावनाओं, फैसलें लेने और आत्म नियंत्रण में मददगार होता है। शोध में कहा गया है कि जो लोग खुद को जवां मानते हैं उनकी याददाश्त अन्य के मुकाबले बेहतर होती है। ऐसे लोग अधिक स्वस्थ भी रहते हैं। समय से पहले खुद को उम्रदराज समझने के पीछे ग्रे मैटर में आई कमी जिम्मेदार होती है। खुद को जवां मानने वाले लोग जीवन के प्रति अधिक प्रेरित होते हैं। डॉ. चे ने कहा कि जो लोग उम्र से कम महसूस करते हैं, उनकी दिमागी संरचना युवा मस्तिष्क जैसी होती है। इस नतीजे पर पहुँचने के लिए शोधकर्ताओं ने 59 से 84 साल की उम्र के बीच के 68 स्वस्थ लोगों के दिमाग का एमआरआई स्कैन किया। इनसे पूछा गया कि अपनी असल उम्र के मुकाबले वह कैसा महसूस कर रहे हैं। सभी प्रतिभागियों ने तीन तरह के जवाब दिए। कुछ ने कहा कि वह अपनी उम्र से जवां महसूस कर रहे हैं, किसी ने कहा कि वह अपनी उम्र के मुताबिक महसूस कर रहे हैं, वहीं कुछ का जवाब था कि वे अपनी असली उम्र से अधिक महसूस कर रहे हैं। इस अध्ययन में कहा गया है कि इनसानी दिमाग महज 25 साल की उम्र में बूढ़ा हो जाता है। लैंकास्टर युनीवर्सिटी में हुए शोध में कहा गया है कि सेरेब्रोस्पाइनल फ्लूड जो दिमाग और स्पाइनल कॉर्ड में होता है और इसकी रफ्तार 25 की उम्र तक आते-आते कम होने लग जाती है।

वाशिंगटन युनिवर्सिटी ऑफ मेडिसन का खुलासा

भारत में वायु प्रदूषण से डायबिटीज का खतरा बढा

अध्ययन के मुताबिक 2016 में दुनियाभर में प्रदूषण से डायबिटीज के 32 लाख नए मामले सामने आए थे।

न्यूयॉर्क। 2016 में डायबिटीज के सात में से एक मामले के लिए वायु प्रदूषण जिम्मेदार माना गया है। अमेरिका में एक अध्ययन से सामने आया है कि वायु प्रदूषण के कम स्तर से भी इस बीमारी की आशंका बढ़ जाती है। हालांकि अब तक डायबिटीज को मुख्य रूप से जीवनशैली से होने वाली बीमारी बताया जाता है। साथ ही आहार की आदतों और सुस्त जीवनशैली को इस बीमारी का मुख्य कारक माना जाता था। लेकिन अमेरिका के वाशिंगटन युनिवर्सिटी ऑफ मेडिसिन में हुए अध्ययन के मुताबिक यह बीमारी वायु प्रदूषण से भी हो सकती है।

इसमें कहा गया है कि 2016 में दुनियाभर में प्रदूषण की वजह से डायबिटीज के 32 लाख नए मामले सामने आए थे। यह डायबिटीज के तमाम नए मामलों का करीब 14 प्रतिशत हैं। इसके अनुसार वायु प्रदूषण शरीर में इंसुलिन पैदा नहीं होने देता। इसमें शरीर ब्लड शूगर को शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी ऊर्जा में नहीं बदल पाता। वेटरंस अफेयर्स क्लीनिकल ऐपिडेमियोलॉजी सेंटर के वैज्ञानिकों के साथ काम करने वाले रिसर्च ने 17 लाख अमेरिकी पूर्व सैनिकों से जुड़े आँकड़ों पर अध्ययन किया जिन्हें पहले कभी डायबिटीज की शिकायत नहीं रही।

हवा में 21 प्र. ऑक्सीजन जरूरी, कम हुई तो असर पड़ने लगता है

- नॉर्मल सांस लेने के लिए हवा में ऑक्सीजन की मात्रा 21 प्र. जरूरी है। मात्रा घटकर 16 से 19.5 प्र. होने पर सांस फूलने लगती है। एक्सरसाइज करते समय यह कॉर्डिनेशनल और सोचने की क्षमता को प्रभावित करती है।
- 12-16 प्र. स्तर पर श्वांस, हृदय की गति बढ़ जाती है। चाहे आराम क्यों न कर रहे हों।

- 10-14 प्र. ऑक्सीजन स्तर पर निर्णय क्षमता प्रभावित होती है। बेचैनी, सांस में तकलीफ।
- 6-10 प्र. होने पर उल्टी, नाक से खून आना, थकान होने लगती है। बेहोश हो सकते हैं।
- 6 प्र. से कम होने पर सांस रुकने लगती है।

आँख-हाथ के बेहतर तालमेल से बच्चे होते हैं स्मार्ट

आँखों के साथ हाथ के बेहतर समन्वय से बड़े हो रहे बच्चों के पढ़ने, लिखने और गणित में अच्छे नंबर पाने की संभावना अधिक रहती है। यह जानकारी एक अध्ययन में दी गई है। अध्ययन में यह भी कहा गया कि स्कूलों को कमजोर बच्चों को अतिरिक्त सहायता दी जानी चाहिए। अध्ययन के नतीजे बताते हैं कि आँखों के साथ हाथ के बेहतर समन्वय और किसी समस्या को हल करने में लगने वाले वक्त के जरिये हम बच्चों के प्रदर्शन के बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं। आँखों से हाथ का समन्वय मापने के लिए स्टीयरिंग संभालना, लक्ष्य साधना और उन पर नजर रखने जैसे कार्य डिजाइन किए गए। इसके अलावा बच्चों को ऑन-स्क्रीन बैट से एक चलती वस्तु को हिट करने को भी कहा गया। इससे यह पता लगाने की कोशिश की गई कि कैसे दिमाग समय और स्थान के माध्यम से वस्तुओं के चलने की दिशा की भविष्यवाणी करता है। अध्ययन में पता चला कि जिन बच्चों ने आँख और हाथ के समन्वय से कार्यों को अंजाम दिया, उनके परिणाम बेहतर रहें।

डिप्रेशन कम करना है तो प्रकृति के करीब जाएँ

प्राकतिक पद्धति यानी इकोथैरेपी डिप्रेशन को दूर करने का कारगर उपाय है...

तनाव, चिंता और अवसाद की समस्या से ग्रसित हैं या याददाश्त बढ़ाना चाहते हैं, तो बगीचे में पैदल चलिए। हार्वर्ड से संबंद्ध कैम्ब्रिज हेल्थ अलायंस के जेरियाट्रिक साइकेट्री के डायरेक्टर डॉ जेसन स्ट्रॉ कहते हैं कि किसी भी उम्र के व्यक्ति को स्वास्थ्य से जुड़ी समस्या, अपनों को खोना या फिर रिटायरमेंट के बाद का

बदलाव इनमें से किसी भी वजह से मूड डिसॉर्डर की समस्या हो सकती है। स्ट्रॉ के मुताबिक ऐसे लोगों को किसी मेडिटेशन या थैरेपी की आवश्यकता नहीं है। उन्हें सिर्फ खुद को प्रकृति के करीब ले आना चाहिए। प्रकृति के संग समय बिताने से तनाव, चिड़चिड़ाहट और डिप्रेशन कम होता है। 2015 में हुए अध्ययन में पाया गया कि प्राकृतिक वातावरण में 90 मिनट तक रोजाना चलने वाले लोगों में प्रीफंटल कोर्टेक्स की सक्रियता कम थी, जो कि नकारात्मक भावनाओं के होने के दौरान सक्रिय रहती है।

सप्ताह में तीन दिन 20 से 30 मिनट चलना

डॉ. स्ट्रॉ कहते हैं कि जो लोग तनाव ग्रस्त होते हैं या उदास होते हैं, उनके मस्तिष्क के हिस्से में कुछ खराबी आती है और वे नकारात्मक विचार अनुभव करते हैं। प्राकृतिक जगहों पर पैदल चलने से उन्हें फायदा होता है। डॉ. स्ट्रॉ के मुताबिक सप्ताह में 3 दिन में 20 से 30 मिनट तक प्राकृतिक वातावरण में चलना चाहिए।

प्रमत्तविरत गुणस्थान में २४ स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	प्रमत्तविरत
१.	गुणस्थान	१४	१ प्रमत्तविरत गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१ (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त)
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ, ६ अपर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१० पर्याप्त के, ७ अपर्याप्त के
५.	संज्ञा	४	४
६.	गति	४	मनुष्य
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	११ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+औदा. काययोग+२आहा.आहा. मिश्र काययोग)
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	१३ (४ संज्वलन+ ९ नोकषाये)

१२.	ज्ञान	८	४ (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय)
१३.	संयम	७	३ (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि)
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	६ (पीत, पद्म, शुक्ल)
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	३ (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक)
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	१ आहारक
२०.	उपयोग	१२	७ (४ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१२ (३ आर्त्तध्यान+४ धर्मध्यान)
२२.	आस्रव	५७	२४ (१३ कषाय + ११ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	१४ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	१२ लाख कोटि

''जैन श्रमण (साधु) से प्राप्त शिक्षायें''

शिक्षा लो भाई ! शिक्षा लो...जैन साधु से शिक्षा लो।
व्रत-समिति से शिक्षा लो...अनुप्रेक्षा से शिक्षा लो।।-ध्रु.-।।

गुप्ति भावनाओं से शिक्षा लो...दशधर्मों से शिक्षा लो।
षडावश्यक से शिक्षा लो...विशेष गुणों से शिक्षा लो।।

(1.) पंचव्रतों से प्राप्त शिक्षायें

(1) अहिंसाधर्म से शिक्षा लो...जीयो और जीने दो।
पर्यावरण की रक्षा करो...और विश्वशान्ति को पालो।।

(2) सत्यधर्म से भी सीख लो...मन-वच-कार्य सत्य गहो।
हठग्राही कुतर्क मिथ्या छोड़ो...सनम्र सत्यग्राही बनो।।

(3) अचौर्यधर्म से सीख लो...परवस्तु को नहीं गहो।

मिलावट भ्रष्टाचारी छोड़ो...हीनाधिक मापतोल छोड़ो।।
(4) ब्रह्मचर्य से भी प्रेरणा लो...भोगों रोगों से मुक्त रहो।
परस्त्री-वेश्यावृति छोड़ो...रोग पाप दुःखों से बच लो।।
(5) अपरिग्रह से भी प्रेरणा लो...संग्रह शोषण नहीं करो।
दिखावा फैशनों से दूर रहो...साम्यवादी समाज बना लो।।
शक्ति अनुसार तुम गहो...अणुव्रत महाव्रत ग्रहो।
श्रमण या श्रावक तुम बनो...स्व-पर-विश्वहीत करो।।
(2) पंचसमितियों से प्राप्त शिक्षायें
जीव बचाकर तुम चलो...समिति ईर्या से शिक्षा लो।
हित-मित-प्रिय वचन बोलो...समिति भाषा से शिक्षा लो।।
अहिंसक स्वास्थ्यप्रद आहार करो...एषणा समिति से शिक्षा लो।
देख-भाल-कर वस्तु रखो...आदान-निक्षेपण से शिक्षा लो।।
प्रासुक एकान्त में मल त्यागो...प्रतिष्ठापन से प्रेरणा लो।
व्रत-समिति से शिक्षा मिले...जीवन जीने की कला मिले।।
(3) बारह अनुप्रेक्षाओं से प्राप्त शिक्षायें
अनुप्रेक्षाओं से शिक्षा ले लो...मनन चिन्तन सदा करो।
हर पहलुओं से शिक्षा ले लो...सत्य गहो समता धरो।।
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय...वस्तु व्यवस्था सत्यमय।
सत्य जान कर साम्य धरो...सुख-दुःख हानि-लाभ सहा करो।।
(4) तीन गुप्तियों से प्राप्त शिक्षायें
तीन गुप्तियों से शिक्षा मिले...मन-वच-काय को स्थिर करो।
इसी से शक्ति प्रगट होती...जिससे आत्मा की प्रगति होगी।।
कर्म आस्रव रुक जायेंगे...निर्जरा द्वारा कर्म नशेंगे।
संयम तप ज्ञान बढ़ेंगे...अन्त में निर्वाण पद पायेंगे।।
(5) भावनाओं से प्राप्त शिक्षायें

भावनाओं से शिक्षा मिले हैं...शुभभाव से अशुभ छोड़ो है।
शुभ से शुद्ध प्राप्त करो है...शुद्ध से मोक्ष को वरण करो है।।
स्व-पर-विश्व हित भावना भाओ...स्वार्थ व संकीर्णता दूर भगाओ।
अहंकार ममकार चित्त न लाओ...कषाय कल्मष दूर भगाओ।।
भाव से भाग्य निर्माण होता...भाग्य से भावी निर्माण होता।
स्वभाव का स्वयं निर्माण कर्त्ता...परिनिर्वाण का हम ही कर्त्ता।।
(6) दश धर्मों से प्राप्त शिक्षायें
दश धर्म हैं आत्मिक धर्म, विश्व के सत्य सनातन धर्म।
जाति पंथ राष्ट्र सीमा से परे, सुख शान्ति व मोक्ष के धर्म।।
क्रोध-मान-माया-लोभ नाशक, सरल सहज व पावन धर्म।
परावलम्बन से रहित धर्म, जो इसे पाले उसके धर्म।।
(7) षडावश्यक क्रियाओं से प्राप्त शिक्षायें
कर्तव्य परायणता की शिक्षा मिलती, स्व-दोष निवारण की प्रेरणा देती
गुणीजन प्रति भक्ति जगाती, गुणप्राप्ति हेतु प्रेरणा देती।।
(8) इन्द्रियनिरोध से प्राप्त शिक्षायें
इन्द्रियनिरोध से शिक्षा ये मिलती, इन्द्रियलालसा से करो न वृत्ति।
इन्द्रियों को अपना दास बना लो, अन्यथा इन्द्रियों के दास बन लो।।
(9) विशेष गुणों से प्राप्त शिक्षायें
विशेष गुणों से शिक्षा ये मिलती, विशेषता हेतु करो प्रवृत्ति।
विशिष्ट गुणों से वैशिष्ट बनो, स्व-महत्व हेतु गुणी तू बनो।।
इन्हीं कारणों से पूज्य होते श्रमण, आत्म-उत्थान हेतु करते श्रम।
'कनकनन्दी' इनसे शिक्षा ही लहे, श्रमण से सिद्ध पद को चाहे।।

झाडोल-5.04.2012 रात्रि 10:16 (महावीर जयन्ती)

उत्कृष्ट धर्म ध्यान

(अप्रमत्त (ध्यान) गुणस्थान (सप्तम गुणस्थान))

(28 मूलगुण पालन में प्रवृत्त साधु से भी श्रेष्ठ ध्यानस्थ साधु)
(पन्द्रह प्रकार प्रमाद से रहित अवस्था से ही सुध्यानावस्था)
(चाल:- 1.आत्मशक्ति... 2.क्या मिलिये...)

अप्रमत्त गुणस्थान स्वरूप को जानो, ध्यान अवस्था का प्रारंभ मानो।
प्रमाद रहित से होती ध्यानावस्था, छट्ठे गुणस्थान से आगे की अवस्था।। (1)
जो साधु साधना से प्रमाद नाशते, प्रमाद जनित दोष उनके नशते।
प्रमाद से होता है चित्त भी चंचल, प्रमाद रहित से होता चित्त भी स्थिर।। (2)
चित्त स्थिर से होता ध्यान प्रारंभ, आत्मविशुद्धि से होता ध्यान प्रबल।
धार्मिक बाह्य क्रियायें यहाँ न होती, षडावश्यक क्रियायें भी यहाँ न होती।। (3)
तथापि क्रियायुक्त साधु से भी श्रेष्ठ, पाप कर्मों का होता संवर विशेष।
सतिशय पुण्य बन्ध होता विशेष, कर्म निर्जरा होती असंख्यात गुणित।। (4)
साधु की साधना तो इसलिये होती, अतएव ध्यानावस्था श्रेष्ठ ही होती।
उत्कृष्ट धर्म ध्यान यहाँ से होता, सातिशय सप्तम (गुण) से शुक्ल ध्यान प्रवृत्ति।।(5)
चार प्रकार के होते धर्म ध्यान, पिंडस्थ रूपस्थ पदस्थ रूपातीत।
स्वशरीरस्थ स्वशुद्धात्मा होता जो ध्यान, वह होता है पिंडस्थ धर्म ध्यान।। (6)
स्व-शरीर से बाहर जो स्व शुद्धात्मा ध्यान, वह होता है रूपस्थ धर्म ध्यान।
शुद्ध-बुद्ध व आनन्द घन स्वरूप का, होता द्विविध मय धर्म ध्यान।। (7)
पंच परमेष्ठी ध्यान परगतरूपस्थध्यान, क्योंकि पंचपरमेष्ठी स्वयं से भिन्न।
स्व शुद्धात्मा का ध्यान होता स्वदेह बाहर, वह ध्यान होता स्वगत रूपस्थध्यान।। (8)
पंचपरमेष्ठी वाचक पदों का ध्यान, होता पदस्थ धर्म ध्यान प्रमाण।
उक्त ध्यान परे होता रूपातीत ध्यान, आलम्बन रहित एक पदार्थ का ध्यान।। (9)
इन्द्रिय-मन-व्यापार रहित यह ध्यान, स्वआत्मा द्वारा स्व आत्मा का/(मैं) ध्यान।
रत्नत्रयमय स्व आत्मा का ही होता ध्यान, परम धर्म ध्यान रूपातीत ध्यान।। (10)
इस ध्यान से होते तीन प्रकार लाभ, इह-परलोक लाभ व मोक्ष का लाभ।
अभ्युदय से सर्वोदय का भी लाभ, श्रेणी आरोहण द्वारा परिनिर्वाण लाभ।। (11)
इस हेतु ही साधु पालते अट्ठावीस मूलगुण, ध्यान में न पालते उक्त मूल गुण।

तथापि ध्यानस्थ साधु होते श्रेष्ठ, मूल गुणों का फल होता ध्यान।। (12)
पंचमकाल में न होता श्रेणी आरोहण, अतः अभी न होता सातिशय सप्तम।
किन्तु छट्ठा-सप्तम होते गुणस्थान, छट्ठे सप्तम में होते परिवर्तन।। (13)
अतः ध्यान अधिक से अधिक करणीय, आध्यात्मिक विकास श्रेष्ठ वरणीय।
''झाणाज्झयण मुक्ख जइ धम्मो तं विणा तहा सोवि'' कहा परमागम में।। (14)
आलम्बन बिना ध्यान होता स्व-आश्रित, पराश्रित धर्म न होता श्रेष्ठ।
परिग्रह त्यागी साधु हेतु निरालम्ब श्रेय, आत्मोपलब्धि ही ''कनकसूरी'' का ध्येय।। (15)

नन्दौड़-30/07/2018 रात्रि 10:47

संदर्भ-

अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप (ध्यानावस्था)

णट्ठासेसपमाओ वय गुणसीलेहिं मंडिओ णाणी।
अणुव समुओ अखवओ झाणविलीणोहु अप्पमत्तो सो। 614 भावसं

अर्थ:जिनके ऊपर लिखे प्रमाद सब नष्ट हो गये है, जो व्रत शील गुणों से सुशोभित है जो सम्यग्ज्ञानी है, और ध्यान में सदा लीन रहते हैं तथा जो न तो उपशम श्रेणी में चढ़ रहे और न क्षपक श्रेणी में चढ़ रहे है ऐसे मुनि अप्रमत्त कहलाते हैं।

भावार्थ:सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि पांचो महाव्रतों का पालन करते हैं। अट्ठाईस मूलगुणों को पालन करते हैं उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी में चढ़ने के लिए सन्मुख रहते हैं तथा ध्यान में ही लीन रहते हैं।

पुवुत्ता जे भावा हवंति तिण्णेव तत्थ णायव्वा।
मुक्खं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव।। 615

अर्थ:इस सातवें गुणस्थान में पहले कहे हुए औपशमिक भाव क्षायिक भाव और क्षायोपशमिक भाव तीनों भाव होते हैं। तथा इस गुणस्थान में नियम पूर्वक मुख्य रीति से धर्मध्यान होता है।

झायारो पुण झाणं तहहवइफलं च तस्सेव।
ए ए चउ अहियारा णायव्वा होंति णियमेण।।616।।

अर्थ:इस गुणस्थान में चार अधिकार बतलाये हैं ध्यान करने वाला ध्याता, चिंतवन करने रूप ध्यान, जिसका चिंतवन किया जाए ऐसा आत्मा ध्येय और उस ध्यान का फल। ये चार अधिकार नियम पूर्वक इस गुणस्थान में होते हैं।

ध्यान का लक्षण

आहारासणणिद्दा विजाओ तह इंदियाण पंचण्हं।
बावीस परि सहाणं कोहाईणं कसायाणं।।617।।
णिस्संगो मिम्मोहो णिग्गय बावार करण सुत्तड्ढो।
दिढकाओ थिरचित्तो परिसओप्पेइ झायारो।।618।।

अर्थ:जिन्होंने आहार का विजय कर लिया है निद्रा का विजय कर लिया है, पांचो इंद्रियों का विजय कर लिया है, जो बाईस परिषहों के विजय करने में समर्थ है, जिसने क्रोधदिक समस्त कषायों का विजय कर लिया है दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार अन्तरंग परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, मोह का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिसने अपने समस्त इन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर दिया है, जो सिद्धांत सूत्रों का जानकार है, जिसकी शरीर अत्यंत दृढ़ जिसका चित्त अत्यंत स्थिर है ऐसा साधु ध्यान करने योग्य ध्याता कहलाता है।

खेत वास्तु धन धान्य सोना चांदी दासी दास बर्तन कुप्य (वस्त्रादिक) दश बाह्य परिग्रह है। हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा मिथ्यात्व स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसक वेद क्रोध मान माया लोभ ये चौदह अन्तरंग परिग्रह है।

ध्यान का स्वरूप

चित्तणिरोहे झाणं चहुवियभेयं च तं मुणेयव्वं।
पिंडत्वं च पयत्थं रुवत्थं रुववज्जिय चेव।।619।।

अर्थ:चित्त का निरोध करना ध्यान है अर्थात् चित्त में अन्य समस्त चिंतवनो का त्याग कर किसी एक ही पदार्थ का चिंतवन करना उस एक पदार्थ के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का चिंतवन न करता ध्यान कहलाता है। उस ध्यान के चार भेद हैं पिंडस्थ पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत।

पिंडस्थ ध्यान

पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णियअप्पा।
झाइज्जइ अइसुद्धो बिप्फुरिओ सेय किरणठ्ठो।।620।।

अर्थ:यहां पर पिंड शब्द का अर्थ शरीर है, उस शरीर के मध्य में विराजमान अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिये तथा वह अपना आत्मा अत्यंत शुद्ध है उसमें से सफेद किरणें निकल रही है और वह अत्यंत दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे अपने आत्मा का चिंतवन करना चाहिये।

देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंध विरहिओ णिच्चं।
णिम्मल तेय फुरंतो गयणतले सूर बिंवेव।।621।।
जीवप्पदेसपचयं पुरिसायारं हि णिययदेहत्थं।
अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थ अभिदाणं।।622।।

अर्थ:वह अपना शुद्ध आत्मा अपने शरीर में विराजमान है तथापि उसका शरीर से कोई संबंध नहीं है, आत्मा अत्यंत निर्मल है और जिस प्रकार आकाश में सूर्य दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार वह आत्मा भी अपने तेज से दैदीप्यमान हो रहा है उस आत्मा के प्रदेशों का प्रचय या समूह पुरुषाकार है वह प्रदेशों का समूह अपने ही शरीर में ठहरा हुआ है और उसमें अनेक निर्मल गुण भरे हुए हैं। इस प्रकार जो शरीर में स्थित अपने आत्मा का ध्यान किया जाता है उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं।

रूपस्थ ध्यान

यारिसओ देहत्थो झाइज्ज्इ देह वाहिरे तह य।
अप्पा सुद्ध सहावो तं रुवत्थं फुडं झाणं।।623।।

अर्थ:ऊपर लिखे पिंडस्थ ध्यान से अपने ही शरीर में स्थित अपने ही शुद्ध निर्मल और अत्यंत दैदीप्यमान आत्मा का ध्यान करना बतलाया है, उसी प्रकार शरीर के बाहर अपने ही शुद्ध निर्मल अत्यंत दैदीप्यमान और शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

रुवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं।

तं परगयं भणिज्ज्ड झाइज्जइ जत्थ पंच परमेठ्ठी।।624।।

अर्थः इस रूपस्थ ध्यान के दो भेद है एक स्वगत आत्मा का ध्यान और दूसरा परगत आत्मा का ध्यान। जहां पर पंच परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है उस ध्यान को परगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं। पंच परमेष्ठी का आत्मा अत्यंत शुद्ध है परंतु वह अपने आत्मा से भिन्न है इसलिये उसको परगत स्वरूप ध्यान कहते हैं।

सगयं तं रुबत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा।
णियदेहस्स बहित्थो फुरंत रवितेय संकासो।।625।।

अर्थः जो अपना आत्मा सूर्य के तेज के समान अत्यंत दैदीप्यमान है अत्यंत शुद्ध है निर्मल है ऐसा अपना आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने शरीर के बाहर ध्यान किया जाता है उसको स्वगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं। इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का स्वगत स्वरूप कहा।

पदस्थ ध्यान

देवच्चणा बिहाणं जं कहियं तं देसविरयठाणम्मि।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणंदेहि।।626।।

अर्थः पहले देशविरत या विरताविरत गुणस्थान के स्वरूप में जो भावना जिनेंद्रदेव की पूजन करना समवसरण में विराजमान अष्ट प्रतिहार्य सहित अनन्त चतुष्टय सहित भगवान अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना आदि बतलाया है वह सब पदस्थ ध्यान है ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है।

एक पयमक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुसंबंधं।
तं पिय होइ पयत्थ झाणं कम्माण णिद्दहणं।।627।।

अर्थः पंच परमेष्ठी के वाचक एक पद के मन्त्र का जप करना वा एक अक्षर मंत्र का जप करना वा अधिक अक्षरों में मंत्र का जप करना भी पदस्थ ध्यान कहलाता है यह पदस्थ ध्यान कर्मों का नाश करने का साधन है।

भावार्थः पणतीस सोल छप्पण दुगमेंग च जवह झाएह। परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरु वएसेण। अर्थात्-णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहुणं यह पेंतीस अक्षर का मंत्र है।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योनमः यह सोलह अक्षर का मंत्र है। अ सि आ उ सा यह पांच अक्षर का मंत्र है। अरहंत यह चार अक्षर का मंत्र है। सिद्ध यह दो अक्षर का मंत्र है। (अ अरिहंत का पहला अक्षर है।) सि सिद्ध का पहला अक्षर है। आ आचार्य का पहला अक्षर हैं उ उपाध्याय का पहला अक्षर है व सा साधु का पहला अक्षर है। इसी प्रकार ॐ भी पंच परमेष्ठी का वाचक है।

अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खर णिप्पणो ओंकारो पंच परमेष्ठी।।

अर्थः अरहंत अशरीरा अर्थात् सिद्ध आचार्य उपाध्याय ओर मुनि इन पांचों परमेष्ठियों का पहला अक्षर लेकर संधि करने से पंच परमेष्ठी का वाचक ॐ सिद्ध हो जाता है। यथा अ+अ+=आ, आ+आ+=आ, आ+उ=ओ। ओ+म्=ओम्। इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठी का वाचक है।

रूपातीत ध्यान का स्वरूप

णीय चिंतइ देहत्थं देह वहित्थं ण चिंतए किं पि।
ण सगय परगयरुवं तं गयरुवं णिरालेवं।।628।।

अर्थः जो न तो अपने शरीर में स्थित शुद्ध आत्म का चिंतवन करता है न शरीर के बाहर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है न स्वगत आत्मा का ध्यान करता है न न परगत पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है। किन्तु बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान करता है अपने चित्त को अन्य समस्त चिंतवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ में लगता है वह रूपातीत ध्यान कहलता है।

जत्थ ण करणं चिंता अक्खर रूवं ण धारणा धेयं।
ण य वावारो कोई चित्तस्सय तं णिरालंवं।।629।।

अर्थः जिस ध्यान में किसी विशेष पदार्थ का चिंतवन नहीं करना पड़ता न किसी शब्द वा अक्षर का चिंतवन करना पड़ता है, जिसमें न धारणा है न ध्येय है और न जिसमें मन का कोई व्यापार होता है, ऐसे ध्यान को निरावलम्ब ध्यान कहते हैं।

भावार्थःनिरालंब ध्यान करने वाला योगी अपना आत्मा ही अपने ही आत्मा

में लीन कर लेता है। अपने आत्मा के द्वारा उसी अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। वही निरालंब ध्यान कहलाता है।

इंदिय विसय वियारा जत्थ खयं जंति राय दोसं च।
मण वावारा सव्वे तं गयारुवं मुणेयब्बं।।630।।

अर्थः जिस ध्यान से इन्द्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते हैं जिसमें रागद्वेष सब नष्ट हो जाते हैं और मन के व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं उसको रूपातीत ध्यान कहते हैं। इस प्रकार रूपातीत ध्यान का स्वरूप है।

ध्येय वा ध्यान करने योग्य पदार्थ

धेयं तिबिह पयारं अक्खररुवं तह अरूवंच।
रुवं परमेट्ठिगयं अक्खरयं तेसि मुच्चार।।631।।
गयरुवं जंझेयं जिणेहिं भणियं तं णिरालंबं।
सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाइण्णं।।632।।

अर्थः जिसका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं वह ध्येय तीन प्रकार का है। अक्षर, रूप और अरूपी। जो पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है तथा उन परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का उच्चारण करता है वह अक्षर रूप ध्यान कहलाता है तथा जो रत्नत्रयस्वरूप निरालंब ध्यान किया जाता है जो रत्नत्रय से ओतप्रोत भरा हुआ है और इसी लिये जो शून्य होकर भी शून्य नहीं कहलाता उस ध्यान को भगवान जिनेंद्र देव ने रूपातीत ध्येय बतलाया है।

ध्यान का फल

झाणस्स फलं तिविह कहंति वर जोइणो विगयमोहा।
इह भव पर लोय भवं सव्वं कम्मक्खए तइयं।।633।।

अर्थः राग द्वेष और मोह रहित परम योगी पुरुषों ने ध्यान का फल तीन प्रकार बतलाया है। पहला इसी भव में होनेवाला फल, दूसरा परलोक में होने वाला फल और तीसरा समस्त कर्मों का नाश होना। इस प्रकार ध्यान के फल तीन प्रकार के होते है।

इन्द्रिययाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं ब्रजेत्।

ध्यानं ध्येय विकल्पेन तद्ध्यानं रूप वर्जितम्।।
अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम्।।
स्मेरद्यत्रात्मनात्मानं रूपीतीतं च तद्विदुः।।

अर्थः पर जहां इन्द्रियों की प्रवृत्ति नष्ट हो जाए मन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाए जहां पर ध्यान और ध्येय का अलग अलग विकल्प न हो, जो ध्यान अमूर्त आत्मा का किया जाए तो ध्यान अव्यक्त हो, विकल्प रहित हो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो। इस प्रकार जो अपने आत्मा के द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना रूपातीत ध्यान है।

झाणस्स य सत्तीए जायंति आइसयाणि विविहाणी।
दूरालोयण पहुई झाणे आएस करणं च।।634।।

अर्थः ध्यान की शक्ति से अनेक प्रकार के अतिशय प्राप्त हो जाते हैं। हजारों कोस दूर के पदार्थ देख लेना, दूर के शब्द सुन लेना आदि रूप से इन्द्रिय ज्ञान की वृद्धि हो जाती है तथा आदेश करने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

मइसुइ ओहीणाणं मणपज्जाय केवलं णाणं।
रिद्धीओ सव्वाओ जइपूजा इह फलं झाणे।।635।।

अर्थः मतिज्ञान श्रुतज्ञान की वृद्धि वा पूर्णता हो जाती है अवधिज्ञान मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं और यति पूजा भी होने लगती है अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने पर जिन पूजा भी होने लगती है। यह इतना फल तो इसी लोक में मिल जाता है।

परलोक संबंधी फल

सक्काई इंदत्तं अहमिंदत्तं च सग्गलोयम्मि।
लोयंति य देवत्तं तं परभवगयफलं झाणे।।636।।

अर्थः स्वर्गों में जाकर इन्द पद की प्राप्ति, अहमिन्द्र पद की प्राप्ति होना और लोकान्तिक पद की प्राप्ति होना आदि ध्यान का परलोक संबंधी फल समझना चाहिये।

आगे ध्यान का तीसरा फल बतलाते है-

तणुघंचस्सय णासो सिद्धसरुवस्स चेव उत्पत्ती।

तिहुयण पहुत्त लाहो लाहो य अणंत विरियस्स।।637।।

अठ्ठगुणाणं लद्धी लोयं सिहरग्गखेतसंवासो।

तइय फलं कहिय मिणं जिणवरचंदेहि झाणस्स।।638।।

अर्थः औदारिक आदि पांचो शरीरों का नाश हो जाना, सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना, तीनों लोंको का प्रभुत्व प्राप्त हो जाना, अनन्त वीर्य की प्राप्ति हो जाना, सम्यक्त्व, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व अव्याबाधत्व दर्शन चारित्र इन आठ गुणों की प्राप्ति हो जाना यह सब ध्यान का तीसरा फल भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्त गुणे समासेण।

सालवं मणालवं तं मुक्खं इत्थ णायव्वं।।639।।

अर्थः इस प्रकार इस सातवें अप्रमत्त गुण स्थान में होने वाले धर्म ध्यान का स्वरूप अत्यंत संक्षेप से कहा। इस गुणस्थान में अवलम्बन सहित धर्म ध्यान भी होता है। तथा इस गुणस्थान में दोनों ही ध्यानों की मुख्यता रहती है। ऐसा समझना चाहिये।

एदम्हि गुणट्ठाणो अत्थि आवासयाण परिहारो।

झाण मणम्मि थिरत्तं णिरंतरं अत्थितं जम्हा।।640।।

अर्थः इस सातवें गुण स्थान में छहों आवश्यको की आवश्यकता नहीं होती इसलिये ध्यान में लगा हुआ मन निरन्तर अत्यंत स्थिर हो जाता है।

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्तं णाम संजुत्तं।

एत्तो अप्पुब्बणामं वोच्छामि जहाणुपुव्वीए।।641।।

अर्थः इस प्रकार अप्रमत्तं संयत नाम के सातवें गुणस्थान का स्वरूप कहा। अब इसके आगे अनुक्रम से होने वाले अपूर्वकरण नाम के आठवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

आपका हर विचार सच के बेहद करीब होता है

-प्रेन्टिस मलफर्ड

प्रेन्टिस मलफर्ड एक साहित्यिक हास्य-रस लेखक थे। अपने दौर में उन्होंने बहुत से नए विचार देकर विचारों की क्रांति लाने में केंद्रीय भूमिका निभाई थी।

जो व्यक्ति सफलता की राह पर चलता है उसे अपने चलते-फिरते, सोचते, उठते-बैठते ऐसा व्यवहार करना होगा जैसे उसने सफलता हासिल कर ली है, वरना वो कभी सफलता हासिल नहीं कर पाएगा।

आपका हर विचार सच के बेहद करीब होता है।

प्रेम वो तत्व है जो दिखाई नहीं देता लेकिन ये उतना ही सच है जितना हवा और पानी।

ये अभिनय की तरह है, जीवन है, आगे बढ़ने की ऊर्जा है। ये लहरों और धाराओं सा बहता है, जैसे समुद्र।

लोगों के लिए सद्भाव का मतलब रचनात्मक विचार हैं। इन विचारों को जितना ज्यादा आकर्षित करेंगे उतना ही लंबा जीवन जीएंगे।

ध्येय, ध्याता, ध्यानादि का स्वरुप

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।

लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयंज्झाण।।55।।द्रव्य.

When a Sadhu attaining concentration becomes viod of conscoius effort by meditating on anything whatever, that state is called real meditation.

ध्येय पदार्थ में एकाग्रचित होकर जिस किसी पदार्थ को ध्यावता हुआ साधु सब निस्पृह वृत्ति सब प्रकार की इच्छिओं से रहित होता है उस समय उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

'तदा' उस काल में। 'आहु' कहते हैं। 'तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं' उसको, उसका निश्चय ध्यान (कहते हैं) जब क्या होता है'' णिरीहवित्ती हवे जदा साहु 'जब निस्पृह वृत्तिवाला साधु ध्याता होता है। क्या करता है?' 'जं किंचिवि चिंतंतो' जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरुप का विशेष चिन्तवन करता है। पहिले क्या करके? 'लद्धूण य एयत्तं' उस ध्येय में प्राप्त होकर। क्या प्राप्त होकर? एकपने को अर्थात् एकाग्रचिन्ता निरोध को प्राप्त होकर (ध्येय पदार्थ में एकाग्र चिन्ता का निरोध करके यानि एकचित्त, होकर जिस किसी ध्येय वस्तु का चिन्तवन करता हुआ साधु जब निस्पृहवृत्ति वाला होता है, उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चयध्यान कहते हैं। विस्तर से वर्णन-

गाथा में 'यत् किंचित् ध्ययेम' (जिस किसी भी ध्येय पदार्थ का) इस पद से क्या कहा ? प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पञ्चपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब अभ्यास से चित्त का स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव जिन शुद्धआत्मा का स्वरुप ही ध्येय होता है। 'निस्पृह' शब्द से मिथ्यात्व, तीनों-वेद, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चौदह अन्तरंग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दश बहिरंग परिग्रहों से रहित, ध्यान करने योग्य पदार्थों में स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। 'निश्चय' शब्द से अभ्यास प्रारम्भ करने वाले की अपेक्षा व्यवहारत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और ध्यान में निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोग रुप विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये। विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है।

परमध्यान के कारण

मा चिट्ठह मा जपंह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।।56।।

Do not act, do not talk, do not think, so that the soul may be attached to and fixed in itself. This only is excellent meditation.

हे ज्ञानीजनो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो। जिससे कि तुम्हारी आत्मा अपनी आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होता है वह परम ध्यान है

जिस प्रकार स्थिर जल में बड़ा पत्थर डालने पर जल अस्थिर होता है और छोटा पत्थर डालने पर भी जल अस्थिर होता है भले अस्थिरता में अन्तर हो। उसी प्रकार किसी भी प्रकार के संकल्प, विकल्प, चिन्तन, कथन, क्रियादि से आत्मा में अस्थिरता/कम्पन/चंचलता/क्षोभ हो जाता है। इसलिये श्रेष्ठ ध्यान के लिये समस्त संकल्पादि को त्याग करके आत्मा में ही पूर्ण निश्चल रुप में स्थिर होना चाहिये। अतः आचार्य श्री ने कहा है कि-

'मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि' हे विवेकी पुरुषों! नित्य निरंजन और क्रिया रहित निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकने वाला शुभ-अशुभ चेष्टा रूप काय की क्रिया को तथा शुभ-अशुभ-अन्तरंग-बहिरंग रूप वचन को और शुभ-अशुभ समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो।

'जेण होइ थिरो' तीन योगों के रोकने से स्थिर होता। वह कौन है? 'अप्पा' आत्मा। कैसा होकर स्थिर होता है? 'अप्पमि रओ' स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक परम ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों को आंनददायक ऐसे सुख के अनुभव रूप परिणति सहित स्व-आत्मा में रत, तल्लीन, तच्चित्त तथा तन्मय होकर स्थिर होता है। 'इणमेव परं हवे ज्झाणं' यही जो आत्मा के सुख स्वरूप में तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है।

उस परमध्यान में स्थित जीवों को जो वीतराग परमान्द सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। वह अन्य पर्यायवाची नामों से क्या-क्या कहा जाता है, सो कहते हैं। वही शुद्ध आत्म स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश में प्रकटरूप विवक्षित एक शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुख रूपी अमृत-जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस स्वरूप है। परमात्मा ध्यान के भावना की नाममाला में इस देश व्यक्ति रूप शुद्ध नय के व्याख्यान को यथासम्भव सब जगह लेना चाहिये ये नाम एकदेश शुद्ध निश्चय से अपेक्षित है।

वही परब्रह्म स्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वह परम अवस्था स्वरुप है, वही परमात्म-दर्शन है, वही ध्यान करने योग्य शुद्धपारिणामिक-भावरूप है, वही ध्यान भावनारूप है, वही शुद्धि चारित्र है, वह ही परम पवित्र है, वही अन्तरंग तत्त्व है, वही परम तत्त्व है, वही शुद्ध आत्म द्रव्य है वही परम ज्योति है, वही शुद्धबहिर्निर्मल स्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही आत्म-संवित्ति आत्म-संवेदन है, वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही स्वभाविक आनंद है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्म पदार्थ के अध्ययन रूप है, वह परम

स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र चिंता निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है, वह ही परम-योग समाधि है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वह निश्चय ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है वही समयसार है, वह ही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चय षट्-आवश्यक स्वरुप है, वह ही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है वही वीतराग सामायिक है, वह ही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आराधना स्वरूप है, वही परमात्मा भावनारूप है, वही परम अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परमधर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्फल ध्यान है, वही परम स्वास्थ्य है, वही परम वीतरागता है, वही परम-समता है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम समरसी भाव है, इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि रहित, परमआह्लाद एक-सुख लक्षणमयी ध्यान स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले अन्य बहुत से पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होते हैं।

ध्याता और ध्यान सामग्री

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होई।।57।।

As a soul which (practises) penance, (holds). vows and (has knowledege of) scriprures, becomes capable of holding the axle of the chariot of meditation, so to attain that (meditation) be always engaged in these three (i.e. penances, vows and sastras).

क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है वही ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है। इस कारण हे भव्यजनो! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर हो।

1.अनशन-उपवास करना,-2.अवमौदर्य-कम भोजन करना, 3.वृत्तिपरिसंख्यान-अटपडी आकडी करके भोजन करने जाना, 4.रस परित्याग-दूध, दही, घी,तेल, खांड व नमक, इन छहों रसों में एक दो आदि रसों का त्याग करना, 5. विविक्तशय्यासन-निर्जन और एकान्त स्थल में शयन करना, रहना, बैठना,

6.कायक्लेश आत्मशुद्धि के लिये आतापन योग आदि करना, यह छह प्रकार का बाह्य तप।

प्रायश्चित-1. विनय 2. वैयावृत्त 3. स्वाध्याय 4. व्युत्सर्ग 5. बाह्यअभ्यन्तर उपाधि का त्याग, और 6. ध्यान, यह छह प्रकार का अन्तरंग तप, ऐसे बाह्य तथा आभ्यन्तररुप बारह प्रकार का व्यवहार तप है। उसी व्यवहार तप से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म स्वरूप में प्रतपन अर्थात विजय करने रुप निश्चय तप है। इसी प्रकार आचार व आराधना आदि द्रव्यश्रुत है तथा उस द्रव्य-श्रुत के आधार से उत्पन्न व विकार रहित निज-शुद्ध-संवेदनरूप ज्ञान, भावश्रुत है। तथा हिंसा, अनृत, स्तेय, चोरी, अब्रह्म-कुशील और परिग्रह, इनका द्रव्य व भावरूप से त्याग करना पांच व्रत है। ऐसे पूर्वोक्त तप, श्रुत और व्रत से सहित पुरुष ध्याता-करने वाला होता है। तप, श्रुत व व्रत ही ध्यान की साम्रगी है। सो ही कहा है-

''वैराग्यं तत्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समाचित्तता।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः।।1।।

वैराग्य, तत्वों का ज्ञान, परिग्रहों का त्याग, साम्यभाव और परीषहों का जीतपा ये पाँच ध्यान के कारण हैं।

शंका-भगवान्! ध्यान तो मोक्ष का कारण है, मोक्ष चाहने वाले पुरुष को पुण्यबंध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है। व्रतों से पुण्य कर्म का बंध होता है, पुण्यबंध संसार का कारण है, इस कारण मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है, किन्तु आपने तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री बतलाया है। सो यह आपका कथन कैसे सिद्ध होता है?

उत्तर-केवल व्रत ही त्यागने योग्य नहीं है, किन्तु पापबंध के कारण हिंसा आदि अव्रत है वे भी त्याज्य हैं। सो ही श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है ''अव्रतों से पाप का बंध और व्रतों से पुण्य का बंध होता है, तथा पाप तथा पुण्य इन दोनों का नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे 'अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे। परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों को धारण करके निर्विकल्पसमाधि ध्यान रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतों का भी त्याग कर देता है। यह भी

पूज्यपादस्वामी से समाधिशतक में कहा है' मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परमपद पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे।

विशेष यह हैं-जो व्यवहाररूप से प्रसिद्ध एकदेशव्रत है, ध्यान में उनका त्याग किया है, किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान में समस्त शुभ-अशुभ की निवृतिरूप निश्चयव्रत ग्रहण किये है, उनका त्याग नहीं किया है।

प्रश्न-प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेश रूप व्रत कैसे हो गये?

उत्तर-अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है, तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। अचौर्यमहाव्रत में यद्यपि बिना दिए हुए पदार्थ ग्रहण का त्याग है, तो भी दिए हुए पदार्थों पीछी, कमण्डल, शास्त्र के ग्रहण करने में प्रवृति है। इत्यादि एकदेश प्रवृति की अपेक्षा से ये पांचो महाव्रत देशव्रत है। इन एकदेश रूप व्रतों का, त्रिगुप्ति स्वरूप निर्विकल्प समाधि काल में त्याग है। किन्तु समस्त शुभ-अशुभ की निवृति रूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं है।

प्रश्न-त्याग शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर-जैसे हिंसा आदि पंच अव्रतों की निवृत्ति है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पंचमहाव्रतरूप एकदेशव्रतो की भी निवृत्ति है, यहां त्याग शब्द का यह अर्थ है।

शंका-इन एकदेशव्रतों का त्याग किस कारण होता है?

उत्तर-त्रिगुप्तिरूप अवस्था में प्रवृति तथा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयं स्थान नहीं है। ध्यान में कोई विकल्प नहीं होता। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप है अतः वे ध्यान में कोई विकल्परूप है अतः वे ध्यान में नहीं रह सकते। अथवा वास्तव में यह निर्विल्प ध्यान ही निश्चय व्रत है क्योंकि उसमें पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के बाद दो घड़ी 48 मिनट काल में ही भरतचक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी जिन दीक्षा ग्रहण करके, थोड़े काल तक विषय-कषाय की निवृत्ति रूप व्रत का परिणाम करके, तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रमयी निश्चयवत् नामक वीतरागसामायिक संज्ञा वाले निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया है। परन्तु व्रतपरिणाम

के स्तोक काल के कारण लोग श्री भरत जी के व्रत परिणाम को नहीं जानते। अब उन ही भरत जी के दीक्षा विधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! भरत चक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे कितने समय में केवलज्ञान हुआ? श्री गौतम गणधरदेव ने उत्तर दिया-

पञ्चमुष्टिाभिरुत्पाट्य त्रोटयन् बंधस्थितीन् कचान्।
लोचानंतरमेवाप्रदाजन् श्रेणिक केवलम्।।1।।

हे श्रेणिक!

पंच-मुष्टियों से बालों को उखाड़कर केश लोंच करके कर्म बंध की स्थिति को तोड़ते हुए केशलोंच के अनन्तर ही भरतचक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

शिष्य का प्रश्न-इस पंचमकाल में ध्यान नहीं है। क्योंकि इस काल में उत्तम-सहंनन-वज्रऋषभनाराच संहनन का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नहीं पाया जाता है?

उत्तर-इस समय शुक्लध्यान नहीं है परन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षप्राभृत में कहा है ''भरतक्षेत्र विषेय दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्मध्यान होय है। यह धर्मध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित के होय है। जो यही नहीं मानता, वह अज्ञानी है।'' इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लोकांतिकदेव पद को प्राप्त होते हैं और वहां से चय कर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं। ऐसा ही तत्वानुशासन ग्रंथ में भी कहा है-''इस समय पंचकाल में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं, किन्तु श्रेणी से पूर्व होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है।''

तथा-जो यह कहा है कि ''इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता'' तो यह उत्सर्ग वचन है। अपवादरूप व्याख्यान से तो, उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्ल ध्यान होता है और वह उत्तम सहंनन से ही होता है, किन्तु अपूर्वकरण 8वें गुणस्थान के नीचे के गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है, वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम सहंननो के अभाव होने पर भी अंतिम के

(अर्द्धनाराचकीलक और सृपाटिक) तीन संहननो से भी होता है। यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है-

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेणीयोर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधम्।।1।।

''वज्रकाय संहनन वाले के ध्यान होता है ऐसा आगम वचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है।

अब कदाचित् ऐसा मत हो कि, शिवभूति मुनि पांच समिति और तीन गुप्तियों को प्रतिपादन करने वाले द्रव्यश्रुत शास्त्र को जानते थे और यह भावश्रुत उनके संपूर्ण रूपसे था सो ठीक नहीं। क्योंकि, यदि शिवभूतिमुनि पांचसमिति और तीन गुप्तियों का कथन करने वाले द्रव्यश्रुत शास्त्र को जानते थे तो उन्होंने ''मा तुसह सा रुसह'' अर्थात् किसी में राग और द्वेष मत कर इस एक पद को क्यों नहीं जाना? इसी कारण से जाना जाता है कि पांच समिति और तीन गुप्तियों रुप जो आठ प्रवचन मातायें है उन प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। और यह व्याख्यान हमने ही नहीं कल्पित किया है, किन्तु 'चारित्रसार' आदि शास्त्रों में भी वर्णन किया हुआ है। सो ही दिखलाते हैं अन्तर्मुहूर्त के पीछे जो केवलज्ञान को उत्पन्न करते हैं वे क्षीणकषाय नामक 12वें गुणस्थान में रहने वाले निर्ग्रन्थ संज्ञाके धारक ऋषि कहलाते हैं और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अंग चौदह पूर्वपर्यन्त श्रुतज्ञान होता है, और जघन्यरीति से पांच समिति तथा तीन गुप्तियों जितना ही श्रुतज्ञान होता है।

अब कदाचित् तुम्हारा यह मत हो कि, मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और मोक्ष इस पंचमकाल में होता नहीं है इस कारण ध्यान के करने से क्या प्रयोजन है? सो यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस पंचमकाल में भी परम्परा से मोक्ष है। परम्परा से मोक्ष है। परम्परा से मोक्ष कैसे? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि ध्यानी पुरुष निजशुद्ध आत्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति को अल्प करके अर्थात् बहुत से कर्मों की निर्जरा करके स्वर्ग में जाता है। और वहां से मनुष्य भव से आकर रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष को चला जाता है और जो भरत चक्रवर्ती रामचंदजी तथा पांडव अर्थात् युधिष्ठर, अर्जुन और भीम आदि मोक्ष को गये

हैं उन्होंने भी पूर्वभव में अभेदरत्नत्रय की भावना से अपने संसार की स्थिति को घटा ली थी; इस कारण इस भव में मोक्ष गये। उसी भव में सबके मोक्ष हो जाता है ऐसा नियम नहीं है। ऐसे कहे हुए प्रकार से अल्पश्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है यह जानकर क्या करना चाहिए?'' द्वेष से वध-मारना, बन्ध-बांधना छेद-किसी अंग को काटना आदि का और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतवन करना है, उसको जिनागम में निर्मल बुद्धि के धारक आचार्य अपध्यान (बुरा ध्यान) कहते हैं। हे जीव! संकल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय करने से तेरा चित्त इस मनोरथ सागर में डूब जाता है, और उस संकल्प रूपी कल्पवृक्ष का आश्रय करने में यद्यपि इष्टपदार्थ का अनुभव होता है परन्तु परमार्थ से तुझको कुछ भी नहीं भासता है, केवल निश्चय से तू पाप का भागी होता है, ''निर्धनता से दग्ध है मन जिसका ऐसा और संकल्प से ग्रहण किया है भोजन जिसने ऐसा तेरा उत्कट मनोरथों का धारक चित्त जैसे भोजन को लेने के लिए प्रवृत्त होता है, वैसे ही यदि तू परमात्मा नाम के धारक तेज में वा स्थान में चित्त को करे तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो अर्थात् तेरा जन्म लेना सफल हो जावे। कषायों में मलीन हुआ और कामभोगों में मूर्च्छित हुआ यह जीव कामभोगों की इच्छा करता है, और भोगों को भोगता नहीं है तो भी भावो से कर्मों को बांधता है। इत्यादि रुप जो दुर्ध्यान हो उसको छोड़कर और ''निर्ममत्व में स्थित होकर परपदार्थों में जो ममकार (मेरी) बुद्धि है उसका मैं त्याग करता हूँ, और मेरा आत्मा ही आलंबन-ध्यान का आधार है, अन्य सबकों मैं त्यागता हूँ किंवा भूलता हूं। मेरा आत्म ही दर्शन, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर का कारण है और आत्मा ही योग है। मेरा ज्ञान-दर्शन रूप लक्षण का धारक एक आत्मा ही अविनाशी है और बाकी के सब संयोग रूप लक्षण के धारक बाह्यभाव हैं उनका वियोग अवश्य होगा।''

अब मोक्ष के विषय में फिर भी नयों के विचार का कथन करते हैं। सो ही दिखलाते है कि, मोक्ष जो है वह बन्धपूर्वक है अर्थात् जिसके पहले बंध होता है उसी के मोक्ष होता है। सो ही कहा है, यदि यह जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये। यदि कहो कि जीव के पहले बन्ध नहीं था तो जीव के मोचन छूटना कैसे हुआ? क्योंकि बिना बंधे हुए जीव के मोचन नहीं हो सकता। इसलिये बंध को प्राप्त हुए जीव के मानने में मुञ्च धातु का जो छूटने रूप अर्थ है वह व्यर्थ

होता है। जैसे कोई पुरुष पहले बंधा हुआ होता है उसी का मोक्ष होता है और फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जो जीव पहले कर्मों से बंधा हुआ होता है उसी का मोक्ष होता है और यह बन्ध शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं हैं। तथा बन्धपूर्वक मोक्ष भी शुद्ध निश्चयनय से नहीं है। और यदि शुद्ध निश्चयनय से बन्ध होवे तो सदा ही उस आत्मा के बन्ध रहें, मोक्ष होवे ही नहीं। जैसे श्रृंखला सांकल वा जंजीर से बंधे हुए पुरुष के, बंध के नाश का कारणभूत जो भावमोक्ष है उसके स्थानवाला जो श्रृंखला के बंध को छेदने का कारणभूत पौरुष उद्यम है वह पुरुष का स्वरुप नहीं है और इसी प्रकार द्रव्यमोक्ष के स्थान में प्राप्त एवज में आया हुआ जो श्रृंखला और पुरूष इन दोनों का जुदा करना है वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है किंतु उन पौरुष और पृथककरण से जुदा जो देखा हुआ हस्त पाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगलक्षण जो भावमोक्ष का स्वरुप है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव का स्वरुप नहीं है। और इसी प्रकार उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म के प्रदेशों को जुदा करने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह जीव का स्वभाव नहीं है। किन्तु उन भावमोक्ष है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहां पर भावार्थ यह है कि जैसे विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनय से पहिले मोक्षमार्ग का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार पर्यायमोक्षरूप जो मोक्ष है उसका कथन भी विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से ही जानना चाहिये, और शुद्ध निश्चयनय से नहीं। और जो शुद्ध द्रव्य की शक्तिरुप शुद्धपारिणमिक परमभावरूप लक्षण का धारक परमनिश्चयमोक्ष है वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है। वह परमनिश्चयमोक्ष जीव में अब होगा ऐसा नहीं है। तथा राग आदि विकल्पों से रहित मोक्ष का कारणभूत जो ध्यान भावनापर्याय है उसमें वहीं मोक्ष ध्येय होता है। और ध्यान भावनापर्यायरूप ध्येय नहीं है। और यदि एकान्त करके द्रव्यार्थिकनय से भी वही मोक्षकारणभूत ध्यानभावना पर्याय कहा जावे तो, द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मों का आधार जो जीवधर्मी है, उसके मोक्षपर्याय प्रकट होने पर जैसे ध्यानभावनापर्यायरूप से विनाश होता है। उसी प्रकार ध्येयभूत जो जीव है उसका शुद्धिपारिणमिक लक्षण भाव द्रव्यरूप से भी विनाश प्राप्त होता है। और द्रव्यरूप से विनाश है नहीं। इस कारण शुद्धपरिणामिकभाव से जीव के बंध और मोक्ष नहीं होता है, यह कथन सिद्ध हो गया।

अब आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं। अतः धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थ में वर्तता है और सब गमनरूप अर्थ के धारक धातु ज्ञान अर्थ के धारक हैं इस वचन से यहां पर गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुख आदि गुणों में पूर्णरूप से वर्तता है वह आत्मा है। अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन वचन, काय के व्यापार हैं उन करके यथासम्भव तीव्र, मन्द आदि रूप से जो पूर्ण से वर्तता है वह आत्मा कहलाता है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों करके जो पूर्ण रूप से वर्तता है उसको आत्मा कहते हैं।

भटकते मन को शाश्वत आनंद के स्रोत पर ले जाना ही मेडिटेशन

-श्री श्री रविशंकार

आपकी इंद्रियां बाहरी विषयों में उलझी हुई हैं। इसलिए वे केंद्र की ओर जाना बंद कर देती हैं, क्योंकि एक दृश्य से दूसरे दृश्य, एक से दूसरे व्यक्ति, एक से दूसरी वस्तु पर जाते रहने का कोई अंत नहीं है। आपका पूरा जीवन इस तरह गुजर सकता है। आनंद लेने की हमारी इंद्रियों की क्षमता समिति है। लेकिन आनंद लेने की इच्छा असीमित है। यही से लिप्पता शुरू होती है। मन आनंद लेना चाहता है पर आपका शरीर, आपका तंत्रिका तंत्र थका हुआ है। ये आनंद नहीं ले सकते।

वास्तव में मन की इच्छा असीमित आनंद के स्रोत पर जाने की होती है। इसकी तलाश में वह अनंत संभावित स्रोतों पर जाता है। यहाँ-वहाँ, हर कहीं। इससे इंद्रिया, तंत्रिका तंत्र कमजोर होती हैं और मन भी भावनाओं, विचार, संदेह, आस्था के उतार-चढ़ाव से गुजरता है। इस सब में दिन, महीने और बरसों बर्बाद हो जाते हैं। कभी-कभी विवेक कहेगा तुम क्या कर रहे हो? यह तो मूर्खता है। लेकिन, यह धीमी-सी आवाज मन में आदतन उठने वाले तूफान में उड़ जाती है। ऋषि आमोद-प्रमोद के खिलाफ नहीं है, वे कहते हैं इससे चिपककर मत रहो। यह केन्द्र तक जाने का तरीका नहीं है, जिसमें आनंद मौजूद है। आप खुद ही आनंद के स्रोत हैं। अपनी इंद्रियों को वस्तु से स्रोत पर लाएं। तब आपका ध्यान 'किसी चीज' से हटकर सौन्दर्य की उस भावना पर जाएगा, जो आपके भीतर से उठ रही है। उस भावना के संपर्क

में रहें। आपकी किसी बहुत ही अच्छी चीज को स्पर्श कर रहे हैं। क्या हो रहा है? जैसे आप दुख से दूर जाते हैं, उसी तरह वस्तुओं, बाह्य प्रलोभनों, आकर्षणों से दूर जाकर केन्द्र पर आएँ, जो आप स्वयं है। कोई भी दुःखी होना नहीं चाहता। आप इससे दूर हटना चाहते हैं। उसी तरह बाहरी वस्तुओं से दूर हटकर केन्द्र पर आएं। आनंद के उस अनुभव पर जाइए। लगातार उस अनुभव को बनाए रखने का यही तरीका है। यही मेडिटेशन है।

योगा से भी रिलीज होता है एंटी-ऑक्सीडेंट

छह-सप्ताह तक एंटी-ऑक्सीडेंट लेने पर आर्टरीज में उम्र के मुताबिक बदलाव देखे जा सकते हैं। आर्टरीज पन्द्रह से बीस साल की उम्र के बराबर हो जाती हैं। यह दावा अमेरिकन हार्ट एसोसिएशन जर्नल हाइपरटेंशन में प्रकाशित हुई एक रिसर्च में किया गया है। एंटी-ऑक्सीडेंट लेने के बाद ओल्ड ऐज में आर्टरीज ऐसी ही बन जाती हैं। आर्टरीज की सेल्स से निकलने वाली नाइट्रोऑक्साइड के कारण ये साइज में चौड़ी रहती है। इन पर कॉलेस्ट्रोल जमा नहीं हो पाता है। बॉडी में बनने वाले ऑक्सीडेंट नाइट्रोऑक्साइड को प्रभावित करते हैं। इससे नाइट्रोऑक्साइड की कमी होने पर आर्टरीज सिकुड़ना शुरू हो जाती हैं। आर्टरीज में कॉलेस्ट्रॉल जमना शुरू हो जाता है। यही हार्ट अटैक और बीमारियों का सबसे बड़ा रिस्क् फैक्टर है। रिसर्चर का कहना है कि इन ऑक्सीडेंट के खिलाफ एंटी-ऑक्सीडेंट खाएँ जाएं। ये एंटी-ऑक्सीडेंट लेने पर बॉडी में बनने वाले ऑक्सीडेंट ब्लॉक हो जाते हैं। इससे नाइट्रोऑक्साइड का लेवल सामान्य रहने से आर्टरीज में ब्लॉकेज नहीं आएगा। एंटी-ऑक्सीडेंट खाने से नुकसान नहीं होगा। हालांकि साइंटिस्ट के अलग-अलग तर्क हैं। योगा और एक्सरसाइज भी एक तरह के एंटी-ऑक्सीडेंट को कम करते हैं। योगा भी एंटी-ऑक्सीडेंट रिलीज करता हैं। आर्टिफिशियल एंटी-ऑक्सीडेंट असर नहीं करते जितना योग और अन्य एक्सरसाइज असर करती हैं। यूएस में चालीस साल के बाद एंटी-ऑक्सीडेंट खाना शुरू कर देते हैं।

मेरा पिण्डस्थ-रूपस्थ ध्यान-(अलौकिक गणित आदि की दृष्टि से)

आकाश VS मैं (शुद्धात्मा)

(आकाश से भी मैं विशाल व गुणों से महान्)

(चालः-1.क्या मिलिये... 2.आत्मशक्ति...) **-आचार्य कनकनन्दी**

आकाश से भी मैं विशाल हूँ, लोकालोक को जानने से।
आत्मस्थित हो भी सर्वगत हूँ, अनन्तानंत अनुभागी प्रतिच्छेद से।। (1)

अनन्त है आकाश विस्तार वाला, इससे भी अनन्तगुणित ज्ञान।
उपलब्ध आकाश से भी अनन्त गुणित (बड़ा) आकाश को जानने का ज्ञान।। (2)

आकाश में भी है अनन्त गुण, मुझमें भी हैं अनन्त गुण।
किन्तु मुझमें अधिक गुण, ज्ञान दर्शन सुख सम्यक्त्वादि गुण।। (3)

आकाश यथा अमूर्तिक है, भले आकाश में अनंत मूर्तिक द्रव्य।
मैं भी शुद्ध रूप से अमूर्तिक हूँ, भले अशुद्ध रूप से मूर्तिक मय।। (4)

आकाश यथा अनादि अनंत स्वयंभू, स्वयंपूर्ण-स्वतन्त्र-मौलिक।
तथाहि मैं द्रव्यरूप से अनादि अनन्त, स्वयंभू-स्वयंपूर्ण-स्वतंत्र मौलिक।। (5)

यथा आकाश नहीं जलता न गलता, न खण्ड-विखण्ड-जीर्ण-शीर्ण होता।
तथा मैं द्रव्यरूप से नहीं जलता, नहीं गलता न खण्ड-विखण्ड/(जीर्ण-शीर्ण) होता।। (6)

आकाश समान यथा आकाश ही होता, तथाहि मेरे सम अन्य जीव ही होते।
पुद्गल-धर्म-अधर्म-काल भी मेरे समान पूर्णतः कभी न होते।। (7)

आकाश को यथा कोई न लांघ सकता, तथाहि मैं हूँ अलंघ्य शक्तिवाला।
सिद्ध समान सिद्ध ही होते किन्तु परस्पर उल्लंघन वे नहीं करते।। (8)

नित्य नूतन हूँ मैं नित्य पूरातन हूँ, अणु से भी सूक्ष्म हूँ आकाश से महान्।
मुझसे अधिक किस की गति भी असंभव, मुझसे अधिक अचल न संभव।। (9)

मेरी ज्ञानज्योति सम न अनन्त सूर्य, मेरे वैभव सम न चक्री वैभव।
तीन लोक के भौतिक वैभव मेरे वैभव के समक्ष तुच्छ वैभव।। (10)

सर्व द्रव्य में हूँ उत्तम द्रव्य, सर्व तत्त्व में हूँ उत्तम तत्त्व।
सर्व पदार्थ में हूँ उत्तम पदार्थ, सर्व धर्म/(तीर्थ) में हूँ उत्तम धर्म/(तीर्थ)।। (11)
अतएव मुझे ही मेरे द्वारा, मुझे प्राप्त करना है मुझ में।
मुझे छोडकर अन्य समस्त विभाव, त्याग कर रहा हूँ श्रद्धा से।। (12)
श्रद्धानुकूल हो मेरी अनन्त प्रज्ञा, तदनुकूल हो मेरा परिणमन।
इस हेतु ही मेरी समस्त साधना, कर रहा हूँ मैं समर्पण।। (13)
इस हेतु ही मेरा परम लक्ष्य, तदनुकूल ही मेरे शोध-बोध।
ध्यान-अध्ययन व तप-त्याग हैं, 'कनक' चाहे स्व आत्मवैभव।। (14)

नन्दौड-दि.31-07-2018, रात्रि.09.15

जीव के नौ विशेष गुण

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सा विस्ससोड्ढगई।। (2) द्रव्य.

Jiva is characterised by upayoga, is formless and an agent, has the same extent as its own body, is the enjoyer (of the fruits of Karma), exists in samsara, is Sidhha and has a characteristic up ward motion.

जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

छहों द्रव्यों में से जीव द्रव्य सर्वश्रेष्ठ एंव उपादेय द्रव्य होने के कारण तथा प्रथम गाथा में जीव द्रव्य का प्रथम निर्देश होने से इस दूसरी गाथा में आचार्य श्री ने जीव द्रव्य के नौ विशेष गुणों के नाम निर्देशपूर्वक नौ अधिकारों का संक्षेप में दिग्दर्शन किया है।

1.जीव-जो शुद्ध निश्चय नय से चैतन्य रूप भाव प्राण से जीता है एवं व्यवहार से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण एवं भाव प्राण से जीता है उसे जीव कहते हैं।

2.उपयोगमय-शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान एवं दर्शन रूप उपयोग से सहित है एवं व्यवहार नय से क्षायोपशमिक ज्ञान एवम् दर्शन से युक्त

है उसे उपयोग मय कहते हैं।

3.अमूर्तिक-संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक कर्मों से युक्त होने के कारण मूर्तिक होते हुए भी निश्चय नय से जीव कर्म निरपेक्ष है इसलिए अमूर्तिक है।

4.कर्त्ता-शुद्ध नय से जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है तथापि व्यवहार नय से जीव योग एवम् उपयोग से कर्मों का आस्रव एवं बंध करता है इसलिए कर्त्ता भी है।

5.स्वदेह परिमाण-निश्चय नय से जीव, लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी शरीर कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के कारण जीव संसारी अवस्था में जिस शरीर को प्राप्त करता है उस शरीर के बराबर हो जाता है।

6.भोक्ता-शुद्ध निश्चय नय से जीव स्व अनंत सुख को भोगता है तथापि अशुद्ध नय से कर्म परतंत्र जीव, शुभ कर्म से उत्पन्न शुभ एवं अशुभ कर्म से उत्पन्न अशुभ कर्मों को भी भोगता है।

7. संसार में स्थित-यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार से रहित है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव रूपी पंचविध संसार में रहता है।

8. सिद्ध-यद्यपि जीव अनादि काल से कर्म से युक्त होने के कारण असिद्ध है तथापि शुद्ध निश्चय नय से कर्म से रहित होने के कारण सिद्ध है।

9. स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला-यद्यपि कर्म परतंत्र जीव संसार में ऊंचा, नीचा, तिरछा गमन करता है तथापि निश्चय नय से स्वभाव रूप से इसमें उर्ध्वगमन शक्ति है इसलिए जीव मोक्षगमन के समय उर्ध्वगमन ही करता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त प्रत्येक जीव होता है। कुछ दार्शनिक उनमें से कुछ गुण को तो मानते हैं और कुछ गुणों को नहीं मानते जैसे-चार्वाक आदि भौतिक जड़वादी दार्शनिक चैतन्य से युक्त शाश्वतिक जीव द्रव्य को नहीं मानते हैं। नैयायिक दर्शन में मुक्त जीव को ज्ञान, दर्शन से रहित मानते हैं, भट्ट तथा चार्वाक दर्शन जीव को मूर्तिक ही मानते है। सांख्य दार्शनिक आत्मा (पुरुष) को कर्त्ता नहीं मानता है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य दर्शन आत्मा को प्राप्त शरीर प्रमाण न मानकर आत्मा को हृदय कमल में स्थित बट बीज आदि के बराबर मानते हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिक वादी होने के कारण इस दर्शन की अपेक्षा जीव स्वपूर्वोपार्जित कर्म का भोक्ता है यह सिद्ध नहीं होता। सदाशिव मत वाले आत्मा को सदा सर्वदा मुक्त मानते हैं। भट्ट और चावार्क

आत्मा को सिद्ध नहीं मानते है। उपर्युक्त दार्शनिक जीव को स्वभाविक उर्ध्वगमन वाला नहीं मानते हैं। उपर्युक्त असम्यक् मतों को निरसन करने के लिए इस गाथा में जीव के उपरोक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

According to Vyavahara Naya, that is called Jiva, which is possessed of four Pranas viz, Indriya (the senses), Bal (force), Ayu (life) and Ana-prana (respiration) in the three periods of time viz, the present, the past and the future, and according to Nischaya Naya that which has consciousness is called Jiva.

'अष्टाव्रक गीता' में ऋषि अष्टाव्रक ने 'आध्यात्मिक रहस्य' का प्रतिपादन करते हुए राजा जनक को सम्बोधन निम्न प्रकार से किया है-

अन्तस्यक्त कषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यद्वच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये।। (14)

अन्तः करण के राग-द्वेषादि कषायों का त्यागने वाले और शीत, उष्णादि द्वंद्व रहित तथा विषय मात्र की इच्छा से रहित जो ज्ञानी पुरुष है उसको देवगति से प्राप्त हुआ भोग न दुःखदायक होता है और न प्रसन्न करने वाला होता है।

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्व देवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति।। (2)

बड़े आश्चर्य की वार्ता है कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिस आत्मपद की प्राप्ति की इच्छा करते हुए आत्मपद की प्राप्ति न होने से दीनता को प्राप्त होते हैं, उस सच्चिदानन्द, स्वरूप आत्म पद के विषे स्थित अर्थात् 'तत् त्वम्' पदार्थ के ऐक्यज्ञान से आत्मपद के विषे वर्तमान आत्मज्ञानी विषय भोग के सुख को नहीं प्राप्त होता है और उस विषय सुख के नाश होने पर शोक नहीं करता है।

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पशोंह्यन्त र्न जायते।
नह्याकारशास्य धूमेन दृश्यमानापि सङ् गति।। (3)

तत्त्वज्ञानी का अन्तः करण के धर्म जो पुण्य-पाप उनसे सम्बन्ध नहीं होता, वह वेदोक्त विधि-निषेध के बन्धन में नहीं होता है, क्योंकि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसके अन्तः करण में पाप-पुण्य का सम्बन्ध नहीं होता है, जिस प्रकार धूम

आकाश में जाता है, परन्तु उस धूम का आकाश से सम्बन्ध नहीं होता है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरूते तथा।' अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्म रूपी ईन्धन को भस्मसात् करता है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोष हि समं ब्रम्ह तस्माद् ब्रह्माणि ते स्थिता।।

जिसका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म, निष्कलंक और समभावी है इसलिये वे ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं।

अतीन्द्रिय ज्ञान ही केवलज्ञान

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।। (21) प्रवचन.

The omniscient who develops knowledge directly visualizes all objects and their modifications; he does never comprehend them through the sensational stages such as outlinear grasp.

आगे कहते हैं कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञान में परिणमन करते हैं इस कारण से उनको सर्वपदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं। (खलु) वास्तव में (णाणं) अनन्त पदार्थों को जानने में समर्थ केवल ज्ञान को (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवान् के (सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीन कालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती हैं। (स) वह केवली भगवान् (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायों को (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रह पूर्वक क्रियाओं के द्वारा (णेवविजाणदि) नही जानते हैं किन्तु युगपत् जानते हैं ऐसा अर्थ है।

इसका विस्तार यह है आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादानकारण के सत्ता रखने वाले तथा चैतन्य और आनन्दमयी स्वभाव के धारी अपने शुद्ध आत्मा को उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत जिसको आगम की भाषा में शुक्ल ध्यान कहते हैं, वह होने से रागादि विकल्पों के जाल से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदनज्ञान के फलस्वरूप केवल ज्ञानमयी पैदा होता है, तब क्रम क्रम से जानने वाले मति

ज्ञानादि के अभाव से, बिना क्रम के एक साथ सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व-द्रव्य , गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान हो जाते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से जो केवलज्ञान प्रगट होता है वह केवलज्ञान अनंत ज्ञेय को प्रकाशित करने वाली शक्ति से युक्त होता है। एक जीव में असंख्यात आत्मप्रदेश होते हैं केवलज्ञानी के उस असंख्यात आत्म प्रदेश में से एक आत्म प्रदेश में जितनी ज्ञान रूपी ज्योति है, उस ज्योति से जो लोक-अलोक है उससे भी अधिक द्रव्य होता तो भी प्रकाशित हो जाता। इसलिए गुणभद्र स्वामी ने कहा है यह लोक-अलोक जिस ज्ञान के एक कोने में विलीन हो जाता है। इसलिये केवलज्ञानी समस्त लोक-(विश्व) अलोक के सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ/सत्य की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को/अवस्थाओं को/परिणमन को स्पष्ट/विशद/युगपत्/ एक साथ जानते हैं। यदि वे क्रम से जानेंगे तब वे सम्पूर्ण ज्ञेय को बहुकाल तक भी नहीं जान पायेंगे क्योंकि एक ही द्रव्य में अनंत गुण और अनंत पर्यायें होती है। तब एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य, अनंत जीव द्रव्य, अनंतानंत पुद्गल द्रव्य की अनंतानंत पर्यायों को कैसे जान सकेंगे? इसलिए केवली भगवान् अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणापूर्वक नहीं जानते हैं परन्तु एक साथ देखते और जानते हैं। इतना ही नहीं, छद्मस्थ जीवों की ज्ञान प्रवृत्ति जिस प्रकार दर्शन पूर्वक होती है उसी प्रकार केवली भगवान् की प्रवृत्ति क्रम से नहीं युगपत् होती है। द्रव्य संग्रह में कहा भी है-

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं दोण्णि उवओग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु दे दोवि।। (44)

छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समय में नहीं होते। तथा जो केवली भगवान् हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समय में होते हैं।

मोह क्षय के बाद एक साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तरायकर्म का क्षय होता है जिसके कारण केवलज्ञान एवं केवलदर्शन एक साथ निरावरण हो जाते हैं। जब एक साथ निरावरण होने का अन्य कोई कारण नहीं जिससे प्रवृत्ति क्रम से हो सके। जिस उमास्वामी आचार्य को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानतें हैं उनकी कृति

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा हुआ कि-

'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'। (1)

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों में होती है। राजवार्तिक में अकंलक देव स्वामी इस सूत्र का वार्तिक करते हुए कहते हैं कि-

सर्व ग्रहणं निरवशेषप्रतिप्रत्यर्थं। (91)

निरवशेष (सम्पूर्ण) का ज्ञान कराने के लिए सर्व शब्द को ग्रहण किया है। लोक और अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनन्तानंत द्रव्य और पर्यायें है उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है अर्थात् उन सबको केवलज्ञान जानता है। जितने ये अनन्तानन्त लोक-अलोक द्रव्य हैं इससे भी अनन्तगुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है ऐसा जानना चाहिए। परमात्म प्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने इसी भाव को प्रगट किया है:-

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमाप्पु अणाइ।। (38)

जैसे अनंत आकाश में नक्षत्र है उसी तरह तीन लोक जिसके केवलज्ञान में प्रतिबिंबित हुए दर्पण में मुख की तरह भासता है, वह परमात्मा अनादि है।

महान् दार्शनिक तार्किक सिद्धसेन को मानते हैं ऐसे महान् आचार्य ने अपनी कृति सन्मति सूत्र में क्रम प्रवृति का खण्डन कर युगपत् प्रवृति का मण्डन किया है। इसका उद्धरण हम निम्न में कर रहे हैं-

मणपज्जवणाणंतो णाणस्य य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं।। (3)

ज्ञान और दर्शन के समय की भिन्नता मनः पर्ययज्ञान तक होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, पहले दर्शन होता

है और उसके पश्चात् ज्ञान होता है। किन्तु केवलज्ञान या पूर्णज्ञान होने पर दर्शन और ज्ञान में क्रम नहीं होता। केवलज्ञान की अवस्था में ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं क्योंकि दर्शन और ज्ञान का क्रम छद्मस्थों (अल्पज्ञानियों) में पाया जाता है। केवलज्ञान में ज्ञान तथा दर्शन के उपयोग-काल में भिन्नता नहीं है।

केइ भणंति जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू।। (4)

कई (श्वेताम्बर) आचार्य तीर्थंकरों की अवज्ञा से भयभीत हो आगम ग्रन्थों का अवलंबन लेकर यह कहते हैं कि जिस समय सर्वज्ञ जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं। वे अन्य अल्प ज्ञानियों की भांति सर्वज्ञ में भी दर्शनपूर्वक ज्ञान क्रमशः मानते हैं। क्योंकि जिस समय जानने की क्रिया होगी उस समय देखने कि क्रिया नहीं हो सकती और जिस समय देखने की क्रिया होगी उस समय जानने की क्रिया नहीं हो सकती। दोनों में समय मात्र का अन्तर अवश्य पड़ता है। किन्तु सर्वज्ञ के सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं है।

केवलणाणवरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
तह दंसणं पि जुज्जय णियआवरणक्खयस्संते।। (5)

जिस प्रकार अवरोधक जलधरों (मेघ समूह) के हटते ही दिनकर का प्रताप एवं प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आवरणों का अपसरण होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञान, दर्शन के आवरण के क्षय हो जाने पर कोई ऐसा कारण नहीं है, जिससे वे विद्यमान रह सकें।

भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण संभवइ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं णत्थि।। (6)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचो एक ही ज्ञान के भेद हैं। अल्पज्ञानी (छद्मस्थ) के इनमें से केवलज्ञान को छोड़ कर चार ज्ञान तक हो सकते हैं, किन्तु केवलज्ञानी के एक केवल ज्ञान ही होता है। इसलिए उनके मतिज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार से केवली के मतिज्ञान नहीं होता, वैसे ही भिन्न-काल

में केवलदर्शन भी सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवली के ज्ञान, दर्शन एक साथ होते हैं क्योंकि वह क्षायिक है-कर्म के क्षय होने पर उत्पन्न होता है।

सुत्तम्मि चेव साईअपंजवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ।। (7)

आगम में केवलदर्शन और केवलज्ञान को सादि-अनन्त कहा गया है। अतः आगम की आसादना से डरने वालों को इस पर विशेष विचार करना चाहिए कि क्रम भावी मानने पर सादि-अनन्तता किस प्रकार बन सकती है? यदि ऐसा माना जाए कि जिस समय केवलदर्शन होता है, उस समय केवलज्ञान नहीं होता, तो इस मान्यता से आगम का विरोध करना है और इससे केवलदर्शन-केवलज्ञान में सादि-अनन्तता न बनकर सादि-सान्तता घटित होगी जो आगमोक्त नहीं है। इसलिए आगम का विरोध न हो, इस अभिप्राय से क्रमभावित्व न मानकर युगपत्/समकाल-भावित्व मानना चाहिए।

संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं।। (8)

केवली भगवान् के केवलदर्शन के होने पर केवलज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार का क्रमत्व उनके नहीं होता। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक काल में समान रूप से होने के कारण केवलदर्शन और केवलज्ञान एक समय में एक ही साथ समान रूप से उत्पन्न होते हैं। फिर, यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता कि क्रमवाद पक्ष में केवली की आत्मा में ज्ञान, दर्शन में से पहले कौन उत्पन्न होता है?

दंसणणाणवरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयरं।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओगा।। (9)

आगम का विरोध करने वालों के लिए स्पष्टीकरण के निमित्त यह गाथा कही गई है कि दर्शनावरण तथा ज्ञानावरण का विनाश एक साथ होने से केवलदर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति एक साथ हो जाती है। यदि क्रम से माना जाए, तो दर्शन और ज्ञान में से किसकी उत्पत्ति पहले होती है? इसी प्रकार से दोनों उपयोग क्रम से होते हैं या अक्रम से? इसका स्पष्टीकरण यही है कि पूर्वापर क्रम से दर्शन, ज्ञान केवली में

मानना न्याय संगत नहीं हैं। सामान्यतः दोनों उायोग क्रम से होते हैं। परन्तु केवलज्ञान-काल में केवली सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को एक ही समय में जानते है, इसलिए उनके दर्शन और ज्ञान उपयोग एक साथ होते है। वास्तव में कार्य रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीति न होने के कारण सामान्यतः एक उपयोग कहा जाता है।

जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू।
जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ।। (10)

यदि सर्वज्ञ एक समय में सभी पदार्थ को सामान्य-विशेष रूप आकार सहित जानते हैं, तो यह मान्यता युक्ति युक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मानने पर उनमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता नहीं बन सकेगी। क्योंकि दोनों प्रकार के उपयोग (दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग) अपने-अपने विषय को भिन्न-भिन्न से जानते हैं। जिस समय एक उपयोग सामान्य का ज्ञाता होता है, उस समय विशेष का ज्ञान कैसे हो सकता है? इसी प्रकार जब दूसरा उपयोग विशेष का ज्ञाता होता है, तो उसका कार्य भिन्न होता है। इसलिए वस्तु में पाए जाने वाले उभय धर्मों (सामान्य, विशेष) का ज्ञाता एक उपयोग नहीं हो सकता। अतएव इन उपयोगों में से क्रमशः जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें एक चैतन्य प्रकाश पाया जाता है।

परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसवं अणायारं।
ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं।। (11)

यह कथन करना कि केवली जिस समय साकार ग्रहण करते हैं, उस समय केवलदर्शन (अनाकार) अव्यक्त रहता है और जब वे दर्शन ग्रहण करते हैं, तब साकार अव्यक्त होता है, उचित नहीं है, क्योंकि उपयोग की यह व्यक्त एंव अव्यक्त दशा आवरण का सर्वथा विलय कर देने वाले केवली में नहीं बनती है।

अद्दिट्ठं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि।
एगसमयम्मि हंदी वयणवियप्पो ण संभवइ।। (12)

केवली सदा की अदृष्ट, अज्ञात पदार्थों का कथन करते हैं-ऐसा कहने से वे दृष्ट एवं ज्ञात पदार्थों के एक समय में उपदेशक होते हैं, यह वचन नहीं बन सकता है।

अण्णायं पासंतो अद्दिट्ठं च अरहा वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्हु त्ति वा होइ।। (13)

यदि केवली अर्हन्त पदार्थ के द्रष्टा और अदृष्ट पदार्थ के ज्ञाता है, तो इस स्थिति में उनमें एक समय में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनमें विद्यमान दर्शन, ज्ञान, अपने-अपने विषय को देखने-जानने वाला है। जिस समय वह देखेंगे, उस समय जानेंगे नहीं और जिस समय जानेंगे, उस समय देखेंगे नहीं। इस प्रकार एक समय में एक साथ सामान्य-विशेष को जानने वाला उपयोग नहीं होता। अतः उनमें सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व भी नहीं बन सकता।

केवलणाणमणंतं जहेव तह दहणं पणणत्तं।
सागारग्गहणाहि य णियमपरित्त अणागार। (14)

आगम में केवली भगवान् का दर्शन और ज्ञान अनन्त कहा गया है। परन्तु उनके दर्शन, ज्ञान के उपयोग में क्रम माना जाय तो साकार ग्रहण की अपेक्षा से परिमित विषय वाला होगा, जिससे उनके दर्शन में अनन्तता नहीं बन सकती। अतएव केवली भगवान् में एक समय में ही दोनों उपयोग मानना चाहिए।

केवलज्ञान के लिए परोक्ष कुछ भी नहीं है-

णत्थि परोक्खं किंचि वि समतं सव्वक्खगुणसमिद्धिस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स।। (22)

आगे कहते है-केवलज्ञानी को सर्व प्रत्यक्ष होता है, यह बात अन्वयरूप से पूर्व सूत्र में कही गई। अब केवलज्ञानी को कोई भी विषय परोक्ष नहीं है, इसी बात को व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं।

(समंत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्मा के प्रदेशों के द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इन्द्रियों के गुणो से परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द के जानने रूप जो इन्द्रियों के विषय उन सर्व के जानने की शक्ति सर्व आत्मा के प्रदेशों में जिसके प्राप्त हो गई है ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) इन्द्रियों के व्यापार से रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण और (सयमेव हि) स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञान में परिणमन करने वाले अरहंत भगवान् के (किंचि वि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नहीं है।

भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव है (परमात्मा के स्वभाव) से

विपरीत क्रम से ज्ञान में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियाँ हैं। उनके द्वारा जानने से जो उल्लंघन कर गये है अर्थात् जिस परमात्मा के पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने का समर्थ अविनाशी तथा अखंडपने से प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान में परिणमन करते हैं, अतएव उनके लिए कोई भी परोक्ष नहीं है। इस तरह केवलज्ञानियों को सर्व प्रत्यक्ष होता है।

समीक्षा-आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप होने के कारण स्वयं से ही आत्मा देखता है, जानता है, उसके लिए अन्य बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है परन्तु जब ज्ञान कर्मरूपी आवरण से आवृत्त हो जाता है तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से अब कुछ नहीं देख पाता है, न ही जान पाता है, उस समय में वह बाह्य साधनों के माध्यम से कुछ देखता है कुछ जानता है। जैसे कोई व्यक्ति एक गृह के अन्दर है बाहर उसे कुछ देखता है तब वह द्वार या खिड़की के माध्यम से देखता है। उस व्यक्ति के खिड़की या द्वार के माध्यम से देखने पर भी खिड़की या द्वार स्वयं नहीं देखते हैं परन्तु उसके माध्यम से व्यक्ति देखता है, वैस ही कर्म रूपी गृह में आबद्ध जीव इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि से देखता है, जानता है इन्द्रियादि स्वयं नहीं देखते है परन्तु उनके माध्यम से जीव देखता है या जानता है। जैसे आवरण से रहित खुले मैदान में स्थित व्यक्ति बिना खिड़की या द्वार से बाहर देखता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आवरण से रहित जीव बिना इन्द्रियों से देखता है, जानता है। इन्द्रियों के बिना देखने व जानने पर भी जीव इन्द्रियों के विषय के साथ-साथ इन्द्रियातीत विषयों को भी देखता है और जानता है। इतना ही नहीं छद्मस्थ जीव इन्द्रियों से जो विषय-जानता है उससे भी अधिक स्पष्ट उस इन्द्रिय के विषय को केवलज्ञानी जानते है। जैसे-सामान्य चक्षु से सामान्य व्यक्ति जितना देखता है उससे भी अधिक स्पष्ट सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी यंत्र से देख सकता है। सर्वज्ञ भगवान् समस्त इन्द्रियों के विषय को देखते व जानते हुए भी सामान्य रागी, द्वेषी, मोही जीव के समान ज्ञेय से न मोहित होते है, न आकर्षित-विकर्षित होते हैं। वे पाँच इन्द्रियों के विषय को प्रत्येक प्रदेशस्थ केवलज्ञान से जानते हैं। केवलज्ञान की अचिन्त्य अपार अलौकिक शक्ति का वर्णन गौतम गणधर स्वामी ने निम्न प्रकार से किया है-

यःसर्वाणि चराचराणि विधिवद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्,

पर्यायानपि भूत-भावि-भवितः, सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत्-प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः।।

जो सम्पूर्ण चर-अचर द्रव्यों को, उनके सहभावी गुणों को और क्रमभावी भूत, भावी तथा वर्तमान सब पर्यायों को भी सदा सर्वकाल अशेष विशेषों को लिए हुए युगपत् (कालक्रम से रहित एक साथ) प्रतिक्षण जानते हैं, इसलिए उन्हें सर्वज्ञ कहते है, उन सर्वज्ञ महान् गुणोत्कृष्ट, अंतिम जिनेश्वर को नमस्कार हो।

हे आयुष्मान् भव्यो! इस विश्व में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणीगण को अन्य स्थान से जहां आना, यहां से अन्य गति में जाना, च्यवन और उपपाद अर्थात् च्युत होना और जन्म लेना कर्मों का बंध, कर्मो का छुटकारा, ऋद्धि, स्थिति धृति-चमक, कर्मों का फल देने का सामर्थ्य, तर्क शास्त्र, बहत्तरकला या गणित विद्या परकीयचित्त मनकी चेष्टा पूर्व अनुभूत पूर्वकृत पुनः सेवित कर्मभूमि के अनुप्रवेश में प्रथमतः प्रवृत्त असि, मसि कृष्यादिककर्म अकृत्रिमद्वीप समुद्रादिका प्रकट कर्म तीन सौ तैतालीस रज्जुप्रमाण सर्वलोक में सब जीवों को सब भावों और सब पर्यायों को एक साथ जानते हुए देखते हुए विहार करते हुए काश्यप गोत्रीय, श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महतिमहावीर अन्तिम तीर्थंकर देखते हुए पच्चीस भावनाओं सहित, मातृका पदों सहित, उत्तरपदों सहित रात्रि भोजन विरमण है। छठा अणुव्रत जिनमें ऐसे पाँच महाव्रतरूप समीचीन धर्मों का उपदेश किया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।। पु.सि.उ (1)

जिसमें सम्पूर्ण अनंतपर्यायों से सहित समस्त पदार्थों की माला अर्थात् समूह दर्पण के तल भाग के समान झलकती है, वह उत्कृष्ट ज्योति अर्थात् केवलज्ञान रूपी प्रकाश जयवंत हो।

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।। (460 गो. जी.)

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल (स्वाधीन) प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थगत और

लोकालोक में अन्धकार रहित होता है।

असहायं स्वरुपोत्थं निरावरणक्रमम्।

घातिकर्मक्षयोत्पत्रं केवलं सर्वभावगम्।। (30 त.सा.)

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्म-स्वरूप से उत्पन्न हों, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ तो समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

जया सव्वत गणाणं दंसणं चाभिगच्छई।

तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।। (दशवैकालिक 22)

जब मनुष्य सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन-केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है।

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य।

अणेण णाणे त्तिणं वेंति।। (299 गो.जी.)

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत-भविष्यत् वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको केवलज्ञान कहते हैं।

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः।। (5 देवागम)

सूक्ष्म पदार्थ- स्वभावविप्रकर्षि आदिक-अन्तरित पदार्थ-काल से अन्तर को लिए हुए काल विप्रकर्षि राम-रावणादिक, और दूरवर्ती पदार्थ-क्षेत्र से अन्तर को लिए हुए क्षेत्र विप्रकर्षि मेरु-हिमवानादिक, अनुमेय (अनुमान का अथवा प्रमाण का विषय) होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं, जैसे-अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाण का विषय है, वे किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, आन्तरिक और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष है वह सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ की सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है।

आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा केवलज्ञान का सर्वगतत्व

आदा णाणमाण णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं।। (23)

The soul is co-extensive with knowledge; knowledge is said to be co-extensive with the object of knowledge; the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe; therefore knowledge is omnipresent.

आगे कहते हैं कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहार से सर्वगत है-

(आदा णाणपमाणं) आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञान के साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतनी आत्मा है। कहा है 'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति' अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के समान होता है। इस वचन से वर्तमान मनुष्य भव में यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्याय के समान प्रमाण वाला है तैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशों में रहने वाला ज्ञानगुण है जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय में ज्ञान के गुण के बराबर प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चय से सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण है तिस प्रमाण यह आत्मा है। (णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है। जैसे-ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है वैसे ही ज्ञान-ज्ञेय के बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और आलोक के प्रमाण है। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी सर्व तरह से उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर छः द्रव्यमयी यह लोक है। लोक के बाहरी भाग में जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने-अपने अनन्त पर्यायों में परिणमन करते हुए अनित्य हैं तो भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। ज्ञान लोक-अलोक को जानता है। (तम्हा) इस कारण से (णाणं तु सव्वगयं) ज्ञान सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग की भावना के बल से पैदा होने वाला केवलज्ञान है वह पत्थर में टांकी से उकेरे हुए न्याय से पूर्व में कहे गये सर्व ज्ञेय को जानता है इसलिए व्यवहार नय से ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

समीक्षा-जैसे सूर्य या. दीपक का एक निश्चित आकार होता है परन्तु उसका प्रकाश उस निश्चित आकार, से भी अधिक फैलता है, प्रकाश फैलने पर भी सूर्य या दीपक फैलता नहीं है, परन्तु जहाँ तक उसका प्रकाश फैलता है उसका उतना क्षेत्र

माना जाता है। जैसे एक चुम्बक और उसका चुम्बकीय क्षेत्र अलग-अलग होता है। चुम्बक का आकार छोटा और उसका चुम्बकीय क्षेत्र उसके आकार को घेरता हुआ बड़ा होता है। इसी प्रकार केवलज्ञानी के आत्मप्रदेश असंख्यात होते हुए भी उनका आकार अन्तिम शरीर के आकार के समान है। सिद्ध भगवान् के तो आकार अंतिम शरीर से भी कुछ कम है। कुछ केवली भगवान् मोक्ष के पहले चार प्रकार के समुद्घात करते हैं उसे केवली समुद्घात कहते हैं अंतिम केवली, समुद्घात में उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण 343 धनराजू प्रमाण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। अन्य समय में उनके आत्मप्रदेश संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण भी रहते हैं और सिद्धावस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून आकार में रहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् हर अवस्था में सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हैं, इस कारण ज्ञानक्षेत्र/ज्ञेयक्षेत्र की अवस्था सर्वगत है किन्तु जो लोग भगवान् को शरीर अपेक्षा भी सर्वगत मानते हैं वे सत्य-तथ्य से परे हैं। यदि भगवान् सर्वगत होते तो मलत्याग आदि अयोग्य क्रिया भी भगवान् के शरीर में ही होती जिससे भगवान् को ही अपवित्र कर देते और कष्ट देते। जैसे-सूर्य के प्रकाश क्षेत्र में कोई कार्य करने पर वह सूर्य में नहीं होता वैसे भगवान् के ज्ञान क्षेत्र में ये क्रियायें होती हैं इसलिए भगवान् के शरीर में ये क्रियायें नहीं होती हैं। परमात्म प्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने ज्ञान, ज्ञानविषय, ज्ञानक्षेत्र का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

जसु अब्भंतरि जगुवसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि।।

जिस आत्म राम के केवलज्ञान में संसार बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है और जगत् में वह बस रहा है अर्थात् सबमें व्याप्त हो रहा है। वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, संसार में निवास करता हुआ भी निश्चयनयकार किसी जगत् की वस्तु से तन्मय नहीं होता अर्थात् जैसे रूपी पदार्थ को नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे जुदे ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे जुदा रहता है, उसी को परमात्मा ऐसा है प्रभाकरभट्ट, तू जान।

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया।। (43) सं.सू.

केवलज्ञान-असंख्यात-संख्यात-अनंतरूप है और वैसे रागद्वेष मोह रूप दूसरे

भी जीव पर्याय हैं।

आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने से दोष-

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव।। (24)
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।। (25)

He, who does not admit the soul to be co-extensive with knowledge, must indeed concede that the soul is either smaller or larlge than knowledge. If the soul is smaller, the knowledge, being insentient, cannot know, if larger, how can it know is the absence of knowleadge?

यहाँ यह भाव है कि जो कोई आत्मा को अँगूठे की गाँठ के बराबर या श्यामाक तंदुल के बराबर या बड़ के बीज के बराबर आदि रूप से मानते है उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घात के बिना आत्मा को शरीरप्रमाण से अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया है।

समीक्षा-द्रव्य में ही गुण और पर्याय होती है, द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र गुण और पर्यायें नहीं होती हैं। जैसे-मिश्री के सफेद, मीठा, वजन आदि गुण मिश्री में ही हैं और उसका परिणमन उसी में ही हैं। उसी तरह प्रत्येक चेतन और अचेतन द्रव्य में उसके गुण एवं पर्यायें होती हैं। जीव भी एक द्रव्य है, इसीलिए उसके गुण उसमें व्याप्त होकर सर्वत्र रहते हैं। जैसे-मिश्री का मीठा गुण उस मिश्री के हर प्रदेश में व्याप्त है उस मिश्री को छोड़कर अन्यत्र उसका मीठा गुण नहीं है और न ही उस मिश्री के कुछ अंश में है और न ही कुछ अंश में नहीं है। ज्ञान एवम् ज्ञानी का सम्बन्ध गुण और गुणी का सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञान गुण है आत्मा गुणी है इसलिए जहाँ-जहाँ आत्मा है वहाँ-वहाँ ज्ञान रहेगा ही। क्योंकि गुणों का आश्रय द्रव्य होता है-इसलिए ज्ञान प्रमाण आत्मा है एवं आत्मा के जितने प्रदेश है उतने में ज्ञान रहेगा ही। किन-किन अवस्थाओं में आत्मप्रदेश कहाँ-कहाँ रहते हैं इसका वर्णन द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

ने निम्न प्रकार किया है-

अणुगुरूदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।। (10)

व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

केवलज्ञानावस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा को लोक और अलोक में व्यापक माना है और जैसे नैयायिक मीमांसक और सांख्यमत वाले आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं वैसा नहीं। अणुमाण शरीर प्रमाण आत्मा है, यहाँ पर 'अणु' शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि अपूर्ण (अपर्याप्तक) सूक्ष्म निगोद शरीर है उसका ग्रहण करना चाहिए। और पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिए। और गुरु शरीर यहाँ पर 'गुरु' शब्द से एक हजार योजन परिमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिए और मध्यम अवगाहन में मध्यस्थ शरीरों का ग्रहण है।

यदि आत्मा के कुछ अंश में ज्ञान माना जाये तो ज्ञान रहित अवशेष अंश अचेतन हो जायेगा। और अचेतन अंश से अनुभव नहीं होगा। उस अंश के अचेतन होने से वह अंश आत्मामय है यह संभव नहीं होगा। यदि आत्मप्रदेश से भी बाहर उस जीव के ज्ञान गुण मानते हैं तो गुणी के आश्रय बिना गुण किसके आधार पर रहेगा? यदि ऐसा होगा तो आत्मप्रदेश से ज्ञान आगे फैलने के कारण आत्मा में ही ज्ञान होता है अन्य अचेतन में नहीं होता है यह सत्य सिद्धान्त असत्य हो जायेगा। संसारावस्था में भी शरीर प्रमाण ही आत्मप्रदेश होते हैं और उसमें ज्ञान होता है। आत्म प्रदेश से व्याप्त शरीर के सम्पूर्ण अंग-उपांगों से सुख-दुःख का वेदन होता है। यदि शरीर के हृदयादि कुछ अंश में ही आत्म (ज्ञान) है तब एक साथ सर्दी, गर्मी का अनुभव कैसे होगा? यदि समुद्घात को छोड़कर अन्य समय शरीर से बाहर आत्मप्रदेश रहते हैं तो शरीर से बाहर स्थित विष, अग्नि, बर्फ, कण्टक का अनुभव जीव को उसी प्रकार होना चाहिए था जैसे शरीर को अग्नि आदि में प्रवेश कराने पर होता है। संसारावस्था में भी यह जीव जिस छोटे-बड़े शरीर को प्राप्त करता है उसमें फैलकर निवास करता है।

कुंदकुंददेव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है-

जह पउमरायरणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि।। (33) पृ. 123

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाले जाने पर अपने से अभिन्न प्रभासमूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादि काल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभासमूह में उफान आता है (अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है) और दूध बैठ जाने पर प्रभासमूह बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनश्च, जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में डाले जाने पर स्वप्रभा समूह के विस्तार द्वारा उस अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त उस अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

भगवान् सर्वव्यापी

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा।। (26)

The great Jina is everywhere and all the objects in the world are within him, since the Jina is an embodiment of knowledge and since they are the objects of knowledge.

आगे कहते है कि जैसे ज्ञान को पहले सर्वव्यापक कहा गया है तैसे ही सर्वव्यापक ज्ञान की अपेक्षा भगवान् अरंहत आत्मा भी सर्वगत है। (णाणमयादो य)

तथा ज्ञानमयी होने के कारण से (जिणवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मों को जीतने वाले अरहंत या सिद्ध भगवान् (सव्वगदो) सर्वगत या सर्वव्यापक हैं, (तस्स) उस भगवान् के ज्ञान के (विसयादो) विषयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को रखने के कारण से (सव्वे वि य जगदि ते अट्ठा) सर्व ही जगत् में जो पदार्थ हैं सो (तग्गया) उस भगवान् में प्राप्त या व्याप्त (भणिया) कहे गए है।

जैसे-दर्पण में पदार्थ का बिम्ब पड़ता है जैसे व्यवहारनय से पदार्थ भगवान् के ज्ञान में प्राप्त है। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान है तथा अनाकुलपने के लक्षण को रखने वाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो है सो ही आत्मा है, इस प्रकार के आत्मा का जो प्रमाण है वही आत्मा के ज्ञान का प्रमाण है और वह ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देह के भीतर प्राप्त आत्मा को नहीं छोड़ता हुआ भी लोक-अलोक को जानता है। इस कारण से व्यवहारनय से भगवान् को सर्वगत कहा जाता है और क्योंकि जैसे पीले, नीले आदि बाहरी पदार्थ दर्पण में झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये व्यवहार से ज्ञान-आकार भी पदार्थ कहे गये हैं। इसलिये वे पदार्थ ज्ञान में तिष्ठते हैं ऐसा कहने में दोष नहीं है, यह अभिप्राय है।

ज्ञान वास्तव में, तीन काल में व्याप्त सब द्रव्य पर्याय रूप से व्यवस्थित विश्व के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करता हुआ (जानता हुआ) सर्वगत कहा गया है और ऐसे (सर्वगत ज्ञान से) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान् भी सर्वगत ही हैं। इस प्रकार सर्वगत ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से सब पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान से अधिक भगवान् के वे विषय हैं, ऐसा (शास्त्र में) कथन होने से वे सब पदार्थ भगवान्गत ही हैं (अर्थात् भगवान् में प्राप्त ही है) यहाँ (ऐसा समझना कि) निश्चय से अनाकुलता लक्षण सुख का जो संवेदन उस सुख संवेदन की अधिष्ठानता जितनी हो, आत्मा है और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। उस निजस्वरूप आत्मप्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना, विश्व के ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना भगवान् (सर्व परपदार्थों को) जानते हुए भी व्यवहारनय से 'भगवान् सर्वगत' हैं ऐसा उपचार किया जाता है, किन्तु उनका (आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का) परमार्थ से एक-दूसरे में गमन नहीं है, क्योंकि

सर्वद्रव्यों के स्वरूप-निष्ठापना है (क्योंकि सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित हैं) यही क्रम ज्ञान में निश्चित करने योग्य है (अर्थात् जिस प्रकार आत्मा और ज्ञेयों के सम्बन्ध में निश्चय व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयों के सम्बन्ध में भी निश्चय-व्यवहार से वैसा ही निश्चय करना चाहिए)

समीक्षा-जैसे कैमरे में (छायांकन यंत्र) पर्वत, वृक्ष, मनुष्यादि के चित्र तो जाते हैं तथापि पर्वतादि कैमरे में प्रवेश नहीं करते हैं और न ही कैमरा इस रूप परिवर्तित होता है। उसी प्रकार भगवान् ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत होते हुए भी ज्ञेयरूप परिणमन नहीं करते हैं और न ही ज्ञेय भगवान् रूप परिवर्तित होते हैं। कुछ लोग भगवान् को विश्वव्यापी मानते हैं वह ज्ञान की अपेक्षा यथार्थ है परन्तु जो शरीर की अपेक्षा विश्वव्यापी मानते है वह यथार्थ नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने भगवान् को विश्वव्यापी माना है। यथा-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पत्तत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

(प्रमेय रत्नमाला)

जो विश्वतश्चक्षु है, सर्व ओर नेत्रवाला है अर्थात् विश्वदर्शी है, विश्वतो मुख है-सर्व ओर मुखवाला है अर्थात् जिसके वचन विश्वव्यापी है, विश्वतो बाहु है-सर्व और भुजाओं वाला है, अर्थात् जिसकी भुजाओं का व्यापार सर्वजगत् में है यानी जो सर्वजगत् का कर्त्ता है, विश्वतः पात् है-जिसके पाद (पैर) सभी ओर हैं अर्थात् जो विश्व में व्याप्त हैं, पुण्य-पाप रूप सम्बाहुओं से सर्व प्राणियों को संयुक्त करता है और जो परमाणुओं से दिव् अर्थात् आकाश और भूमि को उत्पन्न करता हुआ वर्तमान है ऐसा एक देव अर्थात् ईश्वर है।

आत्मा ज्ञान सुखादिमय

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा णाणं वा अण्णं वा।। (27)

The doctrine of Jine is that knowledge is the self and in the absence of the self there cannot be (any) knowledge, therefore,

knowledges is the self, while the self is knowledge or anything else.

आग कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है तथापि आत्मा ज्ञान स्वभाव भी है तथा सुख आदि स्वभाव रूप भी है-केवल एक ज्ञान गुण का ही धारी नहीं है-

(णाणं) ज्ञान गुण (अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है, कारण कि (णाणं) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्म द्रव्य के (विणा) बिना अन्य किसी घट पट आदि द्रव्य में (णः वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिए यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षा से अर्थात् गुण गुणी की अभेद दृष्टि से (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मरूप ही है। किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा विचारा जाता है। (अण्णं वा) तथा अन्य गुण रूप भी है।

अब आत्मा के अन्दर पाये जाने वाले सुख वीर्य आदि स्वभावों की अपेक्षा विचारा जाता है-यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्त में ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञान गुण मात्र ही आत्मा को प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मत में ज्ञान और आत्मा दोनों का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए किसी अपेक्षा से ज्ञान स्वरूप भी आत्मा है सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही नहीं है। यहाँ यह अभिप्राय है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है। इसलिए ज्ञान-स्वरूप आत्मा हो सकता है। तथा आत्मा ज्ञानरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। तैसा ही कहा है 'व्यपकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तदतन्निष्ठमेव च' व्यापक में व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सकते है जबकि व्याप्य व्यापक में ही रहता है।

समीक्षा- वस्तु अनेकान्तात्मक है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण एक साथ अविरोध रूप में रहते हैं जैसे अग्नि में दाहकत्व, प्रकाशकत्व, पाचकत्व आदि अनेक गुण एक साथ रहते हैं। तो भी एक गुण दूसरे गुण रूप परिणमन नहीं करता है, अग्नि दाहकत्व गुण के कारण दहन करती है, पाचकत्व गुण के कारण पचाती है और प्रकाशकत्व गुण के कारण प्रकाश करती है। इसलिए अग्नि एक होते हुए भी तीनों गुण

के कारण अलग-अलग है। अग्नि तो तीनों रूप है परन्तु एक-एक गुण पूर्ण अग्नि रूप नहीं है इसलिए प्रकाशकत्व आदि गुण कथंचित् अग्नि रूप है परन्तु एक-एक गुण पूर्ण अग्नि रूप हैं कथंचित् नहीं हैं। इसी प्रकार आत्मा एवं आत्मा के गुणों के बारे में जानना चाहिए। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनंतगुण हैं। आत्मा का ज्ञान गुण आत्मा में ही है अन्य द्रव्य में नहीं है तथापि आत्मा में ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य गुण भी है। इसीलिए आत्मा ज्ञान गुण स्वरूप व अन्य गुणरूप भी है। यदि आत्मा को केवल ज्ञान-स्वरूप स्वीकार किया जावे एवं अन्य स्वरूप नहीं किया जावे तो अन्य गुणों का अभाव हो जायेगा एवं अन्य गुणों के अभाव से आत्मा का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि गुण के अभाव से गुणी का अभाव हो जायेगा एवं गुणी के अभाव से गुण का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए कथंचित् गुण-गुणी में भेद एवं अभेद भी है। इस सूक्ष्म सैद्धान्तिक विषय को सरलीकरण करने के लिए और एक-दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। जैसे कोई कहता है, एक मीठा आम ले आओ, कोई कहता है एक पीला आम ले आओ, कोई कहता है एक किलो आम ले जाओ, कोई कहता है सुगन्धित आम ले जाओ। वे अलग-अलग विशेषण से आम प्राप्त करने के लिए ही बोल रहे हैं। मीठा आम लाना कहने पर आम का मीठा गुण क्या अन्य गुण से अलग करके लाया जा सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि मीठा गुण आम के अन्य गुण के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रहता है। इसी प्रकार अन्य गुणों को पृथक् करके नहीं लाया जा सकता है। इसलिए आम का मीठा गुण आम में होते हुए भी आम केवल मीठा गुण स्वरूप नहीं है अन्य गुण स्वरूप भी है। केवल गुण-गुणी संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेश अपेक्षा भेद नहीं होता है। उपरोक्त सिद्धान्त का प्ररूपण तार्किक चूड़ामणि अकलंक स्वामी ने स्वरूप संबोधन में किया है।

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः।। (3)

वह आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों द्वारा अचितरूप है, ज्ञान और दर्शन गुण से चेतनरूप है। इस कारण चेतन अचेतन रूप है।

ज्ञानी एवं ज्ञेय परस्पर में अप्रवेशक

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति।। (28) प्रव.सार.

आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयों के समीप नहीं जाता है ऐसा निश्चय है-

जैसे-आँखों के साथ रूपी मूर्तिक द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आँख शरीर में अपने स्थान पर है और रूपी पदार्थ अपने आकार का समर्पण आँखों में कर देते हैं तथा आँखें उनके आकारों को जानने में समर्थ होती है जैसे ही तीन लोक के भीतर रहने वाले पदार्थ तीन काल की पर्यायों में परिणमन करते हुए ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान में अपने आकार के देने में समर्थ होते हैं तथा अखंडरूप से एक स्वभाव से झलकने वाला केवलज्ञान उन आकारों को ग्रहण करने में समर्थ होता है, ऐसा भाव है।

समीक्षा-यहाँ पर आचार्य देव ने ज्ञान एवं ज्ञेय का क्या संबंध है यह बताया है। ज्ञान उसे कहते है जो ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय उसे कहते है ज्ञान का विषय बनता है। ऐसा संबंध होते हुए भी न ज्ञान, ज्ञेय रूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञान रूप होता है। यदि ऐसा हो जाये तो जड़ात्मक ज्ञेय भी चेतनात्मक ज्ञान बन जायेगा और चेतनात्मक आत्मा अचेतनात्मक हो जायेगा एवम् जड़ात्मक ज्ञेय, ज्ञान गुण के कारण चैतन्य बन जायेंगे और गुणों के अभाव से गुणी का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए ज्ञान, ज्ञेय का संबंध बताते हुए 'रत्नकरण्ड' में समन्तभद्रस्वामी ने कहा है-

'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते'

इसी प्रकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है -

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।। (1)

वह केवलज्ञान रूप परम ज्योति स्वरूप दर्पण में संपूर्ण लोक-अलोक के समस्त ज्ञेय एवं अनंत पर्यायें सम्यक् रूप में झलकती हैं ऐसी ज्योति जयवन्त हों। यहाँ पर द्वयाचार्य श्री ने केवलज्ञान की तुलना दर्पण से की है। उसका रहस्य जान लेना चाहिए क्योंकि दृष्टान्त और द्राष्टान्त में बहुत कुछ समानता होती है। यदि कुछ

समानता न हो तो दृष्टान्त और द्राष्टान्त ही नहीं घट सकता है। भले केवल ज्योति चैतन्य स्वरूप है, दर्पण जड़ात्मक है। दर्पण में कुछ प्रतिबिम्बित होता है। केवलज्ञान में सब कुछ प्रतिबिम्बित होता है। इस तरह दोनों में महान् असमानता होते हुए भी कुछ समानता भी है। वह यह है कि जैसे दर्पण बिना रागद्वेष से अपनी स्वच्छता के कारण ज्ञेय में बिना प्रवेश हुए भी अपने प्रतिबिम्ब को झलकाता है। वैसे केवलज्ञान बिना रागद्वेष के तथा ज्ञेय में बिना प्रवेश किये हुए ज्ञेय को जानता है। इसलिए तो स्वामी कार्तिकेय ने कहा है-

णाणं ण जादि णेयं णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि।
णिय-णिय-देस ठियाणां व्यवहारो णाण-णेयाणं।। (256)

ज्ञान, ज्ञेय के पास नहीं जाता और न ज्ञेय ज्ञान के पास आता है। फिर भी अपने-अपने देश में स्थित ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञेयज्ञायक व्यवहार होता है।

ज्ञानी ज्ञेय में प्रवेश बिना जानता

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।। (29)

The knower, who is beyond sense-perception, neccessarily knows and sees the whole world neither enthering into nor entered into by the object of knowledge, just as the eye sees the objects of sight.

आगे कहते हैं ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थों में निश्चय नय से प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहार से प्रवेश किये हुए है, ऐसा झलकता है, ऐसी आत्मा के ज्ञान की विचित्र शक्ति है।

जैसे नेत्र रूपी द्रव्यों को यद्यपि निश्चय से स्पर्शन नहीं करता है तथापि व्यवहार से स्पर्श कर रहा है ऐसा लोक में झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व-रागद्वेष आदि आस्रव भावों के और आत्मा के संबंध में जो केवलज्ञान के पूर्व विशेष भेदभाव होता है, उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन जगत् और तीन कालवर्ती पदार्थों को निश्चय से स्पर्श न करना हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है तथा

स्पर्श करता हुआ ही ज्ञान से जानता है और दर्शन से देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में परिणमन करता हुआ इन्द्रियों के विषयों से अतीत हो गया है। इसलिये जाना जताा है कि निश्चय से आत्मा पदार्थों में प्रवेश न करता हुआ ही व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश हुआ ही घटता है।

समीक्षा-पूर्व गाथा में यह सिद्ध किया गया था कि ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता है यह कथन यथार्थ निश्चयनय से हैं परन्तु व्यवहार नय से विचार करने पर कथंचित् ज्ञान, ज्ञेय में प्रवेश करता भी है जैसे-कोई दर्पण को देख रहा है तब वस्तु स्वरूप से दर्पण और दर्शक-अलग-अलग है। तथापि उस दर्शक का प्रतिबिम्ब उस दर्पण में प्रवेश करता हुआ झलकता है। यदि उसका प्रतिबिम्ब सर्वथा दर्पण में प्रवेश नहीं करता तो दर्पण में प्रतिबिम्ब कैसे झलकता? इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से वह व्यक्ति दर्पण में प्रतिछाया (प्रतिबिम्ब) रूप में प्रवेश किया हुआ है। विज्ञान की अपेक्षा वस्तु से जो प्रकाश निस्तृत होता है वह प्रकाश दर्पण के तल में जाकर प्रतिफलित होता है। प्रकाश जिस डिग्री में दर्पण तल में गिरेगा उतना ही कोण बनाकर प्रतिफलित होता है। प्रकाश जिस डिग्री में दर्पण तल में गिरेगा उतना ही कोण बनाकर प्रतिफलित होगा। इसके कारण ही दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी प्रकार चक्षु दूर से वस्तु को देखती है वह उस वस्तु का प्रतिबिम्ब आँख के रेटीना (तारा) में पड़ता है। यदि यह प्रतिबिम्ब आँख में नहीं पड़ता तो वह वस्तु दिखाई नहीं देती तथापि वह वस्तु आँख में प्रवेश नहीं करती। यदि वह वस्तु आँख में प्रवेश कर जाती तो आँख फूट जाती अथवा इतनी छोटी आँख में इतनी बड़ी-बड़ी वस्तु कैसे प्रवेश कर जाती? इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी चक्षु में समस्त लोक-अलोक स्व प्रमेयत्व गुण के कारण प्रतिबिम्ब होते हैं। ज्ञान की स्वच्छता में प्रतिबिम्ब करने की शक्ति है और ज्ञेय में प्रतिबिम्बत होने की शक्ति है, उसे ही प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध या ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध कहते है। जैन दार्शनिक ग्रन्थ आलाप पद्धति में देवसेन सूरी ने कहा है-

प्रमेय स्वभावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्य प्रमेयम् (98)

प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

परीक्षामुख में प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार कहा है-

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् (1)'

स्व और पूर्व अर्थ (अनिश्चित अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। अथवा जो ज्ञान स्व और पर स्वरूप को विशेष रूप से निश्चय करे, वह प्रमाण है। उस प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाय वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ज्ञान का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है। यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण न हो तो वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेव अप्पा (159) नियमसार

व्यवहानय से केवली भगवान् सब कुछ जानते और देखते हैं निश्चयनय से केवल ज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं।

ज्ञान का ज्ञेय में व्याप्त होने का उदाहरण

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु।। (30)

The knowledge operates on the object Just as a sapphire, thrown in the milk, pervades the whole of it with its Iustre.

(इह) इस जगत् में (जहाँ) जैसे (इंदणीलं रयणम्) इन्द्रनील नाम का रत्न (दुद्धज्झसियं) दूध में डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमक से (तं पि दुद्धं) उस दूध को भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) है (तह) जैसे (णाणम्) ज्ञान (अट्ठेसु) पदार्थों में वर्तता है।

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नाम का प्रधानरत्न कर्त्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारण से दूध नीला करके वर्तन करता है जैसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम सामायिक नामा संयम के द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा-पर को जानने की शक्ति रखने के कारण सर्व अज्ञान के अन्धेरे को तिरस्कार करके एक समय में ही सर्व पदार्थों में ज्ञानाकार से वर्तता है-यहाँ यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थों के कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञान में झलकते है उनको उपचार से पदार्थ कहते हैं। उन

पदार्थों में ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहार से दोष नहीं है।

समीक्षा-इस गाथा में आचार्य श्री ने ज्ञान-ज्ञेय का क्या सम्बन्ध है सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इन्द्रनीलमणि नाम का एक रत्न होता है जिसकी प्रभा दूध में फैलती है और दूध का वर्ण नीला हो जाता है। यदि एक पात्र में दो इंच प्रमाण दूध है और उसमें इन्द्रनीलमणि डाल दिया जाता है तब उस मणि की प्रभा उस दूध में 2 इंच तक फैलेगी और यदि दूध की मात्रा 4 इंच की हो जायेगा तब उस मणि की प्रभा 4 इंच तक फैल जायेगी। इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी इन्द्रानीलमणि, ज्ञेय रूपी दूध को प्रकाशित करता है वर्तमान जितना ज्ञेय है उस ज्ञेय से अनन्त गुणित ज्ञेय होता तो उसे भी केवलज्ञान प्रकाशित कर लेता और उससे कम होता तो भी उसे प्रकाशित कर लेता तो भी उस केवलज्ञान की शक्ति कम या अधिक नहीं होती। अथवा जैसे इन्द्रनीलमणी दूध नहीं बनता और दूध इन्द्रनीलमणि नहीं बनता उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन नहीं करता और ज्ञेय ज्ञान रूप परिणमन नहीं करता।

सही लक्ष्य आपके लिए क्या कर सकते हैं

अगर मैंने लक्ष्य तय करने का सही तरीका नहीं सीखा होता, तो मैं आपके लिए ये शब्द नहीं लिख रहा होता। लक्ष्य तय करने की वजह से ही मैं अपनी पहली पुस्तक लिख पाया था- और बाकी लक्ष्यों की बदौलत मैं आगे की ग्यारह पुस्तकों में से प्रत्येक को लिखने में कामयाब हुआ। उस वक्त मुझे जो असंभव लग रहा था, वह कतई असंभव नहीं था; जो सपने मैं साकार करना चाहता था, वे उन लक्ष्यों जितने ही वास्तविक और संभव साबित हुए, जो मैंने उन सपनों को हक़ीक़त में बदलने के लिए तय किए थे।

कई सालों तक मैंने मस्तिष्क के उन गुणों के बारे में सिखाया और लिखा है, जो वैज्ञानिक है और साबित किए जा सकते हैं। लेकिन मैं उन लाभों को पर्याप्त रूप से सूचीबद्ध नहीं कर पाया हूँ, जो लक्ष्य तय करने की वजह से लोगों को लगभग चमत्कारिक रूप से जीवन में मिलते हैं।

जब आप लक्ष्य तय करते हैं - तो आप इसे वास्तविक बनाते हैं

जब आप कोई लक्ष्य तय करते हैं, तो आप सकारात्मक शक्तियों को गतिशील कर देते हैं, ऐसी शक्तियाँ जो इतनी शक्तिशाली होती हैं कि अक्सर वे सारी विपरीत स्थितियों को लाँघ सकती हैं। जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आप इसे वास्तविक बना देते हैं।

जब हम अपने लक्ष्यों के परिणाम देखते हैं, तो यह सोचना आसान है कि उनके भीतर कोई जादुई शक्ति होती है, जिससे उन्हें बल मिलता है। इतना कि कुछ लक्ष्यों के बारे में तो ऐसा लगता है, मानो वे खुद जीवित हों। ऐसा लगता है कि जब आप उन्हें लिखते हैं और उनके सच होने का मानसिक चित्र देखते हैं, तो आप उनमें प्राण फूँक देते हैं और वे सजीव बनकर वास्तविक हो जाते हैं।

कुछ लोग लक्ष्यों की इस छिपी हुई शक्ति में विश्वास नहीं करते हैं। (जिस तरह कुछ लोग प्रबल प्रमाण के बावजूद प्रार्थना की शक्ति में विश्वास नहीं करते हैं।) लेकिन यह फिर भी मौजूद है। जो भी व्यक्ति निष्ठापूर्वक लक्ष्य तय करता है और इसके बाद की प्रक्रिया पर नज़र रखता है, वह इस शक्ति की पुष्टि करेगा। ऐसा लगता है, जैसे आप लक्ष्य तय करके अपनी सारी सृजनात्मक ऊर्जाओं, अपने सारे सर्वश्रेष्ठ चयनों, अपने सारे छिपे संसाधनों को एक साथ ला रहे हैं और इन सबको ऊर्जा के एक सर्वव्यापी स्रोत के साथ मिला रहे हैं, जो सबसे सकारात्मक परिणाम हासिल करने के लिए काम करता है।

एक बहुत ही व्यावहारिक (और वैज्ञानिक) स्तर पर इसमें आदर्श समझदारी लगती है। जब आप कोई लक्ष्य तय करते है और उसमें ऊर्जा डालते हैं, तो आप दरअसल संसाधनों की एक अविश्वसनीय टीम को एक साथ ला रहे हैं - और वे सभी चेतन स्तर पर ही नहीं है। यह तो आपकी खुद की आंतरिक लक्ष्य-वेधी टुकड़ी से यह कहने जैसा है, ''ठीक है, टीम, तो यह है। लक्ष्य यह है। आप सभी जानते हैं कि क्या करना है। अब इस पर काम में जुट जाएँ।''

''सक्रिय'' लक्ष्य-निर्धारण किस कारण इतनी अच्छी तरह काम करता है?

हम यहाँ जिस तरह के लक्ष्य-निर्धारण की बात कर रहे हैं - सक्रिय लक्ष्य-

निर्धारण - वह इतनी अच्छी तरह काम क्यों करता हैं? यह सच है कि लक्ष्य को लिखकर-हम अपने अवचेतन मन में नए ''आदेशों'' का समूह अंकित कर रहे हैं - लेकिन मामला इससे कहीं ज़्यादा है। ज़्यादा क़रीबी निगाह डालने पर हम पाते हैं कि इस तरह के लक्ष्य-निर्धारण में हमारे जीवन और हमारे भविष्य को बदलने की शक्ति होती है, क्योंकि यह हमारे बारे में बहुत कुछ बदल देता है! सक्रिय लक्ष्य-निर्धारण की आसान दिखने वाली प्रक्रिया दरअसल यह करती है :

1. लक्ष्य तय करने से आप जान जाते हैं कि आप सचमुच क्या चाहते हैं।

हो सकता है कि कई बार आपको यही न पता हो कि आप क्या चाहते है। लक्ष्य तय करने के आसान क़दम उठाने पर आप जान जाएँगे कि आप क्या चाहते हैं - और आप क्या नहीं चाहते। अगर आप कोई लक्ष्य तय कर रहे हैं, लेकिन आप यह देखते हैं कि इसे लिखने के लिए खुद को विवश करना पड़ रहा है, तो यह लक्ष्य को दोबारा जाँच करने का समय है। उस अनिच्छुक दुल्हन की तरह, जो शादी की व्यवस्था करने के लिए ख़ुद को विवश नहीं कर सकती, हम उस मार्ग पर झिझकते हुए और अनिच्छा से जाते है, जिसे हमने नहीं चुना है।

जिन लक्ष्यों को लिखना सबसे आसान होता है और जिन पर काम करने के लिए हम आतुर होते हैं, वही ऐसे लक्ष्य होते हैं, जिन्हें हम हमेशा सबसे ज़्यादा चाहते हैं। जिन लक्ष्यों को हम सबसे ज्यादा चाहते है और जिनमें हम अपनी ऊर्जाएँ लगाते हैं, हम उन्हीं लक्ष्यों तक पहुँचते हैं।

2. लक्ष्य तय करने - इसे लिखने - से आपको अनुसरण के लिए एक बेहद श्रेष्ठ राह मिलती है।

सक्रिय लक्ष्य-निर्धारण का एक बेहद महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि जब आप परिभाषित करते हैं कि आप क्या चाहते हैं और एक योजना लिख लेते हैं, तो आपके पास अनुसरण करने के लिए अंत में हमेशा एक ज़्यादा समझदारी भरी राह होगी - जब आप कोई लक्ष्य सही तरीक़े से तय करते हैं, तो आपके पास एक योजना होती है। आप जानते हैं कि आप कहाँ जा रहे हैं और आपके पास वहाँ पहुँचने का एक बेहतर तरीक़ा होता है।

यह बड़े अफसोस की बात है कि जब लोग सर्वश्रेष्ठ की उम्मीद में जिन्दगी गुजार देते हैं, लेकिन अपने भीतर के ज़्यादा समझदार स्वरूप की बातों पर कान नहीं देते हैं - और फिर इस बात पर हैरान होते हैं कि वे सचमुच वैसा जीवन क्यों नहीं जी रहे हैं, जैसा वे जी सकते थे।

हमारे भीतर एक आवाज़ है, जो हो सकता है कि बरसों से ख़ामोशी में इंतजार कर रही हो। लेकिन जब हम लक्ष्य तय करने के जाग्रत करने वाले क़दमों से गुजरते हैं, तो बहुत समझदार और परवाह करने वाली वह आवाज़ एक बार फिर हमसे बात करती है और यह कहती है, ''दोस्त, आओ देखते हैं तुम कहाँ जा रहे हो - आओ इस बारे में बात करते हैं कि तुम अपने जीवन के साथ क्या कर रहे हो। तुम इस वक़्त क्या कर रहे हो? तुम इसके बाद क्या करना चाहोगे?''

जब हम लक्ष्य तय करना शुरु करते हैं, तो हम दिशा के आंतरिक अहसास का आह्वान करते हैं। यही वह कम्पास है, जिसे हमें राह दिखाने और अपने ज़्यादा बड़े स्वरूपों की ओर ले जाने के लिए बनाया गया था। यह एक ऐसी आवाज़ है, जो बहुत पहले हमसे बात करती थी, जब हम अपने सपनों में विश्वास करते थे। लेकिन हम बहुत ज़्यादा व्यस्त हो गए ओर संसार में इतना शोरशराबा रहता है कि वह आवाज़ हमसे जो कहने की कोशिश कर रही थी, उसे हम सुन ही नहीं पाए। अब हम अपने उस हिस्से को दोबारा जगाना शुरू कर रहे हैं, जो विश्वास करने के लिए जन्मा था।

जब हम अपनी नई लक्ष्य योजना पर चलते हैं, तो हमें उद्देश्य का अहसास महसूस होने लगता है - ''सही होने'' का अहसास। हमारे भीतर यह भावना आ जाती है कि हमारा जीवन पटरी पर है और हम अंततः सही दिशा में जा रहे हैं।

क्या हमारी कल्पना हमें बहला रही है और यह बस विश्वास करना चाहती है? नहीं, यह बहुत वास्तविक है। मस्तिष्क को इसी तरह हमारी परवाह करने के लिए बनाया गया था। जब हम लक्ष्य तय करते हैं, तो यही होता है - स्वाभाविक रूप से।

3. लक्ष्य सही चेतन विकल्प सुनने में आपकी मदद करते हैं और एक हजार अन्य विकल्प चुनने में भी, जिनके बारे में आप जागरूक भी नहीं है।

आप सर्वश्रेष्ठ विकल्प तभी चुन सकते हैं, जब आपके पास यह स्पष्ट चित्र हो कि आप क्या चाहते हैं। जब आप अपने लक्ष्यों को परिभाषित करते हैं, तो आप परिभाषित करते हैं कि आप क्या चाहते हैं - आप चित्र देखते है और यह स्पष्ट होता है। आप जानते हैं कि इसके बाद क्या करना है। जब आप सटीकता से जान जाते हैं कि आप क्या चाहते हैं और आप हर दिन क्या करना है, तो आप स्वाभाविक रूप से बेहतर विकल्प चुनने लगेंगे - सही विकल्प! लक्ष्य आपको स्पष्टता देते हैं। स्पष्टता सही विकल्प चुनने में आपकी मदद करती है।

लेकिन लक्ष्य तय करने पर आपका विकल्प-चयन एक और, ज़्यादा ग़हरे स्तर पर पहुँच जाता है। तब आप उन हज़ारों विकल्पों को भी सही चुनते हैं, जिन्हें आप हर दिन पूरी तरह अचेतन होकर चुनते है।

किसी सामान्य दिन, जब आपने ख़ास लक्ष्य तय नहीं किए हैं, तो आपका कम्प्यूटर नियंत्रण केन्द्र अनिर्देशित गतिविधि से भरा रहता है, हालाँकि आप यह बात जाने भी नहीं हैं। यह बस उन प्रोग्रामों का अनुसरण कर रहा है, जो आपने अपनी अचेतन आत्म-चर्चा और आस-पास के संसार की दी निरुद्देश्य सामग्री से इसमें अतीत से भरे हैं।

तो जब आपका कम्प्यूटर एक दिन में आपके लिए हज़ार छोटे-छोटे विकल्प चुन रहा है, तो यह आपको किसी बैटरी चलित खिलौना कार की तरह इधर से उधर दौड़ा रहा है, जिसके नियंत्रण में कोई नहीं है - 'व्यस्त होना, आपको दरअसल किसी ख़ास का मार्गदर्शन न देना, आपको थकाना पसंद हो। दरअसल, किसी ने भी इसे नहीं बताया है कि कहाँ जाना है! (सिवा इसके कि उठो, नौकरी करने जाओ, घर जाओ, टीवी देखो, बिस्तर पर लेट जाओ...)'

लेकिन जब आप स्पष्ट लक्ष्य तय कर देते हैं, तो आप अपने अचेतन चुनावों को सूचना दे रहे हैं। आप कह रहे हैं, ''मैं यह चाहता हूँ। यही वह जगह है, जहाँ हम जा रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे लिए यह करो।''

इसके बाद जो होता है, वह मस्तिष्क का कर्म ''कर्म का आह्वान'' है। जिस तरह किसी मिसाइल की लक्ष्य तक पहुँचने की प्रोग्रामिंग होती है, उसी तरह मानव मस्तिष्क की यह कम्प्यूटर जैसी लक्ष्य-खोजी दक्षता ख़ामोशी से और बिना थके उस

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए काम करती है, जिसको आप तय करते हैं। यह लाभों पर निगाह रखती है, आपको कर्म में प्रवृत्त करती है और ''पाने तथा हासिल करने'' के लिए आपके विकल्प-चयन तय करती है।

जैसे आप किसी पहले से प्रोग्राम किए हुए मास्टर प्लान के सटीक क़दमों का अनुसरण कर रहे हों, अंततः आप कर्म करते हैं, पिछली बाधाओं को हटाते हैं, अपनी दिशा को दुरुस्त करते हैं, क़दम दर क़दम, विकल्प दर विकल्प, जब तक कि लक्ष्य हासिल नहीं हो जाता। अब आप जो विकल्प चुनते हैं - भले ही ये अचेतन हों - उनका कोई उद्देश्य होता है। आपने जो लक्ष्य तय किया है, उसके सकारात्मक उद्देश्य से उन्हें मार्गदर्शन और दिशा मिलती है।

कोई हैरानी नहीं कि जब हम लक्ष्य तय करते हैं, तो ऐसा लगता है जैसे जीवन में चमत्कारिक चीज़ें होने लगी हैं! हमारा शक्तिशाली, जैव-रासायनिक, मानसिक कम्प्यूटर नियंत्रण केन्द्र हमारे लिए यह करता है - अपने आप - जब हम इसे बता देते हैं कि हम इससे क्या कराना चाहते हैं। जब हम लक्ष्य तय कर लेते हैं, तो यह बिलकुल यही करता है।

4. लक्ष्य तय करना आपको दोबारा अपने जीवन के प्रभार में ले आता है!

जैसा हमने अभी देखा, आप यह विश्वास रख सकते हैं कि अगर आप लक्ष्य तय नहीं कर रहे हैं - ख़ुद अपनी दिशा तय नहीं कर रहे हैं - तो किसी दूसरे व्यक्ति या किसी दूसरी चीज़ द्वारा आपकी दिशा तय की जा रही है। यह मानव मनोविज्ञान का तथ्य है कि जिन लोगों का जीवन स्व-निर्देशित नहीं है, उनका जीवन आस-पास के संसार द्वारा निर्देशित होता है। आपकी नौकरी, आपका जीवनसाथी, आपके मित्र, आपका परिवार, आपका स्वास्थ्य, आपकी आर्थिक स्थिति - आपके आस-पास की कोई भी और हर चीज़ - उन धक्कों और खिंचावों में योगदान दे सकती हैं, जो यह तय करते हैं कि आप हर दिन क्या करते हैं।

जब आप अपने लक्ष्यों के नियंत्रण में नहीं होते हैं, तो बाक़ी संसार नियंत्रण में होता है। लेकिन लक्ष्य बनाकर आप खुद को दोबारा प्रभार में ले आते हैं तब आप जान जाते हैं कि आप कौन हैं। आप जान जाते हैं कि आप कहाँ जा रहे हैं और वहाँ

पहुँचने के लिए आपको क्या करना है। दूसरों की सनक के आधार पर जीवन जीने के बजाय आप अपने खुद के सर्वश्रेष्ठ चयनों के आधार पर जीवन जीते हैं - आप अपनी दिशा तय करने के अधिकार का इस्तेमाल करते हैं।

इसका मतलब यह नहीं है कि आप बस अपनी खुद की दिशा में जाएँ और बाक़ी सबको छोड़ दें। इसका मतलब तो यह है कि आपके पास जाने के लिए एक दिशा होती है और यह इस पर आधारित नहीं होती कि उस वक्त हवा किस तरफ की चल रही है। यह तो आप पर और आप किसे चुनते हैं, उस पर आधारित होती है। यह आपके लक्ष्यों पर आधारित होती है।

5. लक्ष्य आपको यह अधिक दिखाते हैं कि आप सचमुच कौन हैं - और वे अविश्वसनीय चीज़ें क्या हैं, जो आप कर सकते हैं। वे आपके भीतर के सर्वश्रेष्ठ पहलुओं को उजागर करते हैं।

जब आप लक्ष्य तय करने का समय निकालते हैं, तो आप ख़ुद से यह पूछने का समय भी निकाल रहे हैं कि आप किस चीज़ में सक्षम हैं - आपके गुण क्या हैं। आपकी योग्यताएँ क्या हैं? आपमें कौन सी नैसर्गिक प्रतिभाएँ हैं? अगर आप चाहें, तो आप क्या कर सकते हैं?

जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आपको वे सीमाएँ दिख जाती हैं, जो आप अतीत में खुद के लिए तय कर रहे थे। आप यह कल्पना करने लगते हैं कि अगर आप उन सीमाओं से मुक्ति पा लें, तो आप कितना कुछ कर सकते हैं। आपके लक्ष्य ज़्यादा दूर तक देखने में आपकी मदद करेंगे और आपके पास ज़्यादा भविष्यदृष्टि तथा खुद में ज़्यादा विश्वास होगा। आपके लक्ष्य सिर्फ़ निशाना लगाने के लिए ही नहीं हैं; आपके लक्ष्य आपको बता देंगे कि आप क्या कुछ कर सकते हैं।

हममें से कई लोग अपनी जिन्दगी के साल यह जाने बिना ही गुज़ार देते हैं कि हम सचमुच किस चीज़ में सक्षम है। चूँकि हमें औसत से ज़्यादा प्रदर्शन नहीं करना होता है, इसलिए इसे तर्कसंगत साबित करना आसान होता है कि हम अब तक जैसे थे, उससे बेहतर नहीं है और बात को जाने दें। लेकिन जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आप ज़्यादा सपने देखना शुरू करते हैं, सकारात्मक, स्वस्थ क़िस्म के स्वप्न जो आपको दिखाते हैं कि आप क्या कर सकते हैं - और आप अपने भीतर छिपी

अधिक संभावना को देख लेते हैं।

एक सकारात्मक कीमत है, जो इतनी सारी संभावनाओं से भरे इस अद्‌भुत चित्र को हासिल करने से जुड़ी हुई है; इसके लिए आवश्यक है कि आपका वास्तविक रूप आगे आए और पुरस्कार अर्जित करे - और इसमें पहले के मुकाबले ज़्यादा गुणों या योग्यताओं या प्रतिभाओं के इस्तेमाल की ज़रूरत हो सकती है। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आप अपने स्वरूप के बेहतर हिस्सों का आह्वान करते हैं। जब आपका समूचा स्वरूप जीवंत हो जाता है, तो आप बेहतर व्यक्ति बन जाते हैं। आप इसे कर रहे हैं! आप इसके पीछे जा रहे हैं। आप संजीव हैं! यह हर चीज़ में दिखता है, जो आप करते हैं! जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आप अपनी अधिक संभावना को पहचानते हैं और अपने में सर्वश्रेष्ठ को उजागर करते हैं। आपके लक्ष्य इस बात का अग्रिम चित्र हैं कि आपका वास्तविक स्वरूप जीवित किया जा रहा है।

6. लक्ष्य आपके जीवन में सकारात्मकता लाते हैं!

कोई भी असफल होने का लक्ष्य नहीं बनाता है। अच्छे लक्ष्य हमेशा बेहतर बनने के लिए बनाए जाते हैं! इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि हमारे सारे लक्ष्य हमारे भविष्य में ज़्यादा सकारात्मक बातें लाने से संबंधित हों। हमारे जीवन में कितनी स्वस्थ, ऊपर उठाने वाली वृद्धि!

यदि आप अपने नज़रिये को तुरंत ऊपर उठाना चाहते हों, तो एक लक्ष्य तय कर लें! अगर आप भविष्य के बारे में बेहतर महसूस करना चाहते हैं और ईमानदारी से महसूस करना चाहते हैं कि आप सर्वश्रेष्ठ की अपेक्षा कर सकते हैं - तो एक लक्ष्य तय कर लें। **(जो लोग लक्ष्य तय करते हैं, वे ज्यादा सकारात्मक होते हैं। जो लोग सकारात्मक होते हैं, वे ज्यादा लक्ष्य तय करते हैं।)**

हमारे चारों ओर - और अक्सर हमारे पुराने प्रोग्रामों में भी - पर्याप्त नकारात्मकता है, जिससे लगभग कोई भी जीवन के सौन्दर्य और गुणवत्ता में विश्वास करने से रुक सकता है। लेकिन यह वहाँ है। आपको तो बस इसे खोजना भर है। आपको इसे अपने पास तक लाना भर है। जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आप यही करते हैं। आप अच्छाई को अन्दर आमंत्रित करते हैं- और अच्छाई अपने दोस्तों को भी साथ ले आती है।

असल जादू

सक्रिय लक्ष्य-निर्धारण में असल जादू यह है कि यह सकारात्मक क्रांतिकारी खोज शक्तिशाली, आंतरिक संसाधनों की एक टीम को साथ ले आती है - और उन सभी से आपकी ख़ातिर काम कराती है। आपके सपनों और इच्छाओं से लेकर आपके अचेतन विकल्प-चयन और आपकी छिपी हुई प्रतिभाएँ तक शामिल हो जाती है। जब आप लक्ष्य तय करते हैं, तो आप अपनी आत्मा की ऊर्जा का दोहन करते हैं और निजी-विश्वास का समर्थन हासिल करते हैं। आप खुद को अनुसरण के लिए एक राह देते हैं और हर क़दम उठाने के लिए एक दिशा देते हैं।

यदि आप चाहते हैं कि आपका जीवन बेहतर बने, तो लक्ष्य तय करने का विकल्प चुनें - और उन्हें सही त़रीके से तय करें। हम यहाँ सक्रिय लक्ष्य-निर्धारण की जिस अनूठी पद्धति का इस्तेमाल कर रहे हैं, उससे आपको जो सकारात्मक परिणाम मिलते हैं, वे चमत्कार की तरह लगते हैं - लेकिन यह बात अच्छी तरह जान लें कि वे संयोग नहीं है।

जब आप लक्ष्य तक पहुँच जाएँ, तो खुद को पुरस्कार दें - और पूरे रास्ते खुद को पुरस्कार देते रहें

हममें से ज़्यादातर को यह नहीं सिखाया गया था कि हम अपनी उपलब्धियों पर खुद को पुरस्कार दें। अक्सर, हमारे माता-पिता को यह सिखाया गया था कि अपनी सफलता की ''डींग'' हाँकना बुरी बात है और उन्होंने अपना यह प्रोग्राम हमें सौंप दिया था। हमसे यह अपेक्षा की जाती थी कि हम तब तक इंतज़ार करें, जब तक कि कोई दूसरा हमें पुरस्कार देने का निर्णय न ले। इसलिए यह एक ऐसा क़दम है, जिसका आपको तब तक अभ्यास करना पड़ सकता है, जब तक कि आप इसे सही न कर लें।

मुझे वयस्क बनने के बाद खुद को सिखाना पड़ा था कि अपने काम के लिए पुरस्कार कैसे स्वीकार करूँ - ख़ास तौर पर खुद से। मैं यह विश्वास करते हुए बड़ा हुआ था कि पुरस्कार दूसरों के लिए थे, और हमारी खुद की उपलब्धियाँ विनम्रता भरी ख़ामोशी में छिपाकर रखना चाहिए। इसलिए जब मैंने पहली बार खुद को एक

छोटा उपहार दिया - किसी ऐसी चीज़ के लिए जिस पर मुझे गर्व था - तो मुझे अहसास हुआ कि इसका आदी होने के लिए मुझे मेहनत करनी होगी। खुशी-खुशी मैंने यह काम कर लिया।

एक शक्तिशाली प्रोत्साहन

जब आप कोई मुश्किल क़दम पूरा कर लेते हैं या लक्ष्य की राह में किसी महत्त्वपूर्ण मानदंड तक पहुँच जाते हैं, तो आप हैरान हो सकते हैं कि एक छोटा पुरस्कार भी कितना प्रभावी हो सकता है। मैंने अक्सर यह अपने लिए किया है और मुझे इससे बहुत शक्तिशाली प्रोत्साहन मिला है। लक्ष्यों और प्रोत्साहन के बारे में लिखते समय भी मैंने पाया कि खुद को पुरस्कार देने से दरअसल मुझे प्रेरणा मिलती है, जब किसी पुस्तक का कोई मुश्किल हिस्सा या अध्याय पूरा करने की बात आती है।

कल्पना करें कि खुद पर पुरस्कारों को आज़माकर आप कितने मज़े कर सकते हैं। आपके स्व-पुरस्कार कुछ भी हो सकते हैं, जो आप चाहें - फ़िल्म, डिनर, खुद के लिए ख़ाली समय, कपड़े, खिलौने और इलेक्ट्रॉनिक यंत्र, कहीं की सैर, मसाज, किसी पुराने मित्र को फोन करना, एक पुस्तक जिसे ख़रीदना आप टाल रहे हैं, एक नई कार..आपका पुरस्कार कोई भी चीज़ हो सकती है, जिसकी आप कल्पना कर सकते हैं कि आप उसे पंसद करेंगे और आप उसका खर्च उठा सकते हैं - लेकिन आप इसके अलावा शायद उसे खुद को नहीं देंगे। (वह कौन सी चीज है जो आप खुद को दे सकते हैं, जिसे आप सचमुच पाना चाहेंगे?)

खुद को एक उपहार देना-और इससे बहुत ज्यादा देना!

अपने पुरस्कारों की योजना पहले से बना लें। आसानी से और बार-बार खुद से कहें, ''जब मैं यह कर लूँगा, तो मैं खुद को...का पुरस्कार देने वाला हूँ'' और फिर ख़ाली स्थान को भर लें। यहाँ कोई भी चीज़ लिख लें, जो आप चाहते हों और जो आप खुद को दे सकते हों। जब आप लक्ष्य तक पहुँच जाएँ - तो खुद को पुरस्कार दे दें। (याद रखें आपको कैसा महसूस हुआ था, जब अभिभावक या किसी दूसरे ने आपसे किसी चीज़ का वादा किया था और फिर अपना वादा पूरा नहीं किया

था? जब आप कहते हैं कि आप ख़ुद को एक पुरसकार देंगे, तो उसे अवश्य दें।)

स्व-पुरस्कारों के बारे में याद रखने वाला आख़िरी बिन्दु यह है कि आपको इस बात पर भरोसा नहीं होना चाहिए कि लक्ष्य की पूर्णता अपने आप में पुरस्कार होगी। आपने जिस सफलता के लिए कड़ी मेहनत की है, वह अपने आप में पुरस्कारदायक हो सकती है। लेकिन कभी-कभार हम सभी रास्ते में पीठ थपथपाने और ''बधाई!'' सुनने में अच्छा महसूस कर सकते हैं - भले ही यह हम खुद ही क्यों न कर रहे हों?

इसी समय खुद को पुरस्कार देने की योजनाएँ बनाएँ, भले ही आपने अतीत में ऐसा ज़्यादा बार न किया हो। इससे ज़्यादा स्वस्थ चीज़ें बहुत कम हैं, जो आप कर सकते हैं। जब आप खुद को पुरस्कार देने का समय निकालते हैं, तो आप दरअसल बहुत से काम कर रहे हैं। आप खुद को आगे बढ़ते रहने का ज़्यादा प्रोत्साहन दे रहे हैं; आप खुद को यह यह पहचानने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं कि आप प्रगति कर रहे हैं; आप खुद को यह जानने दे रहे हैं कि आपको खुद पर विश्वास है और आप अपनी परवाह करते हैं; आप अपने आत्म-गौरव में महत्त्वपूर्ण वृद्धि कर रहे हैं - और आपको पुरस्कार का आनंद मिलता हैं! यह सब उस छोटे पुरस्कार की देन है, जो आप खुद को देते हैं।

(तो फिर यह बताएँ...यह पुस्तक पूरी करने पर आप खुद को क्या पुरस्कार देने वाले हैं? किसी अच्छी चीज़ के बारे में सोचें।)

आप वासतव में कौन हैं और क्या चाहते हैं?

त्वरित समीक्षा

त्वरित समीक्षा के लिए यहाँ ''सक्रिय लक्ष्य-निर्धारण'' के आठ क़दम बताए जा रहे हैं, ताकि आप आसानी से किसी भी समय उनकी समीक्षा कर सकें।

कदम 1 - लक्ष्य पहचानें

कदम 2 - इसे लिख लें।

कदम 3 - उस तारीख़ को लिख लें, जब आप लक्ष्य पर पहुँचने वाले हैं।

कदम 4 - लक्ष्य तक पहुँचने की बाधाओं की सूची बनाएँ।

कदम 5 - हर बाधा को दूर करने के कार्य क़दम लिखें, जिन्हें आप उठाने वाले हैं और उनकी तारीख़ भी लिखें।

कदम 6 - अपने ''केन्द्रीय'' लक्ष्यों को प्राथमिकता के क्रम में जमाएँ।

कदम 7 - एक निर्धारित समय पर (हर सप्ताह आदर्श रहेगा) अपनी लक्ष्य योजना की समीक्षा और निगरानी करें।

कदम 8 - जब आप लक्ष्य हासिल कर लें, तो ख़ुद को पुरस्कार दें - और रास्ते में भी खुद को पुरस्कार देते रहे।

जैसा कि आप देख सकते हैं, इनमें से कोई भी क़दम मुश्किल नहीं है। ये तो बस सरल क़दम है। लेकिन अग़र आप चाहते हैं कि आप लक्ष्य तय करें और सही तय करें, तो यही सही क़दम हैं, जिनसे आपको गुज़रना होगा।

(आप वास्तव में कौन हैं और क्या चाहते हैं? शैड हेलम्सटेरर पी.एचडी.)

छठी इंद्री विज्ञान है या मनोविज्ञान?

धर्म और विज्ञान दोनों ही छठी इंद्री के अस्तित्व को स्वीकारते हैं, लेकिन दोनों के स्वीकारने का तरीका थोड़ा अलग-अलग

छठी इंद्री जिसे अंग्रेजी में सिक्स्थ सेंस कहते हैं, उसको लेकर दुनिया में लोगों की धारणा तेजी से बंटती जा रही है। कुछ लोग जहाँ इसे बकायदा विज्ञान मानने की वकालत कर रहे हैं, वही कुछ लोग इसे कभी-कभी धोखे से लग जाने वाले तुक्के से ज्यादा अहमितयत नहीं देना चाहते। सवाल है आखिर सही कौन हैं? चूँकि आज का जमाना तर्क का जमाना है। इसलिए स्वाभाविक है कि अगर कोई बात हम बिना तर्क कहेंगे फिर चाहे वह छठी इंद्री से संबंधित ही क्यों न हो, तो उसे तो लोग नकारेंगे ही। क्योंकि छठी इंद्री का मामला साक्ष्यों से ज्यादा जज्बातों से जुड़ा है। लेकिन विज्ञान मानता है कि जज्बात भी बेवजह नहीं होते। उनके पीछे भी कोई विज्ञान होता है। इससे तो यही ध्वनित होता है कि छठी इंद्री का वजूद पूरी तरह से विज्ञान ही है, लेकिन छठी इंद्री के तहत कुछ घटने के पहले होने वाला कोई आभास हमेशा सच निकले ऐसा भी तो नहीं होता।

किसे कहते हैं छठी इंद्रिय

सवाल है ऐसी स्थिति में अंतिम रूप से इसे क्या माना जाए? चलिए इस सवाल का संतोषजनक जवाब तलाशने की हम कोशिश करते हैं लेकिन उससे पहले आइये यह जान लें कि हम छठी इंद्रिय किसे कहते हैं? साथ ही कि शेष पाँच इंद्रियाँ कौनसी हैं और ये क्या करती हैं? वास्तव में धर्म और विज्ञान दोनों ही छठी इंद्री के अस्तित्व को स्वीकारते हैं। लेकिन दोनों के स्वीकार का तरीका थोड़ा अलग-अलग है। बहरहाल इस छठी इंद्री के अलावा इंसान में जो पाँच इंद्रिया होती हैं और जिनको लेकर किसी किस्म का मतभेद नहीं है वे हैं - नेत्र, नाक, जीभ, कान और त्वचा। जीभ से हमें स्वाद का एहसास होता है। नाक से हम सूँघ सकते हैं यानी हमें गंध का पता चलता है। आँखों से हम किसी को देख सकते हैं और उसे देखते हुए उसके बारे में बहुत कुछ जान सकते हैं। कान से सुन सकते हैं और जो कुछ सुन पा रहे हों या पाए हों, इसी के आधार पर उसका अनुमान लगा सकते हैं। जबकि त्वचा से हमें स्पर्श का बोध होता है।

क्या करती है यह

छठी इंद्री क्या है और दूसरी पाँच इन्द्रियों की तरह ये क्या करती हैं? दरअसल कुछ होने या घटने के पहले अगर हमें उसका एहसास हो जाता है चाहे फिर वह होनी हो या अनहोनी तो इस अहसास को छठी इंद्री का कमाल माना जाता है। कुल मिलाकर कहने की बात यह है कि छठी इंद्री हमें किसी घटना के पहले ही इसके घटने का संकेत दे देती है या इसका आभास करा देती है। इस प्रकार से समझें तो छठी इंद्री इंसान को एक किस्म से यह पुर्वाभास कराने का काम करती है। मगर सवाल है क्या ऐसे आभास या पूर्वाभास हर किसी को होते हैं? जवाब है नहीं। विज्ञान कहता है दुनिया में महज एक तिहाई लोगों को ही इस तरह का कोई आभास या पूर्वाभास होता है। लेकिन क्या अभ्यास से या कोशिश करके बाकी लोग भी यह हासिल कर सकते हैं? विज्ञान इसकी हामी नहीं भरता यानी वह मानकर चलता है कि किसी इंसान में ऐसी खूबी जन्मजात होती है।

जाग्रत कर सकते हैं

धर्म के मुताबिक, खासकर हिन्दू धर्म के मुताबिक कोई भी इंसान अपनी छठी इंद्री को जाग्रत कर सकता है। इसके लिए योग और प्राणायाम की प्रक्रियाँ सुझाई गयी है। अब आइये इस पर बात करते हैं कि पाँच इन्द्रियों की तरह इस छठी इंद्री का दृश्यमान स्वरूप क्या है? शरीर का वह कौन सा अंग है, जिसे छठी इंद्री के रूप में चिन्हित किया जा सकता है? विज्ञान को इसका पता नहीं है लेकिन धर्म को खासकर हिन्दू धर्म को इसका पता है। हिन्दू धर्म के मुताबिक इंसान के मस्तिष्क के भीतर कपाल है और कपाल के नीचे एक छिद्र है। इसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं। इसी ब्रह्मरंध्र से सुषुम्ना नाड़ी, रीढ़ से होती हुई मूलाधार तक गई है। सुषुम्ना नाड़ी जुड़ी है सहस्त्रकार से। इस जगह इड़ा नाड़ी शरीर के बायीं तरफ स्थित है तथा पिंगला नाड़ी दायीं तरफ। इन्हीं दोनों के बीच स्थित है वह बहुप्रतीक्षित छठी इंद्री। लेकिन विज्ञान छठी इंद्री को इस तरह से चिन्हित नहीं करता है या कर पाता है।

सुप्तावस्था में होती है

हिन्दू धर्म के हिसाब से सभी में छठी इंद्री होती है लेकिन वह सुप्तावस्था में होती है। सवाल है इसे जाग्रत कैसे किया जाए? हिन्दू धर्म के मुताबिक सिक्स्थ सेंस को जाग्रत करने के लिए वेद, उपनिषद आदि हिन्दू ग्रंथों में अनेक उपाय बताए गए हैं जो वास्तव में योग और ध्यान के रास्ते हैं। सवाल है कि इसे जाग्रत करके होता क्या है? जवाब है इससे व्यक्ति में भविष्य में झांकने की क्षमता का विकास हो जाता है। यही नहीं इससे दावों के मुताबिक अतीत में जाकर घटना की सच्चाई का पता भी लगाया जा सकता है। किसी की सिक्स्थ सेंस जगी हो तो फिर वह लाखों मील बैठे किसी दूसरे इंसान की बातें सुन सकता हैं। इसकी बदौलत हम अपने सामने खड़े व्यक्ति के दिल में क्या उथल-पुथल चल रही है, इसका शब्दशः पता लगा सकते हैं। एक ही जगह बैठे हुए दुनिया की किसी भी जगह की जानकारी पलभर में ही हासिल कर सकते हैं। माना जाता है कि छठी इंद्री प्राप्त व्यक्ति से कुछ भी छिपा नहीं रह सकता है, वह त्रिकालज्ञ हो जाता है। कहने का मतलब स्क्स्थ सेंस के जाग्रत होते ही शारीरिक क्षमताओं का जबर्दस्त विकास हो जाता है।

विज्ञान नहीं मानता है

लेकिन विज्ञान इन सब बातों को नहीं मानता है, न ही इनकी पुष्टि करता है। सवाल है आखिर छठी इंद्री के संबंध में विज्ञान क्या मानता है? विज्ञान के मुताबिक हमारा मस्तिष्क एक बेहद उन्नत और जटिल मशीन है। वह हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी की तमाम तरह की जानकारियो को जरूरत के मुताबिक काटता-छांटता रहता है और उन्हें याददाश्त के अलग-अलग तहखानों में जमा करता रहता है। वास्तव में हमारा मस्तिष्क किसी कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर की तरह काम करता है। वह हमेशा मौजूदा हालात और याददाश्त के तहखानों में जमा पुरानी जानकारियों की आपस में तुलना करता रहता है। जब भी कोई ऐसा प्वॉइंट पकड़ में आता है, जो उसे समझ में न आ रहा हो तो उसे खतरा महसूस होता है। वह पुराने अनुभवों के आधार पर तुरन्त एक एलर्ट मैसेज जारी करता है।

आध्यात्मिक साधक होते हैं महान्

(श्रेष्ठता अनुभव करने का भाव एवं व्यवहार)

(मैं भी महान् धन्य हूँ क्योंकि मैं भी शुद्धात्मा साधक (सेवक) हूँ!)

(राग : 1. शत-शत वन्दन....2. इतनी शक्ति हमें....)

जैन धर्म है जीव धर्म, जो आत्मा का निज स्वभाव।
वस्तु स्वरूप जो अनादि अनन्त/(अविनाशी), सर्वोदय कारण स्वरूप।।...स्थायी
सत्य विश्वास यह आत्म विश्वास से, जीव प्राथमिक जैनी बनता।
सम्यक् ज्ञान व चारित्र द्वारा, आत्मिक-विकास क्रमशः करता।।
क्रोध मान माया मोह से, क्रमशः विमुक्त होता जाता।
अन्तः में सर्व कर्मक्षय से, शाश्वतिक मोक्ष सुख (को) पाता।।1।।.....
मोक्ष ही जीव का (निज)/शुद्ध स्वभाव, जो है स्वधर्म स्वरूप।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, अमृतमय/(अजरामर) स्वरूप।।
ऐसे जीव ही सर्वश्रेष्ठ (हैं), जो मोक्ष सुख को पाते हैं।
मोक्षपथ के पथिक जो हैं, वे भी श्रेष्ठता को पाते हैं।।2।।.....

मोक्षपथ के गामी जीव, दरिद्र भी महान् होता।
चक्रवर्ती भी महान् न होता, जो मोक्षपथ से रहित/(विमुख) होता।।
मैं भी स्वयं को धन्य मानता (हूँ), मोक्षपथ के पथिक हूँ।
ख्याति पूजा लाभ ममत्व त्यागकर, समता शान्ति के पथिक हूँ।।3।।....
आत्मा परमात्मा का ज्ञान भी करता, (हूँ), देश विदेशों के दर्शन भी।
भैतिक विज्ञान व मनोविज्ञान सह, संविधान व कानून भी।।
पारिस्थितिकी व पर्यावरण-सुरक्षा, तनमन-स्वास्थ्य व विश्व-शान्ति।।4।।....
सापेक्ष सिद्धान्त व जिनोम थ्योरी, एकीकृत सिद्धान्त व विकासवाद।
इससे मुझे अनुभव हुआ, आत्मिक संस्कृति के पीछे ये वाद।।
यह सब ज्ञान तथा विज्ञान, भारतीय संस्कृति सम न महान्।
यह सब भौतिक लौकिक ज्ञान, इससे न मिलता है आत्मिक ज्ञान।।5।।....
आत्मिक ज्ञान विकास बिना, मुझे न मिलेगा शाश्वत सुख।
शाश्वत सुख के मैं हूँ साधक, अतएव मैं हूँ अति महान्।।
भौतिकवादी क्या जानेगा इसे, क्या मानेगा आत्म संस्कृति।
भैतिक इन्द्रिय यंत्र न कभी, जान पायेंगे आत्म-संस्कृति।।6।।....
मैं भी आधुनिक युग का व्यक्ति, मैं भी जानता हूँ आधुनिक ज्ञान।
तो भी मेरा लक्ष्य न भौतिक, मेरा लक्ष्य तो आत्मकल्याण।।
भैतिकता के कारण आज, मानव करता है विविध पाप।
इस युग के मैं भी मानव, मैं करता हूँ आत्मा को पाक।।7।।.....
इसलिए मैं भौतिकवादी, ज्ञानी विज्ञानी से अति/(श्रेष्ठ) महान्।
तथा ही सत्ता सम्पत्ति वाला, प्रसिद्धि वाला से ज्येष्ठ महान्।।
आध्यात्मिक संत स्वयं को कभी, न मानता है दीन व हीन।
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री से, किसे न माने श्रेष्ठ महान्।।8।।....
इसलिए तो राजा महाराजा, चक्रवर्ती भी बने हैं साधु।
चक्रवर्ती भी वन्दना करते, विश्व पूजनीय होते हैं साधु।।
उत्तम स्वात्म चिन्तक है, मोह चिन्तक है मध्यमा।

अधक काम चिन्तक है, परचिन्तक अधमा ही अधमा।।9।।....
मैं हूँ स्वात्म चिन्तक सदा, हर क्षण हर ज्ञान में।
मैं अन्य से श्रेष्ठ चिन्तक, जो चिन्ता करे अन्य/(पर/जड़) से/(में)।।
किसी से राग-द्वेष न मैं करता, न किसी से पक्ष पात भी करता।
किसे भी अपना-पराया न मानता, विश्व कुटुम्ब का भाव धरता।।10।।....
ख्याति पूजा लाभ न चाहता, संक्लेश-चिन्ता नहीं करता।
ज्ञान-वैरागय चिन्तन में रहता, आत्मशुद्धि की साधना करता।।
परिशोधन का भाव तो होता, करता नहीं प्रतिशोध का भाव।
परोपकार का भाव तो करता, करता नहीं हूँ अपकार भाव।।11।।.....
संकीर्ण स्वार्थ का भाव न रखता, रखता हूँ आत्मिक-स्वार्थ का भाव।
छिन्द्रानुवेषण भाव न रखता, रखता हूँ गुणदोष शिक्षा का भाव।।
ऐसा ही हर आध्यात्मिक संत, करते हैं भाव व्यवहार में।
'कनकनन्दी' भी शुद्धात्मा साधक/(सेवक), भाव तथा व्यवहार में।।12।।....

विजयनगर, 15-8-2012, मध्याह्न-1.15

(यह कविता मुनि श्री सुविज्ञसागर की भावना से बनी।)

''समता में सुख तथा विषमता में दुःख''

(रागः किसी की आँखों का काजल.....)
समता में ही है सुख....मैं अनुभव करता हूँ।
विषमता में है दुःख....मैं अनुभव करता हूँ।
सर्वज्ञ ने है कहा....आचार्यों ने भी गाया।
अनुभव में भी आता....सत्य-तथ्य है ये गाथा....।।।-ध्रु.-।।
ख्याति-पूजा-लाभ....जन्म-मरण रोगों में।
शत्रु-मित्र-धन में....प्रशंसा व निन्दा में।
जय या पराजय में....संयोग व वियोग में।
जो समता में है रहता....वह सन्तोष सुख पाता।। (1) अनुभव में भी....
इसीलिये ही राजा-महाराजा....सेठ-साहुकार या प्रजा।

चक्रवर्ती या कामदेव....सर्वत्यागी बने मुनिराजा।
गृहस्थ में जो होता कार्य....व्यापार कर्म/(सेवा) या राजकार्य।
उसमें नहीं है पूर्ण समता....दुःखजनक है विषमता।। (2) अनुभव में भी....
साधु बनने के वे अनन्तर....त्याग करते गृह व्यापार।
ख्याति-पूजा धन-जन-लोभ....त्याग हैं करते संसार प्रलोभ।
समता से आत्मशुद्धि करते....ममता मोह से दूर रहते।
मन्यमाना काम न करते....पर का मन न दुःखाते।। (3) अनुभव में भी....
दूसरों के मत से न चलते....मन्यमाना भी नहीं मानते/(चलते)।
सत्य समता से साधना करते....आत्मिक शान्ति को वे पाते।
अन्त में मोक्ष को वे पाते....सच्चिदानन्दमय हो जाते।
इस आदर्श को जो पाले....वह भी सुखी हो जाता।। (4) अनुभव में भी....
राजा-महाराजा या प्रजा....गृहस्थ विद्वान् या मुनिराजा।
जो समता से रहित होता....संक्लेश दुःख को भोगता।
जितने अंश में समता होती....उतने अंश में शान्ति मिलती।
समता साधना मेरी नीति....'कनक' को मिले शान्ति।। (5) अनुभव में भी....
जो साधु-साध्वी होकर भी....ख्याति-लाभ को चाहते हैं।
वे त्यागी गृहस्थ जनों के....अनुकूल भी चलते हैं।
उससे भी विषमता होती....राग-द्वेष/(दैन्य भाव) की वृद्धि होती।
पाप बन्ध भी होता है....मोक्ष सुख न मिलता है।। (6) अनुभव में भी....
जिसकी जो इच्छा होती है....वह उस इच्छा का दास है होता।
उस प्रभु के अनुसार ही तो....वह दास काम है करता।
इच्छा निरोध ही तप है होता....तप से ही तपस्वी है होता।
सच्चा तपस्वी ही है पाता....आत्मिक सुख-शान्ति।। (7) अनुभव में भी....

विजयनगर-1.8.2012
सायंकाल-6.25 रात्रि-9:35

अप्रमत्तविरत गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.	नाम	भेद	अप्रमत्तविरत
१.	गुणस्थान	१४	१ अप्रमत्तविरत गुणस्थान
२.	जीवसमास	१४	१ संज्ञी पर्याप्त
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१०
५.	संज्ञा	४	३ (भय, मैथुन, परिग्रह)
६.	गति	४	१ मनुष्य
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	९ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+१ औदारिक काययोग)
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	१३ (४ संज्वलन + ९ नोकषाय)
१२.	ज्ञान	८	४ (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय)
१३.	संयम	७	३ (सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि)
१४.	दर्शन	४	३ (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
१५.	लेश्या	६	३ (पीत, पद्म, शुक्ल)
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	३ (उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक)
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	१ आहारक
२०.	उपयोग	१२	७ (४ ज्ञान + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	४ धर्मध्यान
२२.	आस्रव	५७	२२ (१३ कषाय + ९ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	१४ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२	२२ लाख कोटि

समाधि मरण से स्वर्ग-मोक्ष-प्रयाण

(चाल:-1.छिप गया कोई रे...2.आत्मशक्ति...3.क्या मिलिये...4.सायोनारा....5. देहाची तिजोरी (मराठी))

समाधि मरण महान् पुण्यशाली करते,
समाधि मरण से वे स्वर्ग मोक्ष पाते।
आत्म में लीन होकर आत्म शुद्धि करते,
जिससे वे स्वर्ग से ले मोक्षतक पाते।। (1)

इसे ही कहते सल्लेखना या संन्यास मरण,
कषायों को क्षीण करना सल्लेखना-मरण।
अनात्मा को त्यागकर मरणा संन्यास मरण,
अनात्मा राग-द्वेष मोहादि विकार परिणाम।। (2)

बद्धयमान आयुकर्म नाश से होता तद्भव मरण,
ऐसे मरण से मरते सभी संसारी जीवगण।
ऐसा मरण से न मिलते स्वर्ग से परिनिर्वाण,
केवल शरीर क्षीण से न होता समाधि मरण।। (3)

समाधि मरण हेतु चाहिये राग द्वेष मोह (क्षीण) मुक्त,
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा से होना होगा मुक्त।
काम क्रोध मद माया को करना होगा नाश,
संकल्प-विकल्प-संक्लेश को करना होगा नाश।। (4)

भाई-बन्धु कुटुम्ब से न हो राग मोह,
विरोधी जीवों से भी न हो द्वेष क्षोभ।
किसी भी परिग्रह में न हो कुछ भी ममत्व,
जीवन-मरण प्रति न हो किंचित् चिन्तित।। (5)

ख्याति पूजा लाभ व सत्कार-पुरस्कार,
पर निन्दा-अपमान का न हो कुछ भी विचार।
भोगाकांक्षा निदान से रहित हो चित्त,

स्व शुद्धात्मा चिन्तन में ही हो दत्तचित्त।। (6)

ध्यान-अध्ययन तथा मनन-चिन्तन,
क्षमा-सहिष्णुता व समता-पावन।
आत्मलीनता से हो आत्मविशुद्धि परम,
ऐसी अवस्था में मरण ही समाधि मरण।। (7)

चरम शरीरी तो क्षपक श्रेणी आरोहण द्वारा,
सर्व कर्म सह शरीर के भी नाश द्वारा।
बनते अनन्त गुणधारी शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध,
अचरम शरीरी बनते स्वर्ग में महर्द्धिक देव।। (8)

स्वर्ग से च्युत हो बनते वे महामानव,
श्रमण बनकर पाते अन्त में परिनिर्वाण।
अतएव समाधि मरण है परम धर्म,
समाधि मरण से 'कनक' चाहे परिनिर्वाण।। (9)

साधु के समाधिमरण से पातक न लगता,
गृहस्थ के संन्यास मरण से एक दिन का पातक।
अन्य के मरण से लगता अधिक पातक,
पापी व आत्महत्या से अत्यधिक पातक।। (10)

सागवाडा-दि.12-07-2018 रात्रि 11.04

(प्रवीणचन्द्र शाह नन्दौड़ (कलीकाल श्रेयांस) के त्याग पूर्वक-शान्ति सहित सेचत अवस्था में आत्म संबोधन ससंघ द्वारा सुनते हुए आँख और मुख खोलते हुए समाधि मरण 1.00 घंटे में हुआ। इसके उपलक्ष्य में यह कविता बनी। इन्होंने 2015 को हमारे ससंघ शान्तिपूर्ण चातुर्मास कराया था तथा 2018, 2019, 2020 चातुर्मास हेतु निवेदन व व्यवस्था करते रहे। इस पुण्य का फल शान्तिपूर्ण संन्यास मरण हुआ तथा उच्चगति में गये। हमारे संघ के चातुर्मास सीमा रहित करने की उनकी भावना व निवेदन रहा।)

मेंटल हैल्थ केयर अधिनियम-2017 में प्रावधान

अब सुसाइड अपराध नहीं, मानसिक बीमार भी करा सकेंगे हैल्थ इंश्योरेन्स

अब मानसिक बीमार भी अपना मेडिकल इंश्योरेन्स करा सकेंगे। इसके अलावा आत्महत्या को अब मानसिक बीमारी माना जाएगा और ऐसा करने वाले व्यक्ति को आपराधिक श्रेणी में नहीं रखा जाएगा। मेंटल हैल्थ केयर अधिनियम-2017 में यह प्रावधान किए गए हैं। इस अधिनियम की प्रदेश में पालना अनिवार्य कर दी गई है। इसके लिए बुधवार को राज्य मेंटल हैल्थ केयर अथॉरिटी का गठन भी कर दिया गया। अभी तक मानसिक रोगियों के लिए मेडिकल इंश्योरेन्स की सुविधा नहीं थी। अभी तक मानसिक मरीजों और परिजनों को इलाज के लिए परेशान होना पड़ता था। लेकिन अब मरीजों को भर्ती करने और इलाज की जिम्मेदारी तय होगी। मरीज को भर्ती करने से पहले उसकी या परिजनों की लिखित अनुमति लेनी होगी।

जिला स्तर पर भी बनेगी अथॉरिटी

एनएचएम के अतिरिक्त निर्देशक डॉ. आरुषि मलिक ने बताया कि जिला स्तर पर भी अथॉरिटी बनाई जाएगी, ताकि वहाँ मरीजों का रजिस्ट्रेशन किया जा सके। डॉ. मलिक ने बताया कि काफी रिसर्च और जानकारियों के बाद यह तय किया गया है कि आत्महत्या मानसिक बीमारी के रूप में मानी जाएगी। ऐसे व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जा सकता। इसलिए नियम में परिवर्तन किया गया है।

यहाँ तक कि यदि कोई संस्थान बिना रजिस्ट्रेशन मरीजों को भर्ती करता है तो उसके खिलाफ एफआईआर तक दर्ज होगी। पिछले काफी समय से मरीजों और परिजनों की शिकायतें आ रही थी और उन्हीं को आधार मानते हुए अधिनियम-1985 में बदलाव किया गया है।

समाधि के योग्य परिस्थिति

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। र. श्रा.

उपद्रव को उपसर्ग कहते हैं। यह तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होने से चार प्रकार का होता है। जिसमें अन्न की कमी होने से भिक्षा का मिलना भी कठिन हो जाता है, उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। वृद्धावस्था के कारण जिसमें शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं, और उपस्थित हुए रोग को रूजा कहते हैं। जब ये चारों वस्तुएँ इस रूप में उपस्थित हो कि उनका प्रतिकार ही न किया जा सके तब रत्नत्रय रूपी धर्म की आराधना के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। स्वपर के प्राणघात के लिये जो शरीरत्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः।।3
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम्।।4

उपकारक वस्तु में जो प्रीति का संस्कार होता है उसे स्नेह कहते हैं। अनुपकारक वस्तु में द्वेष का संस्कार होता है उसे वैर कहते हैं। स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, इस प्रकार के 'ममेदं' भाव को सङ्ग कहते हैं। बाह्य और अन्तरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है। सल्लेखना धारण करने के लिए उद्यत पुरूष इन सबको छोड़कर निर्मलचित्त होता हुआ मधुर वचनों के द्वारा स्वजन तथा परिजन दोनों को क्षमा करे और दोनों से अपने आपको क्षमा करावे। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है उसे कारित कहते हैं। और किसी दूसरों के द्वारा किए हुए पाप को जो मन से अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं। इन सभी पापों की निश्छलभाव से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतों को धारण करें।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः।।5

इष्ट का वियोग होने पर उसके गुणों का बार-बार चिन्तन करना शोक कहलाता है। क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा के निमित्त से जो डर होता है उसे भय कहते हैं अथवा

इहलोकभय, परलोकभय आदि के भेद से जो सात प्रकार का भय होता है वह भय कहलाता है। विषाद अथवा खेद को अवसाद कहते हैं। स्नेह को क्लेद कहते हैं। किसी विषय में राग-द्वेष की जो परिणति होती है उसे कालुष्य कहते हैं। अप्रसन्नता को अरति कहते हैं। सल्लेखना के करने में जो कायरता का अभाव है उसे सत्त्वोत्साह कहते हैं। सल्लेखना को धारण करने वाला पुरुष इन शोक आदि को छोड़कर शास्त्र रूपी अमृत के द्वारा मन को प्रसन्न रखे। यहाँ संसार सम्बन्धी दुःखों से उत्पन्न होने वाले संताप को दूर करने के कारण शास्त्र को अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सल्लेखना धारण करने वाला मनुष्य विकथाओं में समय न लगाकर स्वयं शास्त्र पढ़े अथवा दूसरे के मुख से पढ़वावें।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः।।6

सल्लेखना के समय आहारादि के छोड़ने का क्रम यह है कि पहले दाल, भात, रोटी और आहार को छोड़कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थों को ग्रहण करे। पश्चात् उसे भी छोड़कर खरपान-स्निग्धता रहित पेय पदार्थों का सेवन करे अर्थात् जिसमें से घी निकाला जा चुका है ऐसी छाँछ को ग्रहण करे और फिर उसे भी छोड़कर मात्र गर्म पानी को ग्रहण करे।

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन।।7

पश्चात् उस गर्म जल का भी त्याग कर अपनी शक्ति उल्लंघन न करता हुआ एक-दो-तीन आदि दिनों का उपवास करें। और अन्त में व्रत-संयम-चारित्र तथा ध्यान विषयक धारणा आदि सभी कार्यों में तत्पर रहता हुआ पञ्च नमस्कार मन्त्र की आराधना में अपना मन लगावे। अन्त में बड़ी सावधानी से शरीर का त्याग करे।

समाधि के अतिचार (दोष)

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचारः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः।।8

सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता, तो अच्छा होता यह जीविताशंसा नाम का अतिचार है। क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह मरणाशंसा नाम का अतिचार है। इहलोकभय और परलोकभय अपेक्षा भय के दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है, परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकार का भय होना इहलोकभय कहलाता है। और इस प्रकार के दुर्धर कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना परलोकभय है। बाल्य आदि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीड़ा की थी, ऐसे मित्रों को बार-बार स्मरण करना मित्रस्मृति नाम का अतिचार है। और आगामी भोग आदि की आकांक्षा रखना निदान नाम का अतिचार है।

समाधि के सुफल

निःश्रेयसम्भ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः।।9

सल्लेखना का फल मोक्ष तथा स्वर्गादिक का सुख प्राप्त करना है। मोक्ष को निःश्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदि के पद को अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद सुख के समुद्र स्वरूप है। अर्थात् निःश्रेयस आत्मोत्थ अनन्त सुख का समुद्र है और अहमिन्द्र आदि का पद रोग, शोक आदि से रहित होने के कारण सांसारिक सुख का उत्कृष्ट स्थान है। निःश्रेयस-मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्त से रहित है और अभ्युदय-अहमिन्द्र आदि का पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशाल काल से उनका अन्त प्राप्त होता है। इन दोनों फलों को प्राप्त होने वाला क्षपक पीतधर्मा होता है अर्थात् उत्तम क्षमादि रूप अथवा चारित्र रूप धर्म का पान करने वाला होता है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुखों से असंस्पृष्ट-अछूता रहता है।

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।।10

जो निर्वाण अर्थात् मोक्ष है वही निःश्रेयस है। वह जन्म, जरा, रोग और मरण से, शोक, दुःख और भयों से सर्वथा रहित है, शुद्ध आत्मोत्थ सुख से सहित है तथा

अविनाशी है। पर्यायान्तर की उत्पत्ति को जन्म कहते हैं, बुढ़ापे को जरा कहते हैं, रोग आमय कहलाते हैं तथा शरीरादिक का छूट जाना मरण कहलाता है। शोक, दुःख और भय से भी रहित होता है।

सल्लेखना के योग्य

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमघ अविचारं।
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे।।64।। भगवती आराधना

भक्त प्रत्याख्यान (समाधि) दो प्रकार का ही है। सविचार और अविचार। सविचार भक्त प्रत्याख्यान (समाधि) सहसा मरण के उपस्थित न होने पर पराक्रम अर्थात् साहस ओर बल से युक्त साधु को होता है।

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी।
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स।।70

जिसके दुष्प्रसाध्यव्याधि हो, अथवा श्रामण्य (साधुता) के सम्बन्ध को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो तब भक्त प्रत्याख्यान करने के योग्य है।

वृद्धावस्था की रचनात्मकता

माना जाता है कि बच्चे और वृद्ध के मस्तिष्क एक समान होते हैं। उनमें सोचने-समझने की क्षमता कम होने लगती है। वृद्धावस्था में मनुष्य का बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ शरीर कमजोर होने लगता है। इस अवस्था में मनुष्य कोई विशिष्ट रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस अवस्था में मस्तिष्क के सेल्स अति तीव्र गति से टूटने लगते हैं, जिससे कोई विशिष्ट रचनात्मक कार्य असंभव है, लेकिन संसार के कई वृद्ध व्यक्तियों ने बुढ़ापे के इस सच को झूठा साबित कर महान ग्रंथों की रचना कर डाली।

प्रसिद्ध विचारक हॉब्स ने 87 वर्ष की अवस्था में दो महान ग्रन्थों-'द ओडेसी' और 'द इलियड' का अनुवाद कर संसार को चकित कर दिया। जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक कांट ने 74 वर्ष की अवस्था में प्रसिद्ध ग्रंथ 'एन्थ्रोपोलॉजी' की रचना की।

चॉसर ने 61 वर्ष की अवस्था में 'केटरलरी टेल्स' जैसी महान् कृति की रचना की। महान् वैज्ञानिक एडीसन ने 67 वर्ष की अवस्था के बाद कई रासायनिक यंत्रों का निर्माण किया था। महान संगीतकार वर्डी ने 80 वर्ष की अवस्था में अपना महान् ओपरा 'फ़ाल्स्टाफ़' लिखा था। भारत के विद्वान लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 80 वर्ष की आयु में 'वयं रक्षामः' जैसे विशिष्ट ग्रंथ की रचना की। उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभा के आगे बुढ़ापा भी घुटना टेक देता है और वृद्धावस्था भी उनके मार्ग में अवरोध पैदा नहीं करती है।

(पुष्पेश कुमार पुष्प)

सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।। (45) गो.जी.

अर्थ : जब संज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है। इस ही लिये इस गुणस्थान को अप्रमत्त संयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं - एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त।

छट्ठे गुणस्थान में संयत का प्रमत्त विशेषण अन्त्यदीपक है। अतएव यहाँ तक के सभी गुणस्थान वाले जीव प्रमाद सहित हुआ करते हैं। और इससे ऊपर के गुणस्थान वाले सभी जीव प्रमाद रहित ही होते हैं। यही कारण है कि सातवें गुणस्थान का नाम अप्रमत्त संयत है।

प्रश्न हो सकता है कि जब ऊपर के यहाँ से आगे के सभी गुणस्थान संयत और अप्रमत्त हैं तब अप्रमत्तसंयत इस नाम से सभी गुणस्थानों का ग्रहण हो जायेगा, अतएव आठवें आदि गुणस्थानों के भिन्न-भिन्न नाम निर्देश की क्या आवश्यकता है? उत्तर-यद्यपि संज्वलन के तीव्र उदय के अभाव की अपेक्षा ऊपर के सभी गुणस्थान सामान्य रूप से अप्रमत्त हैं, फिर भी उन गुणस्थानों में होने वाले या पाये जाने वाले अन्य कार्यों का विशेषण रूप से उल्लेख करके उन उनका भिन्न-भिन्न नाम निर्देश किया गया है।

इस गुणस्थान में जब तक चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों के उपशमन तथा

क्षपण के कार्य का प्रारंभ नहीं होता, किन्तु संज्वलन के मन्दोदय के कारण प्रमाद भी नहीं होता, केवल सामान्य ध्यानावस्था रहती है, तब तक यह अवस्था निरतिशय अप्रमत्त कही जाती है। और जब इसी गुणस्थान वाला जीव उक्त प्रकृतियों का उपशमन या क्षपण करने के लिए उद्यत होता है तब उसकी सातिशय अप्रमत्त अवस्था हुआ करती है। इस तरह एक ही गुणस्थान की दो अवस्थाएँ हैं और ये दो अवस्थाएँ ही आगे की दोनों गाथाओं में स्पष्ट की गई हैं।

स्वस्थान प्रमत्त संयत का निरूपण-

णट्ठासेसपमादो, वयगुण सीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुबसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो।। (46)

अर्थ : जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान में तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

सातिशय अप्रमत्त का स्वरूप-

इगवीस मोहखबणुबसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो।। (47)

अर्थ : अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह बारह और नव हास्यादिक नोकषाय कुल मिलाकर मोहनीय कर्म की इन इक्कीस प्रकृतियों के उपशम या क्षय करने को आत्मा के ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं - अधःकरण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरण। उनमें से सातिशय अप्रमत्त अर्थात् जो श्रेणी चढ़ने के लिए सम्मुख या उद्यत हुआ है वह नियम से पहले अधःप्रवृत्त को करता है।

अधःप्रवृत्तकरण का लक्षण-

जह्मा उवरिमभावा, हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति।

तह्या पढमं करणं अधापवत्तोति णिद्दिट्ठं।। (48)

अर्थ : अधःप्रवृत्तकरण के काल में से ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों के सदृश-अर्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं, इसलिए प्रथम करण को अधःप्रवृत्तकरण कहा है।

अधःप्रवृत्तकरण के काल और उसमें होने वाले परिणामों का प्रमाण बताते हुए उनकी सदृश वृद्धि का निर्देश करते हैं।

अन्तोमुहुत्तमेत्तो तक्कोलो होदि तत्थ परिणामा।
लोगाणमसंखमिदा, उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया।। (49)

अर्थ : इस अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहुर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर-ऊपर सदृश वृद्धि को प्राप्त होते गये हैं। अर्थात् यह जीव चारित्र मोहनीय की शेष 21 प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणों को करता है। प्रत्येक भेद के परिणामों का प्रमाण असंख्यात लोक प्रमाण है। और उनमें जो उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वह समानता के लिए हुए होती है। इनमें से अधःकरण श्रेणी चढ़ने के सम्मुख सातिशय अप्रमत्त के होता है। और अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थान में होता है।

भावार्थ : करण नाम आत्मा के परिणामों का है। इन परिणामों में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है। जिसके बल से कर्मों का उपशम तथा क्षय और स्थितिखण्डन तथा अनुभाग खण्डन होते हैं। इन तीनों करणों का काल यद्यपि सामान्यलाप से अन्तर्मुहुर्त मात्र है, तथापि अधःकरण के काल के संख्यातवें भाग अपूर्वकरण का काल है, और अपूर्वकरण के काल से संख्यातवें भाग अनिवृत्तिकरण का काल है। अधःप्रवृत्तकरण के परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं। अपूर्वकरण के परिणाम अधःकरण के परिणामों से असंख्यातलोकगुणित हैं। और अनिवृत्तिकरण के परिणामों की संख्या उसके काल के समयों के समान हैं। अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम है।

अपूर्वकरण (8वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षायें

(अभूतपूर्व ज्ञान व भाव करने की शिक्षा)

(चाल : क्या मिलिये...) - आचार्य कनकनन्दी

अष्टम गुणस्थान का स्वरूप जानूँ, यथायोग्य इससे शिक्षा मैं लहूँ।
पंचमकाल में न होता यह गुणस्थान, केवल श्रद्धा-प्रज्ञा से शिक्षा मैं लहूँ।
(भावना भाऊँ)।। (1)

अपूर्वकरण होता है इसका नाम, अभूतपूर्व होता यहाँ शुद्ध परिणाम।
ऐसा परिणाम न होता निम्न गुण (स्थान) में, श्रेणी आरोहण होता इस कारण।। (2)

यहाँ से प्रारंभ प्रथम शुक्ल ध्यान, पृथक्त्व-सवितर्क व सविचार ध्यान।
यहाँ होते औपशमिक व क्षायिक भाव, भावानुसार होता श्रेणी आरोहण।। (3)

औपशमिक वाले चढ़ते हैं उपशम श्रेणी, क्षायिक वाले चढ़ते हैं क्षायिक श्रेणी।
क्षायिक वाले तद्भव में पाते मोक्ष, उपशम वालों का पतन निश्चय।।(4)

छठे गुणस्थान में जो पालते व्रत, सप्तम गुणस्थान में जो ध्यान में रत।
ऐसे महामुनि ही आरोहण करते श्रेणी, क्षपक श्रेणी वाले पाते हैं मुक्ति।। (5)

इनसे मुझे मिलती अनेक शिक्षायें, अपूर्व भाव-व्यवहार की शिक्षायें।
जो भाव नहीं भाया उसे मैं भाऊँ, भावित पूर्व भावना से आगे मैं बढ़ूँ।। (6)

विकास हेतु यह अनिवार्य तत्त्व, चलने-तैरने आदि में भी प्रयुक्त।
पीच्छे को त्यागने से आगे गमन, हर प्रकार गति (विकास) में यह नियम।। (7)

क्षपक वालों से मुझे मिलती शिक्षा, सम्पूर्णता से भाव शुद्ध की शिक्षा।
उपशमवालों से मुझे मिले शिक्षा, अपूर्णभाव न करने की शिक्षा।। (8)

यथाभाव मैं अपूर्व ही करूँ, तथा ज्ञान भी अपूर्व ही करूँ।
अपूर्वभाव का अपूर्वकरण नाम, अपूर्वज्ञान का अपूर्वार्थ नाम।।(9)

अन्यथा होता पिष्ट पोषण काम, विकास रहित स्थिरता/(जड़ता) काम।

इसमें उत्पादकता-नवीनता नहीं, स्थिर वायु-जल सम स्थिति होती।।(10)
''उत्तिष्ठ-जागृत-प्राप्य'' इसे कहते, ''चरैवैति-चरैवैति'' इसे मानते।
आत्म जागृति-आत्मप्रगति भी यह, आत्म क्रमविकास सिद्धान्त यह।। (11)
इससे ही मेरा होता सर्वोदय, परलोक में मुझे मिलेगा अभ्युदय।
परम्परा से मुझे मिलेगा निःश्रेयस, 'सूरी कनक' का यह परम लक्ष्य।। (12)

नन्दौड़ दि. 01.08.2018, रात्रि 08.57

अपूर्वकरण नाम का आठवाँ गुणस्थान

तं दुब्भेय पऊत्तं खवयं उवसामियं च णायव्वं।
खवए खवओ भावो उवसमए होइ उवसमओ।। 642, भाव

अर्थ : इस आठवें गुणस्थान के दो भेद है एक औपशमिक और दूसरा क्षायिक। क्षायिक अपूर्वकरण के क्षायिक भाव होते हैं। औपशमिक अपूर्वकरण के औपशमिक भाव होते हैं।

भावार्थ : सातवें गुणस्थान में ध्यान करने वाले मुनि सातवें गुण स्थान के अंत में दो प्रकार के मार्गों का अवलंबन करते हैं। एक क्षपक श्रेणी और दूसरा उपशम श्रेणी। जो क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं वे अपने कर्मों का क्षय करते जाते हैं और बारहवें गुणस्थान के अंत होने पर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि अपने ध्यान में कर्मों का क्षय नहीं करते किन्तु कर्मों का उपशम करते जाते हैं। तथा ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर उन कर्मों के उदय हो जाने पर नीचे के गुणस्थानों में आ जाते हैं। उपशम श्रेणी वाले के औपशमिक भाव ही होते हैं और क्षपक श्रेणी वालों के क्षायिक भाव ही होते हैं।

गुणस्थान में होने वाले ध्यान के भेद

खवएसु उबसमेसु य अपुव्वणामेसु हवइ तिपयारं।
सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्त सवियक्क सवियारं।।643।।

अर्थ : इस अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में पहला शुक्ल ध्यान होता है तथा उपशम श्रेणी वाले के और क्षपक श्रेणी वाले दोनों के ही पहला शुक्ल ध्यान होता है। वह शुक्ल ध्यान नियम से तीन प्रकार होता हैं पृथकत्व, सवितर्क और सविचार।

पृथकत्व का लक्षण

पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण।
तह्या पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिंदेहिं।।644

अर्थ : ध्यान करने वाले मुनि जिस ध्यान में पर्यायों को और द्रव्यों के गुणों को पृथक-पृथक जानते हैं उस ध्यान को मुनि राज सर्वज्ञ देव पृथकत्व नाम का ध्यान कहते हैं।

श्रुते चिंता वितर्कः स्याद्विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येत् त्रयात्मकम्।।

अर्थात् : श्रुत ज्ञान का चिंतवन करना वितर्क है। संक्रमण होना विचार है और अनेकत्व होना पृथक्त्व है इस प्रकार पहला शुक्ल ध्यान तीन प्रकार का होता है।

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं यति गुणाद्गुणांतरं व्रजेत्।
पर्यायादन्य पर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः।।

वितर्क का लक्षण

भणियं सुयं वियक्कं वहइ सह तेण तंखु अणवरयं।
तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो।।645

अर्थ : वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान सदाकाल श्रुत ज्ञान के साथ हो उस ध्यान को सवितर्क ध्यान कहते हैं।

सविचार का लक्षण

सुशुद्धात्मानुभृत्यात्मा भाव श्रुतावलम्बनात्।
अंतर्जल्पो वितर्कः स्याद यस्मिस्तु सवितर्कजम्।।
अर्थादर्थान्तरे शद्वाच्छद्वान्तरे च संक्रमः।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते।।

अर्थात् : एक द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य का चिंतवन करना, एक गुण को छोड़कर दूसरे गुण का चिंतवन करना और एक पर्याय छोड़कर दूसरे पर्याय का चिन्तवन करना पृथक्त्व कहलाता है जिस ध्यान में भाव का श्रुतज्ञान के आलम्बन से अत्यन्त शुद्ध आत्मा और शुद्ध अनुभूति स्वरूप आत्मा का स्वरूप आत्मा के ही

भीतर प्रतिभासमान होता हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं। वितर्क शद्वका अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान श्रुतज्ञान सहित हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं जो ध्यान एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में बदल जाए एक योग से होने वाला चिंतवन दूसरे योग में होने लगे उसको संक्रमण विचार कहते हैं। पहले शुक्ल ध्यान में ये तीनों बातें होती हैं इसलिये वह शुक्ल ध्यान पृथकत्व सवितर्क सविचार कहलाता है।

जोएहिं तीहिं वियरइ अक्खर अत्थेसु तेण सविचारं।
पढमं सुक्कज्झाण अतिक्ख परसोवमं भणियं।। 646

अर्थ : जिस ध्यान में चिंतवन किये हुए पदार्थ वा उसको करने वाले शब्दों का चिंतवन मन से वचन से काय से वा क्रम से अदल-बदल कर किया जाता हो कभी काय से चिंतवन किया जाता हो इस प्रकार जिसमें योग बदलते रहते हैं तथा पदार्थ और उनके वाचक शब्द भी बदलते रहते हो उसको सविचार ध्यान कहते हैं। योग पदार्थ और शब्दों का बदलना विचार कहलाता है तथा विचार सहित ध्यान को सविचार ध्यान कहते हैं। यह ध्यान कर्म रूपी वृक्ष को काटने के लये बिनाधार वले अतीक्ष्ण कुल्हाड़े के समान है जो देर से कर्मों का नाश करता है।

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्ख परसेण रुकव विच्छेए।
तह कम्माण य हणणे चिरकालो पढम सुक्कम्मि।। 647

अर्थ : जिस प्रकार किसी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी तीक्ष्ण न हो पत्थरी कुल्हाड़ी हो तो उस वृक्ष के काटने में बहुत देर लगती है उसी प्रकार इस प्रथम शुक्ल ध्यान में कर्मों का नाश करने में बहुत देर लग सकती है।

खइएण उवसमेण य कस्माणं जं अप्पुव्व परिणामो।
तम्हा तं गुणठाणं अपुव्वणामं तु तं भणियं।। 648

अर्थ : इस गुणस्थान में कर्मों का क्षय होने पर अथवा कर्मों का उपशम होने पर अपूर्व परिणाम होते रहते हैं जैसे शुद्ध परिणाम पहले कभी नहीं हुए थे वैसे अपूर्व परिणाम होते रहते हैं। इसलिये आचार्यों ने इस गुणस्थान का नाम अपूर्व करण गुणस्थान रखा।

अपूर्वकरण अष्टम गुणस्थान

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ।। (50) गो.जी.

अर्थ : जिसका अन्तर्मुहुर्त काल है, ऐसे अधःप्रवृत्तकरण को व्यतीत कर यह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है, तब उसको अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ : यहाँ विशुद्धि शब्द उपलक्षण मात्र होने से प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थानी अनुभाग की अनन्तगुणी वृद्धि, अप्रशस्त प्रकृतियों के द्विस्थानी अनुभाग की अनन्तगुणी हानि, तथा बध्यमान कर्मों के संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण भी सूचित होते हैं। क्योंकि यहाँ पर अनन्तगुणी विशुद्धि के साथ 4 आवश्यक माने गए हैं।

अपूर्वकरण का निरुक्तिपूर्वक लक्षण

एदह्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा हु परिणामा।। (51)

अर्थ : इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीव, जो पूर्व समय में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं, इसलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है।

भावार्थ : जिस प्रकार अधःकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकार के होते हैं, वैसा अपूर्वकरण में नहीं है; किन्तु यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते है, सदृश नहीं होते।

इस गुणस्थान का दो गाथाओं द्वारा विशेष स्वरूप-
भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा।। (52)

अर्थ : यहाँ पर (अपूर्वकरण में) भिन्न समयवर्ती जीवों में विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवों में सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयसंखलोग परिणामा।
कमउड्ढा पुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण।। (53)

अर्थ : इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहुर्त मात्र है और इसमें परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं, और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रति समय समान वृद्धि को लिए हुए हैं। तथा इस गुणस्थान में नियम से अनुकृष्टि रचना नहीं होती है।

भावार्थ : अधःप्रवृत्तकरण के काल से अपूर्वकरण का काल यद्यपि संख्यातगुणा हीन हैं, तथापि सामान्य से अन्तर्मुहुर्त मात्र ही हैं। इसमें परिणामों की संख्या अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों की संख्या से असंख्यात लोक गुणी है। और इन परिणामों से उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है। अर्थात् प्रथम समय के परिणामों से जितने अधिक द्वितीय समय के परिणाम हैं उतने-उतने ही अधिक द्वितीयादि समयों के परिणामों से तृतीयादि समयों के परिणाम हैं। तथा जिस प्रकार अधःप्रवृत्तकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामो में सादृश्य पाया जाता है इसलिए वहाँ पर अनुकृष्टि रचना की है, उस प्रकार अपूर्वकरण में अनुकृष्टि रचना नहीं होती; क्योंकि भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में यहाँ पर सादृश्य नहीं पाया जाता । इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है - सर्वधन का प्रमाण 4096 है, संख्यात का प्रमाण 4, चय का प्रमाण 16 और स्थान का प्रमाण 8 है। एक घाटिपद के आधे को चय और पद के गुणा करने पर चयधन का प्रमाण 7.5 बाई 16 बाई 8 = 448 होता है। सर्वधन में से चयधन को घटाकर पद का भाग देने से प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण 4096-448/8=465 होता है।

इसमें एक एक चय जोड़ने पर द्वितीयादिक समय में होने वाले परिणामों का प्रमाण निकलता है। इसमें एक घाटि पद प्रमाण चय जोड़ने से अन्त समय सम्बन्धी परिणामों का प्रमाण 456+7 x 16 = 568 होता है।

अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा कार्य-

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिंगलियतिमिरेहि।
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया।। (54)

अर्थ : अज्ञान अन्धकार से सर्वथा रहित जिनेन्द्र देव ने कहा है कि उक्त परिणामों को धारण करने वाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का क्षपण अथवा उपशमन करने में उद्यत होते हैं।

भावार्थ : इस गुणस्थान में चार आवश्यक कार्य हुआ करते हैं। 1. गुणश्रेणी निर्जरा, 2. गुण संक्रमण, 3. स्थिति खण्डन, 4. अनुभाग खण्डन। ये चारों ही कार्य पूर्वबद्ध कर्मों में हुआ करते हैं। इनमें अनुभाग खण्डन पूर्वबद्ध सत्ता रूप अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का हुआ करता है। क्योंकि इनके बिना चारित्र मोह की 21 प्रकृतियों का उपशम या क्षय नहीं हो सकता। अतएव अपूर्व परिणामों के द्वारा इन कार्यों को करके उपशम-क्षपण के लिए यहीं से वह उद्यत हो जाया करता है।

णिद्दापयले णेट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया।
खवयं दुक्के खपया, णियमेण खवंति मोहं तु।। (55)

अर्थ : जिनके निद्रा और प्रचला ही बन्धव्युच्छित्ति हो चुकी है, तथा जिनका आयुकर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशमश्रेणी का आरोहण करने वाले जीव शेष मोहनीय का उपशमन करते हैं और जो क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाले हैं, वे नियम से मोहनीय का क्षपण करते हैं।

भावार्थ : जिसके अपूर्वकरण के छह भागों में से प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला की बन्धव्युच्छित्ति हो गई है, और जिसका आयुकर्म विद्यमान है (जो मरण के सम्मुख नहीं हैं) अर्थात् जो श्रेणी को चढ़ने वाला है, क्योंकि श्रेणी से उतरते समय यहाँ पर मरण की सम्भावना है, इस प्रकार के उपशमश्रेणी को चढ़ने वाले जीव के अपूर्वकरण परिणामों के निमित्त से मोहनीय का उपशम और क्षपक श्रेणी वाले के क्षय होता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.	नाम	भेद	अपूर्वकरण
१.	गुणस्थान	१४	१ अपूर्वकरण गुणस्थान

२.	जीवसमास	१४	१ संज्ञी पर्याप्त
३.	पर्याप्ति	६	६ पर्याप्तियाँ
४.	प्राण	१०	१०
५.	संज्ञा	४	३ (भय, मैथुन, परिग्रह)
६.	गति	४	१ मनुष्य
७.	इन्द्रिय	५	१ पंचेन्द्रिय
८.	काय	६	१ त्रस
९.	योग	१५	९ (४ मनोयोग+४ वचनयोग+१ औदारिक काययोग)
१०.	वेद	३	३
११.	कषाय	२५	१३ (४ संज्वलन + ९ नोकषाय)
१२.	ज्ञान	८	४ (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय)
१३.	संयम	७	२ (सामायिक, छेदोपस्थापना)
१४.	दर्शन	४	३ केवलदर्शन बिना
१५.	लेश्या	६	१ शुक्ल
१६.	भव्य	२	१ भव्य
१७.	सम्यक्त्व	६	२ (उपशम, क्षायिक)
१८.	संज्ञी	२	१ संज्ञी
१९.	आहारक	२	१ आहारक
२०.	उपयोग	१२	७ (४ योग + ३ दर्शन)
२१.	ध्यान	१६	१ पृथक्त्ववितर्कविचार
२२.	आस्रव	५७	२२ (१३ कषाय + ९ योग)
२३.	जाति	८४ लाख	१४ लाख
२४.	कुल	१९७ १/२ लाख कोटि	12 लाख कोटि

अनिवृत्तिकरण (9वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व इससे प्राप्त मुझे शिक्षायें

(अपूर्व उत्तम भावों को सतत प्रवर्द्धमान करूँ)

(चाल : 1. यमुना किनारे....2. सायोनारा...)

- आचार्य कनकनन्दी

अनिवृत्तिकरण का स्वरूप जानूँ, इससे शिक्षा लेने हेतु प्रयत्न करूँ।
भले न अभी हो यह गुणस्थान, तद्गुण लब्धये हेतु वन्दन करूँ।। (1)

यथा अभी न होते अरिहंत सिद्ध, तथापि वन्दनीय उनके आत्मिक गुण।
भाव से ही भावी निर्माण होता, भावानुसार अवश्य फल मिलता।। (2)

मेरा लक्ष्य ही आत्मोपलब्धि, आत्मोपलब्धि ही है परम सिद्धि।
भावी में यह गुणस्थान होगा अवश्य, उसकी उपलब्धि हेतु साधना रत।। (3)

यथा उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम, होने के कारण होता अपूर्वकरण।
तथाहि इस गुणस्थान में जो होती भाव शुद्धि, वह शुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती।।(4)

वह शुद्धि कदापि न निवृत्त होती, अतएव अनिवृत्तिकरण नाम सिद्धि।
यहाँ होते औपशमिक व क्षायिक भाव, उपशम-क्षायिक श्रेणी होते क्रमशः।। (5)

अपूर्वकरण सम होता प्रथम शुक्ल ध्यान, इस गुणस्थान में सब के भाव समान।
पूर्वोक्त गुणस्थानों में न भाव समान, न्यूनाधिक समय में होता भाव असम।। (6)

इससे मुझे शिक्षायों मिलती विभिन्न, उत्तरोत्तर भाव को करना है उन्नयन।
बाह्य से अप्रभावी हो बढ़ना है आगे, अनन्त विकास पूर्व रूकना न कभी।। (7)

इस गुणस्थानस्थ मुनि के परिणाम सम, नीचे के गुणस्थानों में न होता सम।
इससे मुझे ये शिक्षायें मिलती अन्य के विषम भाव से समता वृत्ति।। (8)

णाणा जीव णाणा कम्म णाणा विह हवे लद्धि।
तेण वचन विवाद सग पर समयम्मि वज्जिदो।। (आ.कुन्दकुन्द)

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिेटेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदाममात्मा विदधातु देव।। (01)(द्वा.त्रि.)

दुःखे सुखे वैरिणी बंधु वर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृताशेष ममत्व बुद्धेः, समं मनोमेस्तु सदापि नाथ।। (03)

इस हेतु साधना मैं सतत करूँ, ध्यान-अध्ययन-तपस्या करूँ।
संकल्प-विकल्प-संक्लेश त्यागूँ, आकर्षण-विकर्षण-द्वन्द्व मैं त्यागूँ।। (9)
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि त्यागूँ, संकीर्ण पंथ-मत-विचार त्यागूँ।
अहंकार-ममकार-वर्चस्व त्यागूँ, सतत स्वात्मोपलब्धि 'कनक' चाहूँ।। (10)

नन्दौड-दि. 2-8-2018, रात्रि 10.34

-नवमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का स्वरूप-

एकह्मि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहि मिहो जेहि।। (56)
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा।। (57)

अर्थ : अन्तर्मुहुर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से आदि या मध्य या अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम है। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ-यहाँ पर एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणामों में पाई जाने वाली विशुद्धि में परस्पर निवृत्ति-भेद नहीं पाया जाता, अतएव इन परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। यही कारण है कि यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामें में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता ही पाई जाती है। इन परिणामों से ही आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणि निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन, अनुभाग खण्डन होता है और मोहनीय कर्म की बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टि आदि हुआ करती है।

अनिवृत्तिकरण नाम का नौवां गुणस्थान

जह तं अपुव्वणामं अणियट्टी तह य होई णायव्वं।
उवसम खाइय भावं हवेइ फुडु तम्हि ठाणम्मि।।649.भा.सं.

अर्थ : जिस प्रकार उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होने के कारण आठवें गुणस्थान का नाम अपूर्व करण गुणस्थान है उसी प्रकार अनिवृत्तिकरण नाम का नौवां गुणस्थान समझना चाहिये। इस गुणस्थान में उत्तरोत्तर जो परिणामों की शुद्धता होती जाती है वह शुद्धता बढ़ती ही जाती है **फिर कम नहीं होती।** इसलिये इसको अनिवृत्ति करण कहते हैं जिसमें परिणाम की शुद्धता निवृत्त न हो सके और बढ़ती ही चली जाए उसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं इस गुणस्थान में भी औपशमिक भाव और क्षायिक भाव दानों ही होते हैं। उपशम श्रेणी वाले के उपशम भाव होते हैं और क्षपक श्रेणी वाले के परिणाम क्षायिक होते हैं।

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहिं पुव्वुत्त लक्खणं झाणं।
णत्थि णियत्ती पुणरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा।।650।।

अर्थः भगवान् जिनेंद्र देव ने इस नौवे गुणस्थान में भी पहले के अपूर्वकरण गुणस्थान में कहा हुआ पहला शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क विचार नामका शुक्ल ध्यान कहा है। इस गुणस्थान में शुद्ध परिणामों की निवृत्ति नहीं होती इसलिये इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्ति करण कहा गया है।

हंति अणियट्टिणो से पडिसमयं जस्स एक्क परिणामं।
विमलयर झाण हुअवह सिंहाहिं णिद्दड्ढ कम्म वण।।651।।

अर्थः इस गुणस्थान में एक समय से जितने जीव होंगे उन सब में एक समान परिणाम होंगे और वे परिणाम निर्वृत्ति रूप नहीं होते। इस गुण स्थान में रहने वाले मुनियों का ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है इसलिये उस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि की शिखा से कर्म रूपी वन अवश्य जल जाते हैं। इस गुण स्थान के समय असंख्यात होते हैं। उनमें वे ध्यानी मुनि उत्तरोत्तर समयों में बढते रहते हैं। इस गुण स्थान के पहले समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक ही होंगे दूसरे समय में भी जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक ही होंगे। इसी प्रकार तीसरे समय चौथे

पांचवे आदि असंख्यात समयों में समझ लेना चाहिये। इस प्रकार नौवें गुणस्थान का स्वरूप कहा।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.	नाम	भेद	अनिवृत्तिकरण
1.	गुणस्थान	14	1 अनिवृत्तिकरण गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	1 संज्ञी पर्याप्त
3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	10
5.	संज्ञा	4	2 (मैथुन, परिग्रह)1. परिग्रह/ (अवेदभाग में)
6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	9 (4 मनोयोग+4 वचनयोग+1 औदारिक काययोग)
10.	वेद	3	3 (अपगतवेद)
11.	कषाय	25	7 (4 संज्वलन + 3 नोकषाय) 4/3/2/1
12.	ज्ञान	8	4 (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय)
13.	संयम	7	2 (सामायिक, छेदोपस्थापना)
14.	दर्शन	4	3 (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
15.	लेश्या	6	1 शुक्ल
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	2 (उपशम, क्षायिक)
18.	संज्ञी	2	1 संज्ञी
19.	आहारक	2	1 आहारक
20.	उपयोग	12	7 (4 योग + 3 दर्शन)
21.	ध्यान	16	1 पृथक्त्ववितर्कविचार
22.	आस्रव	57	16 (7 कषाय + 9 योग)13/12/11/10
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

सूक्ष्म सांपराय (10 वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे प्राप्त मुझे शिक्षायें

(निस्पृह-अनासक्त-वीतरागी होने की शिक्षा)

(रागः 1. यमुना किनारे...2. क्या मिलिये...)

- आचार्य कनकनन्दी

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान को जानूँ, इसे जानकर शिक्षा मैं लहूँ।
इसके होते औपशमिक क्षायिक भाव, भावानुसार भी होता श्रेणी आरोहण।। (1)

प्रथम शुक्ल ध्यान भी यहां पर होता, सूक्ष्म लोभ का यहाँ सद्भाव होता।
अतएव इसका नाम सूक्ष्म सांपराय, ऐसा है लोभ कषाय का प्रभाव।।(2)

इससे मुझे भी मिलती है शिक्षा, लोभ कषाय को जीतने की शिक्षा।
''लोभ पाप का बाप बखाना'' लोकोक्ति, किन्तु मोही न त्यागते लोभ आसक्ति।।(3)

लोभ से होती है परिग्रह में आसक्ति, इससे चाहते सत्ता-सम्पत्ति-प्रसिद्धि।
ख्याति पूजा लाभ वर्चस्व सत्कार, इससे होते अन्याय से ले अत्याचार।।(4)

शोषण-मिलावट-भ्रष्टाचार करते, आक्रमण युद्ध विध्वंसादि करते।
समस्त महायुद्ध इस हेतु ही होते, उपनिवेश से ले राज्य विस्तार होते।।(5)

मिठा जहर समान है लोभ कषाय, मादक द्रव्य सेवन समान लोभ।
क्रोध मान माया से भी भयंकर लोभ, तृष्णा से मूर्च्छित है रागी जीव।।(6)

लोभ नाश हेतु क्रोध मान माया त्याज्य, इनके सद्भाव में लोभ अवश्य।
अक्ष संचार से कषायें होती परिणमन, लोभ अभाव से क्रोधादि अविद्यमान।।(7)

इससे शिक्षा ले कर रहा हूँ यत्न, ख्याति-पूजा-लाभ से हो रहा हूँ विरक्त।
दिखावा-आडम्बर व विज्ञापन से, विरक्त हो रहा हूँ पत्रिका-होर्डिंग से।।(8)

माइक-मंच व ताम-झाम से, विरक्त हो रहा हूँ टी.वी. प्रोग्राम से।

भीड़-प्रदर्शन व भौतिक निर्माण से, विरक्त रहा हूँ मैं चन्दा-चिट्ठा से।।(9)
केवल वस्त्र त्याग से न होते निर्ग्रन्थ, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्यागी निर्ग्रन्थ।
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित होता लक्ष्य, इस लक्ष्य हेतु 'कनक' बना निर्ग्रन्थ।।(10)
नन्दौड़ दि. 3.8.2018 रात्रि 8.55

सूक्ष्म सांपराय नाम का दशवां गुणस्थान

जह अणियट्टि पउत्तं खाइय उवसमिय सेढ़ि संजुत्तं।
तह सुहमसंपराये दुब्भेयं होइ जिण कहियं।। 652 भा.सं.

अर्थ : जिस प्रकार अनिवृत्तिकरण में क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी दो प्रकार की श्रेणियाँ बतलाई हैं उसी प्रकार इस सूक्ष्म संपराय नाम के दशवें गुणस्थान में भी उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी दोनों ही श्रेणियाँ होती हैं ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तत्थेव हि दो भावा झाणं पुणु तिविह भेय तं सुक्कं।
लोभ कसाए ऐसे समलत्तं होइ चित्तस्स।।653

अर्थ : इस गुणस्थान में भी औपशमिक और क्षायिक दो ही भाव होते हैं। उपशम श्रेणी वाले के औपशमिक भाव होते हैं और क्षपक श्रेणी वाले के क्षायिक भाव होते हैं। इसी प्रकार इस गुणस्थान में पहले कहा हुआ पृथक्त्व सवितर्क सुविचार नाम का तीनों भेद वाला प्रथम शुक्ल ध्यान ही होता है। इस गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ कषाय होता है इसलिये उनका चित्त कुछ थोड़ा सा सकल वा मल सहित (अत्यन्त सूक्ष्म अशुद्धता सहित) होता है।

जह कोसुं भय वत्थं होइ सया सुहुमराय संजुत्तं।
एवं सुहम कसाओ सुहम सरावोत्ति णिद्दिठ्ठो।।654।।

अर्थ : जिस प्रकार कसुमा से रंगे हुए वस्त्रों में (कसुमा के फूलों के रंग में रंगे हुए वस्त्र में) लाली अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसी प्रकार इस दशवें गुणस्थान में लोभ रूपी कषाय अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय कहा गया है।

दशवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का स्वरूप

छुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरोगोत्ति णादव्वो।।(58) जीवकाण्ड

अर्थ : जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा-सुर्खी सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग-लोभ-कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्म साम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ : जहाँ पर पूर्वोक्त तीन करण के परिणामों से क्रम से लोभ कषाय के बिना चारित्र मोहनीय कर्म की बीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय हो जाने पर सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त केवल लोभ कषाय का ही उदय पाया जाय उसको सूक्ष्म साम्पराय नाम का दशवाँ गुणस्थान कहते हैं। किन्तु यह सूक्ष्मकृष्टि कब कहाँ और किस तरह होती है, और यहाँ पर उसका किस तरह वेदन होता है, यह दो गाथाओं द्वारा बताते हैं।

पुव्वापुव्वप्फड्डय, बादर सुहमगयकिट्टिअणुभागा।
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठुस्स।।(59)

अर्थ : पूर्व स्पर्धक से अपूर्व स्पर्धक के और अपूर्वस्पर्धक से बादर कृष्टि के तथा बादर कृष्टि से सूक्ष्मकृष्टि के अनुभाग क्रम से अनन्तगुणे अनन्तगुणे हीन हैं। और ऊपर के (पूर्व पूर्व के) जघन्य से नीचे का (उत्तरोत्तर का) उत्कृष्ट और अपने-अपने उत्कृष्ट से अपना-अपना जघन्य अनन्तगुणा अनन्त गुणा हीन है।

भावार्थ : अनेक प्रकार की अनुभाग शक्ति से युक्त कार्माणवर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरण के पूर्व में पाये जायँ, उनको पूर्वस्पर्धक और जिनका अनिवृत्तिकरण के निमित्त से अनुभाग क्षीण हो जाता है उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। तथा जिनका अनुभाग अपूर्वस्पर्धक से भी क्षीण हो जाय उनको बादर कृष्टि और जिनका अनुभाग बादर कृष्टि की अपेक्षा भी क्षीण हो जाय, उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं। पूर्व स्पर्धक के जघन्य अनुभाग से अपूर्व स्पर्धक का उत्कृष्ट अनुभाग भी अनन्त गुणा हीन है। इसी प्रकार अपूर्व स्पर्धक के जघन्य से बादरकृष्टि का उत्कृष्ट और बादरकृष्टि के जघन्य से सूक्ष्मकृष्टि का उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन है। और जिस प्रकार पूर्व स्पर्धक के उत्कृष्ट से पूर्व

स्पर्धक का जघन्य अनन्तगुणा हीन है उसी प्रकार अपूर्व स्पर्धक आदि में भी अपने-अपने से अपना-अपना जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन है।

इस गाथा में जिन कार्यों का वर्णन किया गया है, वे सब नवमें गुणस्थान में हुआ करते हैं। यहां पर प्रयुक्त शब्दों का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है।

कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग और उस शक्ति के सबसे छोटे अंश को जिसका कि फिर दूसरा भाग नहीं हो सकता, अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। कृष्टिशब्द का अर्थ कृश करना होता है। यहाँ पर इसका आशय अनुभाग शक्ति को कृश करने से है। जहाँ तक स्थूल खण्ड होते हैं, वहाँ तक बादरकृष्टि और जहाँ सूक्ष्म खण्ड होते हैं वहाँ सूक्ष्मकृष्टि कही जाती है। ये सब कार्य नौवें गुणस्थान में उसके संख्यात बहुभाग बीत जाने पर एकभाग में अनिवृत्तकरण परिणामों के द्वारा सत्ता में बैठे हुए कर्मों में हुआ करते हैं। किन्तु सूक्ष्मकृष्टिगत लोभ कषाय के इन कर्मस्कन्धों का दशवें गुणस्थान के प्रथम समय में उदय होकर वेदन हुआ करता है। जैसा कि आगे की गाथा में बताया गया है।

संसारावस्था में प्रतिसमय बँधने वाले कर्मों के समूह को समय प्रबद्ध कहते हैं। यह बन्ध चार प्रकार का है-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा इन्हीं में जो चार आवश्यक कार्य होते हैं, वे इस प्रकार हैं - प्रदेशों की गुणश्रेणी निर्जरा, प्रकृति का गुणसंक्रमण, स्थिति और अनुभाग का खण्डन। नौंवे गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा बँधे हुए कर्मों के स्पर्धकों में अपूर्वता आती है और अनुभाग शक्ति की प्रतिसमय अनन्तगुणी अनन्तगुणी हीनता होकर बादरकृष्टि और सूक्ष्मकृष्टि बनती है। पूर्व स्पर्धकों की रचना किस तरह से हुआ करती है, यह जान लेने पर स्पर्धकों में होने वाली अपूर्वता भी अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

प्रतिसमय बंधने वाले कर्म यो नोकर्म के समस्त परमाणुओं के समूह को समय प्रबद्ध कहते हैं। विवक्षित समय प्रबद्ध में सबसे कम अनुभाग शक्ति के अंश-अविभाग प्रतिच्छेद जिस परमाणु में पाये जाँय उसको वर्ग तथा समान संख्या वाले अविभाग प्रतिच्छेद जिनमें पाये जाँय उन सब वर्गों के समूह को वर्गणा, और जिनमें अविभाग प्रतिच्छेदों की समान वृद्धि पायीं जाय उन वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक

कहते हैं। गुणाकार रूप से हीन हीन द्रव्य जिसमें पाया जाय उसको गुण हानि, गुणहानि के समय समूह को गुण-हानि आयाम, गुणहानियों के समूह को नानागुणहानि, दो गुण हानि आयाम के प्रमाण को निषेकहार, नाना गुण हानि प्रमाण दो के अंक रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो उसको अन्योन्याभ्यस्तराशि और समान हानि या वृद्धि के प्रमाण को चय कहते हैं।

समय प्रबद्ध के द्रव्य का प्रमाण अनन्त, स्थिति और उसके अनुसार गुणहानि आदि के समयों का प्रमाण असंख्यात रहा करता है। समय प्रबद्ध के द्रव्य का बँटवारा स्थिति के सम्पूर्ण समयों में किस क्रम से और किस प्रमाणों में हुआ करता है यह अंक संदृष्टि द्वारा समझाया गया है जो कि इस प्रकार है-

कल्पना कीजिये कि समय प्रबद्ध का प्रमाण 6300 और उसकी स्थिति का प्रमाण 48 है। इस स्थिति के आठ-आठ के छह भाग हो जाते हैं। अतएव गुणहानि आयाम का प्रमाण 8 समय और नानागुण हानि का प्रमाण 6 होगा। इनमें गुणाकार रूप से हीन-हीन द्रव्य पाया जाता है, इसलिए इनको गुणहानि कहते हैं। फलतः छहों गुण हानियों के द्रव्यों का प्रमाण क्रम से 3200, 1600, 800, 400, 200 और 100 होता है। प्रत्येक गुणहानि का द्रव्य अपने-अपने चय के अनुसार घटता-घटता आठ-आठ समयों में बँट जाता है। इन गुणहानियों में चय का प्रमाण क्रम से 32, 16, 8, 4, 2, और 1 है। क्योंकि निषेकहार 16 में एक अधिक गुण हानि आयाम 9 को जोड़कर उसके आधे 12.5 का गुणहानि आयाम 8 से गुणा करने पर लब्ध 100 का भाग विवक्षित द्रव्यों में क्रम से देने पर यही प्रमाण आता है।

निषेकहार 16 का अपने-अपने चय के साथ गुणा करने पर विवक्षित गुणहानि के प्रथम समय सम्बन्धी द्रव्य का प्रमाण आता है और आगे एक-एक चय का प्रमाण कम होता जाता है। तदनुसार छहों गुणहानियों के 48 समयों में 6300 द्रव्य का बँटवारा इस प्रकार होगा।

प्र.गु.द्र.	द्वि.गु.द्र.	तृ.गु.द्र.	च.गु.द्र.	पं.गु.द्र.	ष.गु.द्र.
288	144	72	36	18	9
320	160	80	40	20	10
352	176	88	44	22	11

384	192	96	48	24	12
416	208	104	52	26	13
448	224	112	56	28	14
480	240	120	60	30	15
512	256	128	64	32	16
3200	1600	800	400	200	100

यहाँ पर प्रथम गुणहानि की प्रथम वर्गणा में जो 512 वर्ग हैं, उनकी उनकी अनुभागशक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद समान किन्तु अन्य समस्त वर्गणाओं के वर्गों के अविभाग प्रतिच्छेदों से कम है। ऊपर-ऊपर वे बढ़ते गये हैं। जहां तक उनमें एक-एक की या समान वृद्धि पायी जाती है वहाँ तक की वर्गणाओं के समूह का एक स्पर्धक होता है। अनिवृत्तिकरण परिणामों के द्वारा इन स्पर्धकों में अपूर्वता आ जाती हैं। क्योंकि निर्जरा का द्रव्य प्रमाण अधिकाधिक और अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन-हीन होता जाता है। यह हीन क्रम बादर कृष्टि और सूक्ष्मकृष्टि में भी पाया जाता है।

सूक्ष्म लोभ से उदय से होने वाले फल

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खबगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किं चि।। (60)

अर्थ : चाहे उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाला हो अथवा क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्मलोभ के उदय का अनुभव कर रहा है, ऐसा दशवें गुणस्थान वाला जीव यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है।

भावार्थ : यहाँ पर केवल सूक्ष्मकृष्टिगत लोभ के उदय का ही वेदन है। इसलिए यथाख्यात चारित्र के प्रकट होने में कुछ ही कमी रहती है।

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	सूक्ष्मसाम्पराय
1.	गुणस्थान	14	1 सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	1 संज्ञीपर्याप्त

3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	10
5.	संज्ञा	4	1 परिग्रह (सूक्ष्म लोभ अपेक्षा)
6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	9 (4 मनोयोग+4 वचनयोग+1 औदारिक काययोग)
10.	वेद	3	0 अपगतवेद
11.	कषाय	25	1 संज्वलन सूक्ष्मलोभ
12.	ज्ञान	8	4 (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय)
13.	संयम	7	1 सूक्ष्मसाम्पराय
14.	दर्शन	4	3 (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
15.	लेश्या	6	1 शुक्ल
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	2 (उपशम, क्षायिक)
18.	संज्ञी	2	1 संज्ञी
19.	आहारक	2	1 आहारक
20.	उपयोग	12	7 (4 ज्ञान + 3 दर्शन)
21.	ध्यान	16	1 पृथक्त्ववितर्कविचार
22.	आस्रव	57	10 (1 कषाय + 9 योग)
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

सम्पूर्ण 14 गुणस्थानों में कर्म-आस्रव के कारण

मिच्छत्तं अविरमणम् कसायजोगा य आसवा होंति।
पण बारस पणुवीस पण्णरसा होंति तब्भेया।।(786) गो.कर्म

अर्थ : मिथ्यात्व 1. अविरति 2. कषाय 3. योग 4. ये चार मूल आस्रव हैं। तथा इनके भेद क्रम से 5, 12, 25 और 15 होते हैं।

भावार्थ : जिसके द्वारा कार्माणवर्गणा रूप पुद्गलस्कंध कर्मपने को प्राप्त हो उसका नाम आस्रव है। यह क्या है? तो आत्मा के मिथ्यात्वादि परिणाम रूप है। उनमें से ''मिथ्यात्व'' एकांत विनयादि के भेद से पाँच प्रकार है। ''अविरति'' नाम का आस्रव 5 इन्द्रिय तथा छठा मन इनको वशीभूत नहीं करने से 6 भेदरूप और पृथिवीकायादि 5 स्थावरकाय तथा 1 त्रसकाय इनकी दया न करने से 6 भेदरूप इस तरह 12 प्रकार का है। कषाय के अनंतानुबंधी आदि 16 कषाय तथा हास्यादि 9 नोकषाय इस तरह 25 भेद हैं। योग मनोयोगादि के भेद से 15 प्रकार का है। इस प्रकार सब मिलाकर आस्रव के 57 भेद होते हैं।

मूल प्रत्ययों का गुणस्थान में बताते :-

चदुपञ्चइगो बंधो पढमे णंतरतिगे तिपञ्चइगो।
मिस्सगबिदियं उवरिमदुगं देसेक्कदेसम्मि।।(787)

अर्थ : मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में 4 प्रत्ययों से बँध होता है। उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व के बिना 3 प्रत्ययों से बंध हैं। किन्तु एकदेश असंयम के त्यागने वाले देश-संयतगुणस्थान में दूसरा अविरति प्रत्यय मिला हुआ है तथा आगे के दो प्रत्यय पूर्ण ही हैं - इस प्रकार पाँचवें गुणस्थान में तीनों ही कारणों से बँध होता है।

उबरिल्ल पंचये पुण दुपच्चया जोगपच्चओ तिण्हं।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्हं होंति कम्माणं।।(788)

अर्थ : इस पाँचवें गुणस्थान से आगे के छट्ठे आदि 5 गुणस्थानों में 2 प्रत्ययों से बोध होता है। और इससे आगे 3 गुणस्थानों में 1 योगप्रत्यय से ही बँध होता है। इस तरह निश्चयकर 8 कर्मों के ये सामान्य प्रत्यय होते हैं।

उत्तर प्रत्ययों को गुणस्थानों में दिखलाते -

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसाथ।
चदुवीसा बावीसा बावीसम पुव्वकरणोत्ति।। (789)
थूले सोलसपहुदी एगुणं जाव होदि दसठाणं।

सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव।। (790) गो.कर्म.

अर्थ : मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आहारक युगल न होने से 55 प्रत्यय हैं; सासादन में 5 मिथ्यात्व भी नहीं है इसलिए 50 प्रत्यय हैं, मिश्र में 43 है, असंयत में 46 है, देशसंयत में 37 है, प्रमत्त में 24 हैं, अप्रमत्त में 22 प्रत्यय हैं, अपूर्वकरण में भी 22 हैं। अनिवृत्तिकरण में 16 को आदि लेकर एक-एक कम होते-होते 10 भेद तक हैं। सूक्ष्मसाम्पराय में 10 हैं। उपशांत कषाय में 9 तथा क्षीण कषाय में भी 9 प्रत्यय हैं। और सयोगकेवली में केवल 7 ही प्रत्यय हैं। तथा अयोगी के प्रत्यय का अभाव है।

प्रत्ययों की व्युच्छित्ति तथा अनुदय-

पण चदु सुण्णं णवयं पण्णारस दोण्णि सुण्णछक्कं च।
एक्केक्कं दस जाव य एक्कं सुण्णं च चारि सग सुण्णं।।(1)
दोण्णि य सत्त य चोद्दसणुदयेवि एयार वीस तेत्तीसं।
पणतीस दुसिगिदालं सत्ततालट्ठदाल दुसु पण्णं।।(2)

अर्थ : मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से 5, 4; शून्य 9, 15, 2, शून्य, 6, इसके बाद 10 आस्रवों के रहने तक एक-एक आस्रव की व्युच्छित्ति हैं। फिर उसके बाद क्रम से 1, शून्य, 4, 7 और शून्य रूप आस्रवों की व्युच्छित्ति होती है। तथा गुणस्थान में जो अनुदय अर्थात् आस्रव का अभाव है वह क्रम से 2, 7, 14, 11, 20, 33, 35, 35, 41, 47, 48, 48, 50 का जानना चाहिये।

उन व्युच्छित्तियों को वे कौनसी हैं सो दिखलाते-

मिच्छे पणमिच्छत्तं पढमकसायं तु सासणे मिस्से।
सुण्णं अविरदसम्भे विदियकसायं विगुव्वदुग कम्मं।।(3)
ओरालमिस्स तसवह णवयं देसम्मि अविरदेक्कारा।
तदियकसायं पण्णर पमत्तविरदम्मि हारदुगछेदो।।(4)
सण्णु पमादरहिदे पुव्वे छण्णोकसायवोच्छेदो।
अणियट्ठिम्मि य कमसो एक्केक्क वेदतियकसायतियं।।(5)
सुहुमे सुहमो लोहो सुण्णं उवसंतगेसु खीणेसु।
अलीयुभयवयणमणचउ जोगिम्मि य सुणह वोच्छामि।।(6)

सच्चाणुभयं वयणं मणं च ओरालकायजोगं च।
ओरालमिस्स कम्मं उवयारेणेव सब्भाओ।।(7)

अर्थ : मिथ्यात्व गुणस्थान में 5 मिथ्यात्वास्रवों की व्युच्छित्ति होती है। सासादन में प्रथम अनंतानुबंधी 4 कषाय की, मिश्र में शून्य, अविरति में दूसरी चार कषाय-वैक्रियिकद्विक कार्माणयोग-औदारिक-मिश्र योग-त्रसहिंसा इन 9 आस्रवों की, देश संयत में 11 अविरति व तीसरी प्रत्याख्यानावरण 4 कषाय इस प्रकार 15 आस्रवों की, प्रमत्तविरत में आहारक युगल योग की, अप्रमत्त में शून्य, अपूर्वकरण में हास्यादिक छः नोकषाय की अनिवृत्तिकरण में क्रम से एक-एक करके 3 वेद और तीन संज्वलन कषायों की तथा सूक्ष्मसांपराय में एक सूक्ष्मलोभ की ही व्यच्छित्ति होती है। उपशांतकषाय में शून्य क्षीणकषाय में असत्य उभय दो वचनयोग तथा दो मनोयोग इस प्रकार 4 की व्यच्छित्ति है। सयोगकेवली के अब व्युच्छित्ति कहते हैं, क्योंकि उसमें कुछ विशेषता है सो तुम हे शिष्य सुनो! सत्य अनुभय वचन-योग-मनोयोग, औदारिक-औदारिकमिश्रयोग-कार्मण काय योग इस प्रकार सयोगी के 7 योग हैं, सो ये उपचार से ही कहे गये हैं।

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः।(4) स्व.सू.

Souls affected with the passions have साम्परायिक or mundane inflow, i,.e. inflow of Karmic matter which causes the cycle of births and rebirths. Those without the passions have ईर्यापथ transient on fleeting inflow

कषायरहित और कषायसहित आत्मा का योग क्रम से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रव रूप हैं।

सामान्य रूप से आस्रव एक प्रकार होते हुए भी स्वामी एवं कारणों के भेद से आस्रवों के भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यहाँ पर मुख्यतः स्वामियों की अपेक्षा दो भेद किये गये हैं - (1) कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव (2) कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव है।

जो आत्मा को कसे, दुःख दे वह कषाय है। क्रोधादि परिणाम कषाय हैं क्योंकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं।

अथवा कषायले पदार्थ के समान कर्मरज के संशोषण में कारण होने से क्रोधादि परिणाम कषाय हैं। जैसे-वटवृक्ष आदि का चेप चिपकने में कारण होता है, वैसे ही आत्मा के क्रोधादि परिणाम भी कर्मबन्धन के कारण होने से कषाय कहे जाते हैं। जो जीव कषायसहित है, वह सकषाय है और जो कषायरहित जीव है वह अकषाय कहलाता है। सकषाय और अकषाय परिणामों को सकषायाकषाय परिणाम कहते हैं।

चारों तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला सम्पराय है। कर्मों के द्वारा चारों ओर से आत्मा का (आत्मा के स्वरूप का) अभिभव-पराभव, तिरस्कार होना सम्पराय कहलाता है।

ईर्या जिसका द्वार है वह ईर्यापथ है। ईर्या (योग) है पन्था (द्वार) जिसका वह ईर्यापथ कहलाता है, अर्थात् जो कर्म मात्र योग से ही आते हैं, आना मात्र ही जिनका कार्य है, वे ईर्यापथास्रव कहलाते हैं। सकषाय आत्मा के साम्परायिक कर्मों का आस्रव होता है और अकषाय आत्मा के ईर्यापथ आस्रव होता है, ऐसा यथासंख्या लगाना चाहिये। जैसे-साम्पराय कषाय का वाची है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवों के योग के द्वारा आये हुये कर्म भाव से उपश्लिष्यमाण वर्गणायें गीले चमड़े पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती हैं, उनमें स्थिति बंध हो जाता है, वह साम्परायिक आस्रव कहलाता है। उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योगक्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चेप न होने से (कषाय के अभाव में बंध का अभाव होने से) सूखी दीवाल पर पड़ी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बन्धस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं, यह ईर्यापथ आस्रव है।

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः।(5)

The kinds of the first i.e. mundance inflow are 39 in number

5 caused by the activity of the 5 senses इन्द्रिय 4 case by the activity of the 4 Passions, 5 caused by the activity of the 5 kinds of vowlessness, 25 caused by, the 25 kinds of activity क्रिया।

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के इन्द्रिय कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं जो क्रम से पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय क्रोध आदि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और 25 सम्यक्त्व क्रिया आदि से साम्परायिक आस्रव होता है। द्रव्य संग्रह में आस्रव का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार भी पाया जाता है-

मिच्छात्ताविरदिपमादजोगकोहादओय विण्णेया।

पण-पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।।(30)

अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पाँच, भेद जानने चाहिये। और मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच भेद, अविरति के पाँच भेद, प्रमाद के पन्द्रह भेद, योग के तीन भेद और क्रोध आदि कषायों के चार भेद जानने चाहिये।

(1) पंचेन्द्रिय- (1) स्पर्शन (2) रसना (3) घ्राण (4) चक्षु (5) कर्णा चक्षु आदि इन्द्रिय के द्वारा जो विषय में प्रवृत्ति होती है उससे साम्परायिक आस्रव होता है।

(2) चतुःकषाय - (1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ से भी साम्परायिक आस्रव होता है।

(3) पाँच अव्रत - (1) हिंसा (2) झूठ (3) कुशील (4) चोरी (5) परिग्रह से भी साम्परायिक आस्रव होता है।

(4) 25 क्रियायें - 25 क्रियाओं से भी साम्परायिक आस्रव होता है। उसका वर्णन निम्न प्रकार हैं :-

(1) सम्यक्त्व - चैत्य (जिन प्रतिमा) गुरु और शास्त्र की पूजा, स्तवन आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व क्रिया है।

(2) मिथ्यात्व- मिथ्यात्व के उदय से जो अन्य देवता के स्तवन आदि रूप क्रिया होता है वह मिथ्यात्व क्रिया है।

(3) प्रयोग - शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है।

(4) समादान-संयत का अविरति के सम्मुख होना समादान क्रिया है।

(5) ईर्यापथ- ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

(6) प्रादोषिकी - क्रोध के आवेश से प्रादोषिकी क्रिया होती है।

(7) कायिकी - दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है।

(8) आधिकारणिकी - हिंसा के साधनों को ग्रहण करना अधिकारणिकी क्रिया है।

(9) पारितापिकी - जो दुःख की उत्पत्ति का कारण है वह पारितापिकी क्रिया है।

(10) प्राणातिपातिकी - आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(11) दर्शन - रागवश, प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय दर्शन क्रिया है।

(12) स्पर्शन - प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है।

(13) प्रात्ययिकी - नये अधिकरणों को उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(14) समन्तानुपात - स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने, आने, उठने और बैठने के स्थान में मल का त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है।

(15) अनाभोग - प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयीं भूमि पर शरीर आदि का रखना अनाभोग क्रिया है।

(16) स्वहस्त - जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है।

(17) निसर्ग - पापादान आदि रूप प्रवृत्ति विशेष के लिये सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

(18) विदारण - दूसरे ने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(19) आज्ञा व्यापादिकी - चारित्रमोहनीय के उदय से आवश्यक आदि के

विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा निरुपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(20) अनाकांक्ष क्रिया - धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्र में उपदेशी गयी विधि करने का अनादर अनाकांक्ष क्रिया है।

(21) प्रारम्भ - छेदना, भेदना और रचना आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के करने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

(22) पारिग्राहिकी - परिग्रह का नाश न हो इसलिये जो क्रिया की जताी है वह पारिग्राहिकी क्रिया है।

(23) माया - ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल करना मायाक्रिया है।

(24) मिथ्यादर्शन - मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(25) अप्रत्याख्यान - संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से त्याग रूप परिणामों का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

ये सब मिलकर पच्चीस क्रियायें होती है। कार्य-कारण के भेद से अलग-अलग भेद को प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्परायिक कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः (6)

The differences in flow in different souls caused by the same activity arise from differences in the following :-

1. तीव्रभाव - Intensity of desire or thought activity.
2. मन्दभाव - Mildness
3. ज्ञात भाव - Intentional character of the act
4. अज्ञातभाव - Unintentional character of the act
5. अधिकरण - Dependence.
6. वीर्य - One's own position and the power to do the act.

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेष के भेद से आस्रव की विशेषता होती है।

योग प्रत्येक संसारी जीव के होता है। योग होने पर भी सम्पूर्ण जीवों के आस्रव समान नहीं होते। क्योंकि जीवों के परिणामों के अनन्त भेद हैं। कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है -

''णाणाजीव णाणकम्म णाणाविह हवे लद्धि''

अर्थात् संसार में अनेक जीव (अनन्त) हैं उनके कर्म (अनन्त कर्म) हैं। इसलिये उनकी लब्धियाँ भी नाना (अनन्त) प्रकार की हैं। इसलिये उनके योग, उपयोग विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसके अनुसार कर्म और बंध भी अनेक प्रकार के होते हैं।

1. तीव्र भाव - अति प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभादि के कारण परिणामों की तीव्रता को तीव्र कहते हैं वा बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त संक्लिष्ट भाव होते हैं, अत्यन्त उग्र परिणाम होते हैं, उन परिणामों को तीव्र कहते हैं।

2. मन्दभाव - तीव्र से विपरीत परिणाम मन्द होते हैं। बाह्य आभ्यन्तर कारणों से कषायों की अनुदीरणा के कारण से उत्पद्यमान अनुद्रिक परिणाम मन्द होने से मन्द कहलाते हैं। अर्थात् कषायों की उदीरणा में परिणाम तीव्र होते हैं और कषाय की अनुदीरणा में परिणाम मन्द होते हैं।

3. ज्ञातभाव - ज्ञात मात्र जानकर के प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मारने के परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर 'मैंने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा 'यह प्राणी मारने योग्य है' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।

4. अज्ञातभाव - मद या प्रमाद से गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जैसे-सुरापान करने वाले की इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों को मोहित करने वाले परिणाम मद कहलाते हैं। उस मद से तथा कुशल (आत्महितकारक) क्रियाओं के प्रति अनादर भाव रूप प्रमाद के कारण गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव कहलाता है।

5. अधिकरण भाव - जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते हैं। जहाँ-जहाँ जिसमें प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं, प्रस्तुत किये जाते हैं वह अधिकरण है, द्रव्य है। अर्थात् क्रिया का आधारभूत द्रव्य

अधिकरण है।

6. वीर्य भाव - द्रव्य का स्वसामर्थ्य वीर्य है। द्रव्य की शक्ति विशेष वा सामर्थ्य विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः।। (7)

The dependence relates to the souls and non-souls

अधिकरण जीव और अजीवरूप है।

जीव और अजीव ये जो आस्रव के अधिकरण और आधार हैं। यद्यपि सम्पूर्ण आस्रव जीव के ही होता है तथापि आस्रव के निमित्त जीव और अजीव दोनों के होते हैं। क्योंकि हिंसा आदि के उपकरण रूप से जीव और अजीव ही अधिकरण होते हैं। ये दोनों अधिकरण दस प्रकार के हैं - विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटे रूप से प्रयुक्त मन-वचन और काय।

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। (8)

The first जीवाधिकरण i.e. dependence on the souls in of 108 kinds due to differences in the following.

1. संरम्भ Determination to do a thing.

2. समारम्भ Preparation for it i.e. collecting materials for it.

3. आरम्भ commencement of it.

These three can be done by the three yogas i.e. activity of Mind, body and speech. Thus there are 3 x 3 = 9 kinds. Each one of the 9 kinds can be done in the three ways i.e. by doing onself or having it done by others or by approval or acquiescence. Thus we get 27 kinds. Each one of the 27 may be due to the 4 possions. that gives 27 x 4 = 108 kinds.

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से 3 प्रकार का योगों के भेद से तीन प्रकार का कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलाने से 108 प्रकार का है।

इस सूत्र में जीव के निमित्त से होने वाले आस्रव के भेद का वर्णन किया गया है। इस आस्रव के भेद 108 प्रकार के हैं। 108 प्रकार के आस्रव के प्रायश्चित स्वरूप या उसको दूर करने के लिए माला में 108 मणियाँ होती हैं। संरम्भ आदि का वर्णन निम्न प्रकार हैं :-

1. संरम्भ - प्रयत्न विशेष को संरम्भ कहते हैं। प्रमादी पुरुष का प्राणघात आदि के लिये प्रयत्न करने का संकल्प संरम्भ है।

2. समारम्भ - हिंसादि साधनों को एकत्र करना समारम्भ है। साध्य क्रिया के साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ है।

3. आरम्भ - तत्त्व का कथन करने से सर्व ही (ये तीनों शब्द) भाव साधन हैं। अर्थात् संरम्भण, सरंम्भ, समारम्भण समारम्भ और आरम्भण आरम्भ हैं।

(4 से 6) मन, वचन, काययोग - 'कायवाङमनस्कर्मयोगः'

इस सूत्र में योग शब्द का व्याख्यान कर चुके हैं।

7. कृत-कृत वचन स्वातंत्र्य प्रतिपत्ति के लिये हैं। स्वतंत्ररूप से जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कृत है।

8. कारित- पर प्रयोग की अपेक्षा कारित का अभिधान है। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है वह कारित कहलाता है।

9. अनुमोदना - अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामों की स्वीकृति दर्शायी गई है। अर्थात् करने वाले के मानस परिणामों की स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नहीं करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामों का समर्थक होने से अनुमोदक है।

(10 से 13) क्रोध, मान, माया और लोभविशेष - क्रोधादि कषायों का लक्षण कह चुके हैं कि जो आत्मा को कसती हैं, दुःख देती है वे कषाय है।

अर्थ का अर्थान्तर से जाना विशेष है। विशेष किया जाता है वा विशेष करना वह विशेष है।अथवा विशिष्ट को विशेष कहते हैं।

विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये। वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। जैसे-संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष, कारितविशेष, अनुमोदितविशेष, योगविशेष और कषायविशेष।

संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदित तथा कषायविशेष के द्वारा आस्रव का भेद होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगों के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के विशिष्ट (सम्बन्ध) करने पर प्रत्येक छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं।

संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरम्भो समारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत्।।

कहा भी है - क्रोधादि और कृतादि के द्वारा कायसंरम्भ बारह प्रकार का है। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भ के साथ कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ का काययोग के साथ संयोग करने से बारह-बारह भेद होते हैं। काय के साथ आस्रव के ये छत्तीस भेद हैं, वैसे ही वचनयोग और मनोयोग के साथ छत्तीस-छत्तीस भेद करने चाहिये। इन सबका जोड़ करने पर जीवाधिकरण आस्रव के कुल एक सौ आठ भेद होते हैं।

सूत्र में 'च' शब्द क्रोधादि कषायों के विशेषों का संग्रह करने के लिये हैं। अर्थात् 'च' शब्द से कषायों के भेद और उपभेदों का भी ग्रहण हो जाता है। अतः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के सोलह भेदों से गुणा करने पर जीवाधिकरण आस्रव के चार सौ बत्तीस भेद भी होते हैं।

प्रश्न-संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ आदि के आस्रवतत्त्व कैसे हैं?

उत्तर-क्रोधादि से आविष्ट पुरुष के द्वारा कृत संरम्भ आदि क्रियायें कषायों से अनुरंजित होने से, नीले वस्त्र के समान अधिकरण भाव को प्राप्त होती हैं। जैसे नीले रंग में डाला गया वस्त्र नीले रंग से अनुरंजित होने से नीला हो जाता है, उसी प्रकार सरंम्भ आदि क्रियायें अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से अनुरंजित होती हैं, अतः इन संरम्भादि में भी जीवाधिकरणत्व सिद्ध होता है।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्। (9)

The other अजीवाधिकरण i.e. dependence on the non soul is of the following 11 kinds.

2 (kinds of) निर्वर्तना production 1. मूलगुण of the body speech , mind and respiration 2 उत्तरगुण of books, pictures, statues etc. 4 (kind of) निक्षेप putting down a thing (1) अप्रत्यवेक्षित without seeing (2) दुःप्रमृष्ट petulantly. peevishly (3) सहसा hurriedly and (4) अनाभोग where it ought not to be put. 2 (kinds of) संयोग mixing up (1) भक्तपान food and drink (2) उपकरण mixing up to things necessary for doing any ect. 3 (kinds of) निसर्ग movement by (1) काय body (2) वाङ् speech and (3) मन mind

पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रम से दो चार, दो, और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप है।

निर्वर्तना दो प्रकार की है। निक्षेप चार प्रकार का है। संयोग दो प्रकार का है। निसर्ग तीन प्रकार का है। ये सब अजीवाधिकरण के भेद हैं।

मूल और उत्तरगुण के भेद से निर्वर्तना लक्षण अजीवाधिकरण के दो प्रकार का है - मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण। पाँच प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वाचोच्छ्वास ये मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पुस्त, चित्रकर्मादि उत्तरगुण-निर्वर्तना है। अर्थात् पाँच प्रकार के शरीर, मन, वचन, काय और श्वासोच्छ्वास इनकी रचना करना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पाषाण, वस्त्र आदि के चित्राम बनाना, जीव के खिलौने बनाना, लिखना आदि उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

किसी वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं - अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, सहसा निक्षेपाधिकरण और अनाभोग निक्षेपाधिकरण (1) बिना देखे हुये किसी वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। (2) ठीक तरह से न शोधी हुई भूमि पर किसी वस्तु को रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है। (3) शीघ्रतापूर्वक किसी वस्तु को रखना सहसा निक्षेपाधिकरण

है। (4) किसी वस्तु को बिना देखे अयोग्य स्थान में चाहे जहाँ रखना अनाभोग निक्षेपाधिकरण है।

भक्तपान और उपकरण के भेद से संयोग दो प्रकार का है। मिलाने का नाम संयोग है, वह संयोग दो प्रकार का है। भक्तपान संयोगाधिकरण और उपकरण संयोगाधिकरण। (1) किसी अन्नपान को दूसरे अन्नपान में मिलाना भक्तपान संयोगाधिकरण है। (2) कमण्डलु, पुस्तक आदि उपकरणों को दूसरे उपकरणों के साथ मिलाना उपकरण संयोगाधिकरण है।

प्रवृत्ति करने को निसर्ग कहते हैं। कायादि के भेद से निसर्ग तीन प्रकार का है - कायनिसर्गाधिकरण, वाक्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण।

काय की स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है। वचन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना वाङ् निसर्गाधिकरण है और स्वेच्छानुसार मानसिक प्रवृत्ति मनोनिसर्गाधिकरण है।

उपशान्त कषाय (11 वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे प्राप्त मुझे शिक्षाएँ

(कर्म कषाय-दोषों को क्षय करूँ, न कि दबाऊँ!)

(चाल : 1. क्या मिलिए...2. यमुना किनारे...)

- आचार्य कनकनन्दी

उपशान्त कषाय गुणस्थान को जानूँ,कर्मक्षय हेतु ही प्रयत्न करूँ।
भले प्राथमिक अवस्था में उपशम करूँ, किन्तुक्षय हेतु ही उपशम करूँ।।
इस गुणस्थान ही की श्रेणी है उपशम, भले सम्यक्त्व होता उपशम या क्षायिक।
उपशम सम्यक्त्वी जब श्रेणी उतरता, मिथ्यात्व, गुणस्थान तक को प्राप्त करता।। (1)
क्षायिक सम्यक्त्वी जब श्रेणी उतरता, सम्यक्त्व गुणस्थान से नीचे न जाता।
दोनों सम्यक्त्वी जब श्रेणी उतरते, सप्तम गुणस्थान को भी प्राप्त करते।
क्षायिक सम्यक्त्वी पुनः श्रेणी चढ़ने से, क्षपक श्रेणी चढ़कर मोक्ष भी पाते।
ग्याहरवें गुणस्थान में मरण करके, सर्वार्थसिद्धि इन्द्र में उत्पन्न होते।। (2)
श्रेणी पतन से यदि मिथ्यात्व होता, संसार में पुनः परिभ्रमण होता।

किन्तु अवश्य वे पाते हैं मोक्ष, क्षायिक वाले शीघ्र पाते हैं मोक्ष।।
इससे मुझे भी मिलती शिक्षा, कर्मक्षय करना ही मेरा परम लक्ष्य।
उपशम के कारण शुक्ल ध्यान/(शुद्धभाव) भी होता पतन, अतः कर्मक्षय हेतु ही करूँ प्रयत्न।। (3)
जो सम्भव हो उसे करूँगा पूर्ण इसमें न करूँ आलस्य-प्रमाद।
छल-छद्म या बहाना से रहित, दृढ़ता से पूर्णता हेत सदा प्रयत्न।।
अग्नि-ऋण-रोग आदि के सम, कर्म भी पूर्णतः क्षय करना योग्य।
अन्यथा अग्नि आदि बनते विध्वंसक, विध्वंसक कर्म क्षय 'कनक' का लक्ष्य।। (4)

नन्दौड़ दि-4/8/2018, प्रात:8.22

उपशान्त कषाय नाम का ग्यारहवाँ गुणस्थान

जो उवसमइ कसाए मोहासंबंधि पयडिबूहं च।
उवसामओत्ति भणिओ खवओ णाम ण सो लहइ।।655

अर्थ : जो मुनि मोह की समस्त प्रकृतियों का उपशम कर देते हैं वे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि कहलाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती मुनि क्षपक कभी भी नहीं कहला सकते क्योंकि जो उपशम श्रेणी में चढ़ते हैं और कर्मों का उपशम करते-करते ग्यारहवें गुणस्थान तक आ जाते हैं वे कर्मों का क्षय नहीं करते। इसलिये वे क्षपक नहीं कहना सकते। क्षपक वे ही कहलाते हैं जो क्षपक श्रेणी चढ़कर कर्मों का क्षय करते जाते हैं।

सुक्कज्झाणं पढमं भावो पुण तत्थ उपसमो भणिओ।
मोहोदयाउ कोई पडिऊण य जाइ मिच्छतं।। 656

अर्थ : इस गुणस्थान में पहला पृथक्त्व वितर्क विचार नाम का शुक्ल ध्यान होता है तथा इस गुणस्थान में औपशमिक भाव ही होते हैं। इस गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्मों की जो समस्त प्रकृतियाँ उपशांत हो गयी थी वे सब प्रकृतियाँ उदय में आ जाती है और फिर वे मुनि इस ग्यारहवें गुणस्थान से गिर जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने वाले कितने ही मुनि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाने से मिथ्यात्व गुणस्थान में भी आ जाते हैं।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुणवि आरुहइ।
चरम सरीरो जीवो खवयसेढीं च रय हरणे।। 657

अर्थ : ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर कितने ही मुनि सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त गुणस्थान में आ जाते हैं और सातवें गुणस्थान में आकर फिर से श्रेणी चढ़ते हैं। यदि उन मुनियों में कोई मुनि चरम शरीरी हुए तो वे मुनि क्षपक श्रेणी में चढ़ जाते हैं तथा क्षपक श्रेणी में चढ़कर ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश करने के लिए उद्यम करते हैं।

कालं काउं कोई तत्थय उवसामगे गुणट्ठाणे।
सुक्कज्झाणं झाइय उववज्जइ सव्वसिद्धीए।।658

अर्थ : इसी उपशांत मोह नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में रहने वाले मुनि की यदि आयु पूर्ण हो जाए तो वे शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ देते हैं और मरकर वे मुनिनियम से सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं।

हेट्ठट्ठिओ हु चेट्ठइ पंको सर गणियम्मि जह सरइ।
तह मोहो तम्मि गुणे हेउं लहि ऊण उल्लई।।659।।

अर्थ : जिस प्रकार शरद् ऋतु में कीचड़ सब तालाब में पानी में नीचे बैठ जाती है तथापि वह वायु आदि का कारण पाकर फिर ऊपर आ जाती हैं उसी प्रकार आठवें नौवें दशमें ग्यारहवें गुणस्थानों में जिस मोहनीय कर्म का उपशम किया था तथा ग्यारहवें गुणस्थान में आकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर दिया था वही मोहनीय कर्म इस ग्यारहवें गुणस्थान के अन्त समय में कारण पाकर उदय में आ जाता है। जब मोहनीय कर्म का उदय आ जाता है तब वे मुनि ग्यारहवें से गिर कर सातवें गुणस्थान में आ जाते हैं। यदि उसी समय मिथ्यात्व का उदय हो जाए तो वे मुनि पहले मिथ्यात्व में आ जाते हैं।

जो खवयसेढि रुढ़ो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो।
मोहक्खयंत्कुणंतो उत्तो खवओ जिणिंदेहिं।। 660

अर्थ : जो मुनि प्रारंभ में ही क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं वे मुनि कर्मों का उपशम नहीं करते किन्तु मोहनीय कर्म का क्षय करते जाते हैं इसलिए वे दशवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं आते। किन्तु दशवें गुणस्थान में से बारहवें गुणस्थान में

पहुँच जाते हैं। इसलिये वे मुनि फिर नीचे के गुणस्थानों में फिर कभी नहीं आते हैं। फिर तो बारहवें गुणस्थान के अन्त में घातियाँ कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान ही प्राप्त करते हैं।

ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय गुणस्थान-

कदक फलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोव संत मोहो, उबसंतकसायओ होदि।। (61)

अर्थ : निर्मली फल से युक्त जल की तरह, अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह, सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्त कषाय ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ : इस गुणस्थान का पूरा नाम ''उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ'' है, छद्म शब्द का अर्थ है ज्ञानावरण दर्शनावरण। जो जीव इनके उदय की अवस्था में पाये जाते हैं, वे सब छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ भी दो तरह के हुआ करते हैं। एक सराग दूसरे वीतराग। ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव वीतराग और इनसे नीचे के सब सराग छद्मस्थ हैं। कर्दम सहित जल में निर्मली डालने से कर्दम नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में मोहकर्म के उदय रूप कीचड़ का सर्वथा उपशम हो जाता है और ज्ञानावरण का उदय रहता है। इसीलिए इस गुणस्थान का यथार्थ नाम उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ है।

यहाँ पर चारित्र की अपेक्षा केवल औपशमिक भाव और सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक इस तरह से दो भाव पाये जाते हैं।

उपशान्तकषाय गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	उपशान्तकषाय
1.	गुणस्थान	14	1 उपशान्तकषाय गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	1 संज्ञीपर्याप्त
3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	10
5.	संज्ञा	4	0 (उपशान्त संज्ञा)

6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	9 (4 मनोयोग+4 वचनयोग+1 औदारिक कायायोग)
10.	वेद	3	0 (अपगत वेद)
11.	कषाय	25	0 (अकषाय)
12.	ज्ञान	8	4 (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय)
13.	संयम	7	1 यथाख्यात
14.	दर्शन	4	3 (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
15.	लेश्या	6	1 शुक्ल
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	2 (उपशम, क्षायिक)
18.	संज्ञी	2	1 संज्ञी
19.	आहारक	2	1 आहारक
20.	उपयोग	12	7 (4 ज्ञान + 3 दर्शन)
21.	ध्यान	16	1 (पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार)
22.	आस्रव	57	9 योग
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

क्षीण कषाय (12वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षाएँ
(निर्मल परिणाम हेतु करूँ साधना)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया...)

क्षीण कषाय गुणस्थान को जानूँ, कषाय क्षय हेतु मैं भावना भाऊँ।

यहाँ होता है केवल क्षायिक भाव, क्षपक श्रेणी आरोहण होता केवल।
यहाँ होता है द्वितीय शुक्ल ध्यान, जिसका नाम एकत्व वितर्क ध्यान।
यहाँ न होता है विचार संक्रमण, निर्विकल्प रूप में होता शुक्ल ध्यान।।(1)

समस्त मोह के क्षपण द्वारा, प्रज्वलित ध्यानाग्नि की प्रखर-ज्वाला।
उपान्त्य समय में नशते निद्रा प्रचला, अन्त (समय) में नशते ज्ञान-दर्शन अन्तराय।
जिससे प्रगट होते अनन्त ज्ञान-दर्शन, अनन्त अक्षय सुख व अनन्त वीर्य।
प्रकृष्ट शुक्ल ध्यान होता है यहाँ, साधना का उत्कृष्ट फल मिलता यहाँ।।(2)

इससे मुझे मिलती है शिक्षा, व्यर्थ न जाती है निर्मल साधना।
अनन्त ज्ञानादि ही यथार्थ साधना फल, अन्य सभी उपलब्धि है गौण फल।
ऐसे लक्ष्य से ही कर रहा हूँ साधना, ख्याति-पूजा-लाभादि की नहीं कामना।
निर्मल परिणाम हेतु ही करूँ साधना, शुद्ध-बुद्ध बनना 'कनक' की भावना।।(3)

नन्दौड़ 04.08.2018 रात्रि 8.55

क्षीण मोह वा क्षीण कषाय नाम का बारहवां गुणस्थान

णिस्सेसमोह खीणे खीण कसायं तु णाम गुणठाणं।
पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो।।661

अर्थ : जिस समय उन ध्यानी मुनि के समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय उन मुनि के क्षीण कषाय नाम का बारहवाँ गुणस्थान होता है। बारहवें गुणस्थान में उन मुनियों के क्षायिक भाव ही होते हैं।

जह सुद्ध फलिय भायणि खितं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं।
तह णिम्मल परिणामो खीण कसाओ मुणेयव्वो।। 662

अर्थ : जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि के बर्तन में रखा हुआ शुद्ध निर्मल जल सदा शुद्ध निर्मल ही रहता है उसी प्रकार जिसके कषाय सब नष्ट हो चुके हैं ऐसे क्षीण कषाय गुणस्थान में रहने वाले मुनि के परिणाम सदाकाल निर्मल ही रहते हैं।

आगे बारहवें गुणस्थान में कौनसा ध्यान होता है सो कहते हैं।

सुक्कज्झाणं वीयं भणियं सवितक्क एक्क अवियारं।
माणिक्कं सिहाचवलम् अत्थि तहिं णत्थि संदेहो।। 663

अर्थ : इस गुणस्थान में एकत्व वितर्क नाम का दूसरा शुक्ल ध्यान होता है। वह ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित होता है। किसी एक ही योग से होता है और उसमें विचार का संक्रमण नहीं होता विचार रहित होता है। जिस प्रकार माणिक रत्न की शिखा निश्चल रहती है उसी प्रकार उन मुनि का ध्यान विचार रहित निश्चल होता है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

होऊण खीण मोहो हणिऊण य मोह विडविवित्थारं।
धाइत्तयं च घाइय द्विचरम समएसु झाणेण। 664

अर्थ : जिस समय वे ध्यानी मुनि मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का नाश कर बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं तब वे मुनि बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में अपने प्रज्वलित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म इन तीनों घातियाँ कर्मों का नाश कर डालते हैं।

अपृथक्तवमवीचारं सवितर्कगुणान्वितम्।
सन् ध्यायत्येक योगेन शुक्ल ध्यानं द्वितीयकम्।।

अर्थ : दूसरे एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान में किसी एक ही पदार्थ का ध्यान होता है। वह किसी भी एक योग से धारण किया जाता है, श्रुतज्ञान सहित होता है तथा विचार रहित होता है।

निजात्म द्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम्।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः।।

अर्थ : दूसरे शुक्ल ध्यान में मुनि अपने एक आत्म द्रव्य का चिंतवन करते हैं अथवा उसकी किसी एक पर्याय का चिंतवन करते, अथवा उसके किसी एक गुण का चिंतवन करते। उनका वह ध्यान निश्चल होता है, इसको एकत्व वितर्क कहते हैं।

तद्द्रव्य गुण पर्यायवरापर्तविवर्जितम्।
चिंतनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः।।

अर्थ : इस दूसरे शुक्ल ध्यान से द्रव्य पर्यायों का परिवर्तन नहीं होता यदि द्रव्य का ध्यान करता है तो द्रव्य का ही करता रहेगा। यदि गुणों का ध्यान करता है तो उस एक गुण का ही चिंतवन करता रहेगा, यदि पर्याय का ध्यान करता है तो पर्याय का ही ध्यान करता रहेगा, उसे बदलेगा नहीं। क्योंकि उसका वह ध्यान निश्चल होता है। ऐसे

निश्चल ध्यान को ध्यान में अत्यन्त चतुर गणधर देव अविचार ध्यान कहते हैं।

जिन शुद्धात्म मिष्ठत्वाद् भावश्रुतावलंवनात्।
चिंतनं कियते यत्र सवितर्क तदुच्यते।।

अर्थ : इस ध्यान में वे मुनि अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं और भाव श्रुतज्ञान का अवलंबन होता है इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा का चिंतवन करता उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं।

घाइचउक्कविणसे उप्पज्ज सयल विमल केवलयं।
लोया लोय पयासं णाणं णिरुपहवं णिच्चं।665

अर्थ : जिस समय घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उसी समय उन भगवान् के पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है। यह केवलज्ञान लोक अलोक सबको एक साथ प्रकाशित करने वाला होता है। उसमें फिर किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता और वह ज्ञान फिर कभी भी नष्ट नहीं होता अनंतानंत काल तक बना रहता है।

आवरणाण विणासे दंसण णाणाणि अंतरहियाणि।
पावइ मोह विणासे अणंत सुक्खं च परमप्पा।।666।।
विग्ध विणासे पावइ अणंतरहियं च वीरियं परमं।
उच्चइ सजोइकेवलि तइय ज्झाणेण सो तइया।।667।।

अर्थ : ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से उन परमात्मा स्वरूप भगवान् के अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, मोहनीय कर्म के अत्यन्त नाश होने से अनंत सुख प्राप्त होता है अंतराय कर्म का अत्यन्त नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार वे भगवान् अनंत चतुष्टय को धारण कर सयोगी केवली कहलाते हैं। उन सयोगी केवली भगवान् के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम तीसरा शुक्ल होता है।

क्षीणकषाय गुणस्थान में 24 भेद

क्र.सं.	नाम	भेद	क्षीणकषाय
1.	गुणस्थान	14	1 क्षीणकषाय गुणस्थान
2.	जीवसमास	14	1 संज्ञीपर्याप्त

3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	10
5.	संज्ञा	4	0 (क्षीण संज्ञा)
6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	9 (4 मनोयोग+4 वचनयोग+1 औदारिक काययोग)
10.	वेद	3	0 (अपगतवेद)
11.	कषाय	25	0 (अकषाय)
12.	ज्ञान	8	4 (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय)
13.	संयम	7	1 यथाख्यात
14.	दर्शन	4	3 (चक्षु, अचक्षु, अवधि)
15.	लेश्या	6	1 शुक्ल
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	1 क्षायिक
18.	संज्ञी	2	1 संज्ञी
19.	आहारक	2	1 आहारक
20.	उपयोग	12	7 (4 ज्ञान + 3 दर्शन)
21.	ध्यान	16	2 (पृथक्त्ववितर्क विचार, एकत्ववितर्क अविचार)
22.	आस्रव	57	9 योग
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान का स्वरूप-

णिस्सेस खीणमोहो, फलिहामल भायणुदय समचित्तो।

खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो बीयरायेहिं।।(62)

अर्थ : जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीणकषाय नाम का बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है।

भावार्थ : जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकारों का, अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-रूप चारों ही भेदों का सर्वथा-बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बारहवें गुणस्थान वाला माना जाता है। इसीलिए आगम में इसका नाम ''क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ'' ऐसा बताया है। यहाँ छद्मस्थ शब्द अन्त्यदीपक है। और वीतराग शब्द नाम स्थापना और द्रव्य रूप वीतरागता की निवृत्ति के लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

सयोगी केवली (13 वाँ) गुणस्थान का स्वरूप व उससे मुझे प्राप्त शिक्षायें

(साधक से मैं बनूँ साध्य)

(चाल : 1. छोटी-छोटी गैया... 2. आत्मशक्ति....)

- आचार्य कनकनन्दी

सयोग केवली गुणस्थान को जानूँ, साधक से साध्य बनने की भावना भाऊँ।
अरिहंत व सच्चा देव इन्हें कहते, दिव्यध्वनि से उपदेश भी करते।।(1)

बारहवें गुणस्थान के अन्त समय में, कषाय नाश से बनते क्षीणकषाय।
जिससे घाती कर्मों का होता विनाश, जिससे बनते केवली भगवन्त।।(2)

अनन्तचतुष्टय के वे बनते स्वामी, अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य के स्वामी।
अठारह दोषों से वे होते रहित, शरीर सहित वे होते सयोगी भगवन्त।।(3)

सामान्यकेवली या तीर्थंकर केवली होते, उपदेश तीर्थंकर अवश्य करते।
तीर्थंकर विराजते समवसरण मध्य में, सामान्य केवली गन्धकुटी मध्य में।।(4)

इसकी रचना स्वर्ग के देव करते, केवली भगवान् वहाँ उपदेश करते।
सातसौ अठारह भाषा में दिव्यध्वनि खीरती, मनुष्य-पशु-पक्षी-देव सुनते।।(5)
रत्नत्रयमयमोक्षमार्ग को बताते, आत्मा से परमात्मा बनने का सूत्र/(मार्ग) बताते।
भव्य ही भगवान् बनते यह बताते, जीव से जिनेन्द्र बनने का मार्ग बताते।(6)
विश्वशान्ति-विश्वमैत्री का पाठ पढ़ाते, ''परस्पर उपग्रहो जीवानां'' बताते।
अनेकान्तमय विश्व व्यवस्था कहते, पर्यावरण सुरक्षा हेतु कहते।।(7)
परमसत्य व विश्वव्यवस्था कहते, समस्त ज्ञान-विज्ञान का उपदेश करते।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र को धर्म कहते, समता-शान्ति-सत्य को धर्म बताते।(8)
इनसे शिक्षा मुझे मिले अनेक, मैं भी बन सकता हूँ परमात्मा अवश्य।
अतएव इन्हें मानूँ परम आदर्श, 'कनक सूरी' अतः बना उनका शिष्य।।(9)

नन्दौड़ 4.8.2018 रात्रि 10.45

तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान का स्वरूप

केवलणाणदिवायर किरण-कलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजयणियपरमप्पववएसो।।(63)
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तो ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो।।(64) गो.जी.

अर्थ : जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह (उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो, और जिसको नव केवललब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग, तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादि निधन आर्ष आगम में कहा है।

भावार्थ : बारहवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन घातिकर्म और अघाति कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्मप्रकृतियों के नष्ट होने से अनन्त चतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य तथा नव

केवललब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है, उस अरिहन्त परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

सामान्यतया जीव की तीन अवस्थाएँ हैं-1.बहिरात्मा, 2.अन्तरात्मा और 3.परमात्मा। सम्यग्दर्शन से रहित बहिरात्मा, सम्यक्त्व सहित छद्मस्थ जीव सब अन्तरात्मा, तथा सर्वज्ञ हो जाने पर सभी जीव परमात्मा माने गये हैं। अतएव चतुर्थ गुणस्थान से 12 वें गुणस्थान तक के सभी जीवों की अन्तरात्मा और इससे ऊपर के जीवों की परमात्मा संज्ञा है। किन्तु अन्तरात्मा और परमात्मा दोनों ही की सामान्यतया जिन संज्ञा है। किन्तु अन्तरात्मा और परमात्मा दोनों ही की सामान्यतया जिन संज्ञा है। फिर भी उक्त 63 कर्मों का घात करके उन पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने के कारण परमात्मा की मुख्यतया-विशेष रूप से यह जिन संज्ञा मानी गई है। यहाँ पर गाथा न.63 में इसी जिन का सामान्य स्वरूप बताते हुए पूर्वार्ध के द्वारा उसकी परोपकार सम्पत्ति और उत्तरार्ध में स्वार्थ सम्पत्ति का प्रदर्शन किया गया है।

इस जिन के दो भेद हैं-सयोग और अयोग। इस गाथा न.64 में सयोग का और आगे की गाथा न.65 में अयोग जिन का विशेष स्वरूप बताया गया है। एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान के प्रभाव से तेरहवें गुणस्थान के पहिले ही समय में छद्मस्थता का व्यय और केवलित्व-सर्वज्ञता का उत्पाद एक साथ ही हो जाया करता है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है। यहाँ पर ''सयोग'' यह जिन का विशेषण है और वह अन्त्य दीपक है।

तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थान

सुद्धोखाइयभावो अवियप्पो णिच्चलो जिणिंदस्स।
अत्थि तया तं झाणं सुहुम किरिया अपडिवाई।।668।।

अर्थ : तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् जिनेंद्र देव के शुद्ध क्षायिक भाव होते हैं तथा वे विकल्प रहित होते हैं और निश्चल होते हैं। इस तेरहवें गुणस्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

परिफंदो अइसुहमो जीव पसायेण अत्थि तक्काले।
तेणाणू आइट्ठा आसविय पुणो विविहडंति।।669।।

अर्थ : इस तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले भगवान् जिनेंद्र देव के जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन अत्यंत सूक्ष्म होता है इसीलिये शुभकर्मों की वर्गणाएं आती है और उसी समय चली जाती है। उनके आत्मा के प्रदेशों में वे कर्म वर्गणाएं ठहरती नहीं है।

इसका कारण

जे णत्थि राय दोसो तेण ण बंधोहु अत्थि केवलिणो।
जह सुक्क कुड्ड लग्गा वालू झडियंति तह कम्मं।।670।।

अर्थ : उन केवली भगवान् के रागद्वेष कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उनके कर्मों का बंध भी नहीं होता। जिस प्रकार सूखी दीवाल पर लगी हुई बालू उसी समय झड़ जाती है। सूखी दीवाल पर बालू ठहरती नहीं उसी प्रकार बिना राग द्वेष के आत्मा के प्रदेशों में कर्म भी नहीं ठहरते हैं।

भावार्थः स्थिति बंध और अनुभाग बंध दोनों कषायों से होते हैं। केवली भगवान् के रागद्वेष का सर्वथा अभाव है इसलिये वहां पर स्थितिबंध और अनुभाग बंध भी कभी नहीं होते हैं। अत्यंत सूक्ष्मकाय योग होने से कर्म आते हैं परन्तु वे उसी समय झड़ जाते हैं ठहरते नहीं।

ईहा रहिया किरिया गुणा वि भव्वे वि खाइया तस्स।
सुक्खं सहावजायं कमकरण विवज्जियं णाणं।। (67)

अर्थ : भगवान् जिनेन्द्र देव का विहार, दिव्य ध्वनि आदि क्रिया सब ईहा रहित वा इच्छा रहित होता है। इसका भी कारण यह है कि रागद्वेष के साथ ही उनकी इच्छाएँ सब नष्ट हो जाती है। इसलिये उनकी समस्त क्रियाएं इच्छा रहित होती है, उनके समस्त गुण क्षायिक ही होते हैं उनका सुख स्वात्म जन्य स्वाभाविक ही होता है और उनका ज्ञान इन्द्रियों से रहित और अनुक्रम से रहित होता है।

भावार्थ : जिस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान अनुक्रम से होता है उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान न तो इन्द्रियों से होता है न अनुक्रम से होता है। वे तो एकही समय समस्त पदार्थ और उनकी समस्त पर्यायों को जान लेते हैं।

णाणेणं तेण जाणइ कालत्तय वट्टिए तिहुवणत्थे।
भावे समे य विसमे सच्चेयणा चेयणे सव्वे।।672।।

अर्थ : वे भगवान् उस अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों में रहने वाले समस्त चेतन अचेतन पदार्थों को तथा सम विषम पदार्थों को और भूत भविष्यत् वर्तमान संबंधी उन समस्त पदार्थों की अनंतानंत पर्यायों को एक समय में ही जान लेते हैं।

एक्कं एक्कम्मि खणे अणंतपज्जायगुण समाइण्णं।
जाणइ जह तह जाणइ सव्वइं दव्वाइं समयम्मि।।673।।

अर्थ : जिस प्रकार से भगवान् किसी एक पदार्थ को उनकी अनंतानंत पर्याय और उसके समस्त गुणों को एक ही समय में जान लेते हैं उसी प्रकार वे भगवान् एक ही समय में समस्त द्रव्य उनकी समस्त पर्यायें और उनके समस्त गुण एक ही समय में जान लेते हैं।

जाणंतो पिच्छंतो कालत्तयवट्टियाइं दव्वाइं।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परम जोइहिं।।674।।

अर्थ : वे केवली भगवान् सदा काल भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में हुए वा होने वाले समस्त पदार्थों को वा पदार्थों की पर्यायों को एक साथ देखते हैं और एक साथ जानते हैं इसलिये परम योगी गणधर देव उनको सर्वज्ञ और परमात्मा कहते हैं।

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पावं समवसरणाइं।
सक्केण कयविहूई पंचक्कल्लाण पुज्जाय।।675।।

अर्थ : उन केवलियों में से जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है वे इन्द्रों के द्वारा की गयी समवसरण आदि की महा विभूति को प्राप्त होते हैं तथा गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक इन पांचो कल्याणकों में होने वाली परमोत्कृष्ट पूजा को प्राप्त होते हैं।

सम्मुग्धाई किरिया णाणं तह दंसणं च सुक्खं च।
सव्वेसिं सामण्णं अरहंताणं च इयराणं।।676।।

अर्थ : जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय है ऐसे अरंहत केवली तथा जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं है ऐसे सामान्य केवली इन दोनों प्रकार के केवली भगवान् के समुद्घात क्रिया, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य वे सब समान होते हैं इसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता।

जेसिं आउ समाणं णामं गोदं च वेयणीयं च।

ते अकय समुग्घाया सेसा य कयंति समुग्घायं।।677।।

अर्थ : जिन केवली भगवान् के नाम, गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते तथा जिनके नामगोत्र वेदनीय की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली भगवान् नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिए समुद्घात करते हैं।

अतंर मुहुर्त कालो हवइ जहण्णो वि उत्तमो तेसिं।

गयवरियसूणा कोडी पुव्वाणां हवइ णियमेण।।678।।

अर्थ : इस तेरहवें गुण स्थान की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति जितने वर्ष की आयु में केवल ज्ञान हुआ है उतने वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है।

केवलज्ञान का उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। (1) मोक्षशा.

केवल ज्ञान perfect knowledge (is gained) by destroying the मोहनीय deluding karmas (in the end of the 10Th) गुणस्थान Stage and then by simultaneous destruction of knowledge and conation observing karmas ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय and of obstructive karmasअन्तराय in the end of the 12th गुणस्थान Stage.

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होनें से केवलज्ञान प्रकट होता है।

इस मोक्षशास्त्र में नवें अध्याय तक जीव तत्त्व से लेकर संवर तत्त्व पर्यंत वर्णन हुआ है। अवशेष मोक्षतत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। मोक्ष का अर्थ-मुक्त होना, स्वतंत्र होना, शुद्ध होना, बंधनो से रहित होना, पूर्ण स्वावलम्बी होना है।

जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। योग्य अंतरंग-बहिरंग कारणों को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यग्ज्ञानी होकर सम्यग्चारित्र को धारण करता है। पहले बहिरंग परिग्रहों को त्याग करके मुनि

चारित्र को स्वीकार करता है। ऐसे ही निर्ग्रंथ तपोधन धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को लेकर क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोहनीय कर्म को नाश करके पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान आदि को प्राप्त करता है। इसका विशेष खुलासा निम्न प्रकार है-

पूर्वोक्त विधि के साथ परम तपोविशेष के द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है और अप्रशस्त-अशुभ अनुभाग कृश होकर विलीन हो जाता है। कोई वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थान में सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ करता है तथा सात प्रकृतियों का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करना प्रारंभ करता है। कोई असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियों का उपशम करना प्रारंभ करता है, पुनः अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम करके उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपर्वूकरण-उपशम व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामों से पापकर्मों के प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मों के अनुभाग को बढ़ाते हुए अनिवृत्ति बादर साम्पराय उपशमक गुणस्थान में पहँच जाता है। वहाँ नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छहनोकषाय पुंवेद, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध, दो मान, दो माया, दो लोभ, क्रोध-मान-संज्वलन नामकर्म प्रकृतियों का क्रमशः उपशम करता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के प्रथम समय में अर्थात् नौवें गुणस्थान के अंत भाग में माया संज्वलन का उपशम कर देता है तथा संज्वलन लोभ को कृश कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है। पुनः उपशांत कषाय के प्रथम समय में लोभ संज्वलन का उपशम कर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशांत कषाय कहलाता है। इस गुणस्थान में यदि आयु का क्षय हो जाय तो मरण हो सकता है अथवा पुनः कषायों की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है। पुनः वही साधक या दूसरा कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए पूर्व के समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षायिक श्रेणी में आरूढ़ होकर पूर्वकथित लक्षण वाले अधः प्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति

रूप तीन कारणों के द्वारा अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को उखाड़कर छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर पुरुषवेद को क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन में और माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादरकृष्टि विभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादर साम्परायक क्षपक गुणस्थान में पहुँच जाता है। तदनन्तर लोभ संज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर सूक्ष्म साम्परायक नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता है। सूक्ष्म साम्पराय अवस्था का अंतर्मुहूर्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीण कषाय (वा क्षपक मोह) नामक गुणस्थान को प्राप्त कर मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह क्षपक उस गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अंत समय में पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एवं केवल दर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनंतदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त कर कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा दैदीप्यमान मूर्ति केवली हो जाता है।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में मोहक्षय की प्रक्रिया एंव केवलज्ञान प्राप्त करने का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामल भायणदुय समचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं।। (72)

जिस निर्ग्रंथ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण कषाय नाम का बाहरवें गुणस्थानवर्ती कहा है।

जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों की प्रकारों का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों भेदों का सर्वथा बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बाहरवें गुणस्थान वाला

माना जाता है इसलिए आगम में इसका नाम क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ 'छद्मस्थ' शब्द अन्त्य दीपक है और 'वीतराग' शब्द नाम, स्थापना और द्रव्यरूप वीतराग की निवृत्ति के लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही मान गया है।

तेरहवें गुणस्थान-

(सर्वज्ञ भगवान् का स्वरूप)

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो।। (63)
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवलि हु जोगेण।
जुत्तोति सजोगजिण, अणाइणिहणारिसेउत्तो।। (64)

जिसका केवल ज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह (उत्कृष्ट अनंतानंत प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवल लब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग, तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है ऐसा अनादि निधन आर्ष आगम में कहा है।

बाहरवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन घाति कर्म और अघाति कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने से अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य तथा नव केवल लब्धि प्रकट हो चुकी है किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है, उस अरिहंत परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

सयोगकेवली गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	सयोगकेवली
1.	गुणस्थान	14	1 सयोगकेवली गुणस्थान

2.	जीवसमास	14	2 (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त)
3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ, 6 अपर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	4 (स्वस्थान केवली के) 2 (समुद्घात अवस्था में)
5.	संज्ञा	4	0 (क्षीण संज्ञा)
6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	7 (2 सत्य व अनुभव वचनयोग+ 2 सत्य व अनुभय मनोयोग+ 2 औदा द्विक+ 1 कार्मण काययोग)
10.	वेद	3	0 (अपगतवेद)
11.	कषाय	25	0 (अकषाय)
12.	ज्ञान	8	1 केवलज्ञान
13.	संयम	7	1 यथाख्यात
14.	दर्शन	4	1 केवलदर्शन
15.	लेश्या	6	1 शुक्ल
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	1 क्षायिक
18.	संज्ञी	2	0 (संज्ञी-असंज्ञी से रहित)
19.	आहारक	2	1 (आहारक, अनाहारक)
20.	उपयोग	12	2 (केवलज्ञान + केवलदर्शन)
21.	ध्यान	16	1 सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति (अन्त में)
22.	आस्रव	57	7 योग
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

अयोग केवली (14 वां) गुणस्थान का स्वरूप व मुझे प्राप्त शिक्षाएँ

(स्वयं में ही स्थिर होने की शिक्षा)

- आचार्य कनकनन्दी

(चाल :आत्मशक्ति....क्या मिलिए....)

अयोग केवली के चौदहवें गुणस्थान, शैलेश अवस्थामय परम गुणस्थान।
लघु अक्षर समय प्रमाण यह गुणस्थान, योग निरोध से सर्व कर्म होता क्षय।। (1)
यहाँ न होता है धर्मोपदेश-विहार, समस्त योगों का होता यहाँ निरोध।
निष्कम्प-निश्चल होता है यहाँ, समस्त कर्म नि:शेष करने की क्रिया।। (2)
छह महिने आयु शेष में जो बनते केवली, अधिक होती नाम-गोत्र-वेदनीय की स्थिति।
आयु स्थिति प्रमाण तीनों को बनाने हेतु, उनका होता है केवली समुद्घात।। (3)
दंड-कपाट-प्रतर-लोक पूरण समुद्घात में, आत्मप्रदेश सह कर्माणु फैलते लोक में।
इससे कर्म स्थिति हो जाती समान, समस्त कर्म नाशकर बनते परमात्मा।। (4)
इससे मुझे मिलती अनके शिक्षायें, सर्वकर्म नाश करने की शिक्षायें।
इस हेतु मुझे त्यागना है सर्व अस्थिरता, आत्मा द्वारा आत्मा में होने की स्थिरता।। (5)

नन्दौड़ दि 05/08/2018 मध्याह्न 03:20

चौदहवाँ अयोग केवली गुणस्थान

सीलेसिं संपत्ती, णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि।। (65) गो.जी.

अर्थ : जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है, और जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है। तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्म रूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ : आगम में शील के जितने भेद या विकल्प कहे हैं उन सबकी पूर्णता यहीं पर होती है। इसलिए वह शील का स्वामी है, और पूर्ण संवर तथा निर्जरा का

सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम पात्र होने से मुक्तावस्था के सम्मुख है। काययोग से भी वह रहित हो चुका है। इस तरह के जीवों को ही चौदहवें गुणस्थान वाला अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ: आगम में शील के 18 हजार भेदों को अनेक प्रकार से बताया हैः किन्तु उनमें से एक प्रकार जो कि श्री कुन्दकुन्द भगवान् ने अपने मूलाचार के शील गुणाधिकार में बताया है, हम यहाँ लिख रहे हैं-

जोए करणे सण्णा, इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णेण्णेहि अभत्था, अट्ठारससील सहस्साइं।।

तात्पर्य यह है कि तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वी कायिक आदि जीव भेद और देश उत्तम क्षमा आदि श्रमण धर्म, इनको परस्पर गुणा करने से शील के 18 हजार भेद होते हैं।

योग संज्ञा इन्द्रिय और श्रमण धर्म का अर्थ प्रसिद्ध है। अशुभकर्म के ग्रहण में कारणभूत क्रियाओं के निग्रह करने को-अर्थात् अशुभयोग रूप प्रवृत्ति के परिहार को करण कहते हैं। निमित्त भेद से इसके भी तीन भेद हैं-मन,वचन, काय। रक्षणीय जीवों के दश भेद हैः यथा-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक, साधारण वनस्पति और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

इनके सिवया शील के 18 हजार भेद निकालने के ये भी प्रकार प्रसिद्ध हैं। यथा-

(1)-विषयाभिलाषा आदि 10 (विषयाभिलाषा वस्तिमोक्ष, प्रणीतरस) सेवन, संसक्तद्रव्यसेवन, शरीरांगोपांगावलोकन, प्रेमीका सत्कार पुरस्कार, शरीरसंस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागत भोगाकांक्षा, इष्टविषयसेवन।

चिन्ता आदि 10 (चिन्ता दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, अहारारुचि, मूर्च्छा, उन्माद, जीवनसन्देह, मरण)। इन्द्रिय 5, योग 3, कृतकारित अनुमोदना ये तीन (3), जागृत, स्वप्न ये 2 और चेतन अचेतन ये 2। सबका 10 X 10 X 5 X 3 X 2 X2 X 2 का गुणा करना।

(2)-स्त्री 3 (देवी, मानुषी, तिरश्ची) को योग 3 कृतकारित अनुमोदना 3 चार संज्ञाएँ और इन्द्रिय 10 (द्रव्येन्द्रिय 5, भावेन्द्रिय 5) तथा 16 कषाय से गुणने पर

17280 भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी 720 भेद जोड़ना। यथा अचेतन स्त्री के भेद 3 (काष्ठ, पाषाण, चित्र) योग 2 (मन और काय) कृतादि 3 और कषाय 4 तथा इन्द्रिय भेद 10 से गुणा करने पर 70 भेद होते हैं।

(3) स्त्री 4, योग 3, इन्द्रिय 5, श्रृंगार रस के भेद 10, कायचेष्ठा भेद 10 से गुणा करना।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का स्वरूप बताकर अब उसमें होने वाली आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों की गुणश्रेणि निर्जरा और उसके द्रव्यप्रमाण तथा काल प्रमाण को दो गाथाओं द्वारा बताते हैं।

अयोग केवली नाम का चौदहवाँ गुणस्थान

पच्छा अजोइकेवलि हबइ जिणो अघाइ कम्महणमाणो।
लहु पंचक्खर कालो हवइ फुडं तम्मि गुण ठाणे।।679।।

अर्थ : तेरहवें गुणस्थान के अनन्तर चौदहवाँ गुण स्थान होता है चौदहवें गुणस्थान का नाम अयोग केवली है। घातिया कर्मों का नाश कर भगवान् तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान में आते हैं और चौदहवें गुणस्थान में आकर अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करते है। इस गुणस्थान का काल लघु पंचाक्षर उच्चारण मात्र है अर्थात् जितनी देर में अ इ उ ऋ लृ इन पांचो ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतना काल इस चौदहवें गुणस्थान का काल है।

समुद्घात-

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीव पिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो हवइ समुग्घाइयं णाम।।

अर्थ : मूल शरीर को न छोड़ कर जो जीव के प्रदेश बाहर निकलते हैं उसको समुद्घात करते हैं। समुद्घात करते समय केवली भगवान् पहले समय में आत्मा के प्रदेशों को दंडाकार लोक पर्यंत फैलातै है, दूसरे समय में कपाट रूप चौड़ाई में लोक पर्यंत फैलाते हैं, तीसरे समय में प्रतर रूप लम्बाई में लोक पर्यंत फैलाते है चौथे समय में लोक पूरण कर लेते हैं पांचवे समय में संकुचित कर प्रतर रूप छठे समय में कपाट रूप सातवें समय में दंड रूप और आठवें समय में शरीर मात्र प्रदेश कर लेते हैं। प्रदेशों

के फैलाव से नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु की स्थिति के समान हो जाती है। जिन मुनियों के छह महीने की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान होता है उनको समुद्घात अवश्य करना पड़ता है।

परमोदालिय कायं सिढिलं होऊण गलइ तक्काले।
थक्कइ सुद्ध सुहावो घण णिविड पएस परमप्पा।।680।।

अर्थ : इस गुणस्थान के अन्त में उनका वह परमौदारिक शरीर शिथिल होकर गल जाता है। तथा उनके घनीभूत निविड आत्मा के प्रदेश शुद्ध स्वभाव रूप होकर रह जाते हैं और इस प्रकार वे भगवान् परमात्मा हो जाते हैं।

णट्ठा किरिय पवित्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिछिट्ठं।
खाइय भावो सुद्धो णिरंजणो वीयराओ य।।681।।

अर्थ : इस गुणस्थान में समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, तथा चौथा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान होता है। इस गुणस्थान में क्षायिक और शुद्ध भाव होते हैं और इसीलिये वे भगवान् निरंजन और परम वीतराग हो जाते हैं।

झाणं सजोइ केवलि जह तह अझोइस्स णत्थि परमत्थे।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थणय विवक्खाए।।682।।

अर्थ : जिस प्रकार सयोग केवली भगवान् के ध्यान होता है उस प्रकार का ध्यान भी इस गुणस्थान में नहीं होता। इस गुणस्थान में वास्तव में ध्यान होता ही नहीं हैं। इस गुण स्थान में भूतार्थ नय की अपेक्षा से (पूर्वकाल नय की अपेक्षा से) उपचार से ध्यान माना जाता है। कर्मों का नाश बिना ध्यान के नहीं होता और चौदहवें गुण स्थान में अघातिया कर्मो का नाश होता है। इसलिये उपचार से ध्यान माना जाता है वास्तविक नहीं।

इसका कारण

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए।
तं णत्थि केवलि दुगे तम्हा झाणं ण संभवइ।।683।।

अर्थ : ध्यान, ध्यान करने वाला ध्याता और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प से सब मन सहित जीवों में होते हैं। परंतु वह मन सयोग केवली तथा

अयोगकेवली दोनों गुण स्थान वालों के नहीं है। इसलिए इन तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानों में ध्यान नहीं है।

मणसहियाणं झाणं मणो विकम्माण कायजोयाओ।
तत्थ वियप्पो जायइ सुहासुहो कम्म उदयण।।684।।

अर्थ : जो जीव मन सहित है उन्हीं के ध्यान होता है तथा मन की प्रवृत्ति कार्मण काय योग से होती है तथा जहां पर कार्मण काय योग के निमित्त से मन की प्रवृत्ति होती है वहां पर कर्म का उदय होने से शुभ वा अशुभ विकल्प भी उत्पन्न होते हैं।

असुहे असुहं झाणं सुहझाणं होइ सुहोपजोगेण।
सुद्धे सुद्धं कहियं सासवाणासवं दुविहं।।685।।

अर्थ : जहां पर अशुभ विकल्प या अशुभोपयोग होता है वहां पर अशुभ ध्यान होता है, जहां पर शुभ विकल्प वा शुभोपयोग होता है वहां पर शुभ ध्यान होता है। तथा जहां पर शुभ अशुभ कोई विकल्प नहीं होता केवल शुद्ध उपयोग होता है वहां पर शुद्ध ध्यान होता है। यह शुद्ध ध्यान दो प्रकार का होता है जिसमें आस्रव होता रहे ऐसा आस्रव सहित शुक्ल ध्यान और जिसमें आस्रव न हो ऐसा आस्रव रहित शुद्ध ध्यान वा शुक्ल ध्यान।

पढमं वीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण।।686।।

अर्थ : शुक्ल ध्यान के चार भेद है उनमें से पहला शुक्ल ध्यान दूसरा शुक्ल ध्यान और तीसरा शुक्ल ध्यान आस्रव सहित होते हैं अर्थात् इनमें कर्मों का आस्रव होता रहता है और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्रव है आस्रव रहित, उसमें किसी कर्म का आस्रव नहीं होता ऐसा भगवान् जिनेंद्र देव ने कहा है। इस प्रकार संक्षेप में इन ध्यानों का स्वरूप है।

अयोगकेवली गुणस्थान में 24 स्थान

क्र.सं.	नाम	भेद	अयोगकेवली
1.	गुणस्थान	14	1 अयोगकेवली गुणस्थान

2.	जीवसमास	14	1 संज्ञीपर्याप्त
3.	पर्याप्ति	6	6 पर्याप्तियाँ
4.	प्राण	10	1 आयु
5.	संज्ञा	4	0 (क्षीण संज्ञा)
6.	गति	4	1 मनुष्य
7.	इन्द्रिय	5	1 पंचेन्द्रिय
8.	काय	6	1 त्रस
9.	योग	15	0 (अयोग)
10.	वेद	3	0 (अपगतवेद)
11.	कषाय	25	0 (अकषाय)
12.	ज्ञान	8	1 केवलज्ञान
13.	संयम	7	1 यथाख्यात
14.	दर्शन	4	1 केवलदर्शन
15.	लेश्या	6	0 (अलेश्या)
16.	भव्य	2	1 भव्य
17.	सम्यक्त्व	6	1 क्षायिक
18.	संज्ञी	2	0 (संज्ञी-असंज्ञी से रहित)
19.	आहारक	2	1 आनाहारक
20.	उपयोग	12	2 (केवलज्ञान + केवलदर्शन)
21.	ध्यान	16	1 व्युपरतक्रियानिवर्ति
22.	आस्रव	57	0 (अनास्रव)
23.	जाति	84 लाख	14 लाख
24.	कुल	197 1/2 लाख कोटि	12 लाख कोटि

गुणस्थान परे सिद्ध का स्वरूप व उनसे प्राप्त मुझे शिक्षायें

(मेरा शुद्ध स्वरूप ही (भी) सिद्ध जीव)

– आचार्य कनकनन्दी

(चाल : यमुना किनारे...)

सिद्ध जीवों का मैं स्वरूप जानूँ, शुद्ध बनने हेतु ही प्रयत्न करूँ।
अष्ट (सर्व) कर्म से रहित होते हैं सिद्ध, गुणस्थान अतीत/(परे) होते हैं शुद्ध।।
अष्ट कर्म रहित होने से अष्टमूलगुण, अनन्त ज्ञान दर्शन सुखवीर्य वान्।
सम्यक्त्व सूक्ष्मत्व अगुरूलघु अव्याबाध, और भी अनन्तानन्त उनके गुण।। (2)

तन-मन-इन्द्रिय से रहित सिद्ध, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द सहित सिद्ध।
द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित सिद्ध, सच्चिदानन्द होते हैं सिद्ध।। (3)
जन्म-जरा-मरण रहित सिद्ध, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित सिद्ध।
स्वयं ही कर्त्ता-भोक्ता-विधाता सिद्ध, सत्य-शिव-सुन्दर होते हैं सिद्ध।। (4)

निष्कलंक-निरञ्जन-निर्मल सिद्ध, कृतकृत्य परमपद में स्थित सिद्ध।
निष्कम्प-स्वतंत्र-सर्वोदयी होते हैं, प्रभु-विभु-ईश्वर होते हैं सिद्ध।। (5)
अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमेयत्व सहित, स्वात्मस्थित सर्वगत होते हैं सिद्ध।
परमात्मा-परम द्रव्य होते हैं सिद्ध, परम तत्त्व-परम पदार्थ होते हैं सिद्ध।। (6)

सिद्धसमान ही सिद्ध ही होते, अतुलनीय-अद्वितीय-परम होते।
समस्त संसारी जीवों से वे अधिक सुखी, आत्मोत्थ-अतीन्द्रिय शाश्वत सुखी।। (7)
यह ही मेरा स्वशुद्ध आत्मस्वभाव, अन्य सभी मेरा कर्मजविभाव।
इसे प्राप्त करना ही मेरा परम लक्ष्य, शुद्ध-बुद्ध-आनन्द 'कनक' का वैभव।। (8)

नन्दौड़ दि. 5/8/2018 समय प्रातः 05.55

सच्चिदानन्द का रहस्य

– आचार्य कनकनन्दी

(राग : 1. चौपाई...2. आत्मशक्ति से ओत-प्रोत...3. केशवा-माधवा (मराठी)...
4. दुनियाँ में रहना है... 5. नन्हा-मुन्ना राही हूँ...6. छोटी-छोटी गैया...7. आओ झूले मेरे चेतन...)

सच्चिदानन्द के रहस्य जानो...आत्मा-परमात्मा/(आध्यात्मिकता) का रूप पहचानो
आत्म विकास के गुर को जानो...भौतिकता परे चैतन्य मानो।।

सत् स्वरूप है आत्म-स्वरूप/(निज-स्वरूप)...चिदानन्द मय शुद्ध स्वरूप।
शरीर-मन से परे स्वरूप...अमूर्तिक मय ज्ञान स्वरूप।।

सत् रूप है स्व-स्व-आत्मा...सत् होने से अनादि अनन्ता।
स्वयंभू सनातन अजन्मा अविनाशी...उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्व-निवासी।।

ज्ञान दर्शन मय चैतन्य स्वरूपी...स्पर्श गन्ध वर्ण रस हीन अरूपी।
तन मन इन्द्रिय रहित ज्ञान स्वरूपी/(ज्ञान शरीर)..शुद्ध बुद्ध(मय) अनन्त गुण रूपी।।

अनन्त आत्मानन्द(मय) शुद्ध स्वरूप...आत्मोत्थ अतीन्द्रिय-सुख स्वरूप।
भोगोपभोग रहित निराकुल रूपा...आत्मानुभूत मय ज्ञान स्वरूपा।।

सत् स्वरूप है अनादि अनन्त...चैतन्य का नहीं विकास अनन्त।
आनन्द भी नहीं अक्षय अनन्त...विभाव भाव जन्य/(हेतु) अनादि अनन्त।।

काम-क्रोध मोह मद मत्सर...ईर्ष्या घृणा भय मायाचार।
हिंसा झूठ कुशील चौर्याचार...विभाव भाव है (जो) मिथ्याचार।।

इससे चिदानन्द/(भाव) विकृत हुआ...अविकसित चेतन दुःखमय हुआ।
काम क्रोधादि विनाश द्वारा...चिदानन्द प्रगट/(प्राप्त) होता आत्मा द्वारा।।

विभाव के विनाश हेतु...ध्यान अध्ययन मनन चिन्तन।
क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच...दान दया तप समता उच्च।।
अहंकार-ममकार रहित भाव...दीन-हीन से परे भी भाव।
उदार व्यापक सहिष्णु भाव...आचरण युक्त हो ये सब भाव।।
यह सब हो दोष शोधन हेतु...ढ़ोंग-प्रपंच रहित आत्मिक हेतु।
अन्धानुकरण रहित साधना हेतु...ख्याति पूजा लाभ रहित हेतु।।
यह है सच्चिदानन्द रहस्य...भौतिकवाद से परे रहस्य।
अनन्तज्ञानी द्वारा ज्ञात रहस्य...'कनक' इस हेतु सदा प्रयास।।

(यह कविता डिस्कवरी चैनल में डॉ. दीपक चोपड़ा से ओप्रा विनफ्रे द्वारा लिये गये इन्टरव्यू से प्रेरणा प्राप्त कर लिखी गई।)

विजयनगर, दि. 25.7.2012, (मोक्ष सप्तमी), मध्याह्न 3.05

गुणस्थानों का अतिक्रमण करने वाले सिद्धों का वर्णन

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गनिवासिणो सिद्धा।।(68) गो.जी.

अर्थ : जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृत के अनुभव वाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबन्ध को कारणभूत मिथ्या-दर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो वे कृतकृत्य हैं, कृतकृत्य हैं - जिनको कोई कार्य कर शेष नहीं रहा है, लोक के अग्र भाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

परमात्मा की मोक्षावस्था

नित्यमपि निरूपलेपः, स्वरूप समवस्थितो निरूपघातः।
गगनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशदतमः।।(223)

पुरुषार्थ सि.

व्याख्या भावानुवाद : समस्त पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त करने वाला परम पुरुष परम पद रूप सिद्ध पद में स्फुरायमान होता है। वह परम पुरुष सदा कर्मादि लेप से रहित, स्वस्थ रूप में स्थित, समस्त घात-प्रतिघात बाधाओं से रहित गगन के समान लेप से रहित चिज्ज्योति रूप से सिद्ध पद में अतिशय रूप से स्फुरायमान होता है।

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे, परमात्मा सकल-विषय विरतात्मा।
परमानन्द-निमग्नो, ज्ञानमयो नन्दति सदैव।।(224)

व्याख्या-भावानुवाद : परमपद स्वरूप प्रकृष्ट सिद्ध पद में वह परम पुरुष/परमात्मा/शुद्धात्मा कृतकार्य होकर, सकल विषय से विरक्त होकर परमानन्द में अर्थात् अनन्त सुख में लीन रहता है। वह परमात्मा पूर्णतया ज्ञानधन स्वरूप होकर मुक्त अवस्था में विराजमान होता है।

समीक्षा-कर्मबन्ध से रहित होने के बाद जीव के सम्पूर्ण वैभाविक भाव नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वैभाविक भाव के निमित्त भूत कारणों का अभाव हो जाता है। वैभाविक भाव के नष्ट होने पर स्वाभाविक भाव नष्ट नहीं होते परन्तु स्वाभाविक भाव पूर्ण शुद्ध रूप में प्रगट हो जाते हैं। तत्त्वार्थ सार में कहा भी है -

ज्ञानावरणहानाते केवलज्ञान शालिनः।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः।।(37)
वेदनीयसमुच्छेदादव्या बाधत्वमाश्रिताः।
मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः।।(38)
आयुकर्म समुच्छेदादवगाहनशालिन।
नामकर्म समुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः।।(39)
गोत्र कर्म समुच्छेदाऽगौरवलाघवाः।
अन्तराय समुच्छेदादनन्तवीर्यामाश्रिताः।।(40)

वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान से सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्म का क्षय होने से केवलदर्शन से सहित होते हैं, वेदनीय कर्म का क्षय होने से अव्याबाधत्वगुण को प्राप्त होते है, मोहनीय कर्म का विनाश होने से अविनाशी सम्यक्त्व को प्राप्त होते है, आयु कर्म का विच्छेद होने से अवगाहना को प्राप्त होते है, नामकर्म का उच्छेद होने से सूक्ष्मत्वगुण को प्राप्त हैं, गोत्रकर्म का विनाश होने से सदा अगुरुलघुगुण से सहित होते हैं और अन्तराय का नाश होने से अनन्त-वीर्य को प्राप्त होते हैं।

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शन।
सम्यक्त्वसिद्धावस्था हेत्वभावाच्च निः क्रियाः।।(43)

वे सिद्ध भगवान् तादात्मसम्बन्ध होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में सदा उपयुक्त रहते हैं तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्था को प्राप्त हैं। हेतु का अभाव होने से वे निःक्रिया-क्रिया से रहित हैं।

सिद्धों के सुख का वर्णन

संसार विषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।

अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः।।(45)

सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परम ऋषियों ने कहा हैं।

शरीर रहित सिद्धों के सुख किस प्रकार हो सकता है?

स्योदतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युतरं शृणु।।(46)
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्द प्रयुज्जये।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च।।(47)
सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मिति भाषते।।(48)
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्ष सुखमनुत्तमम्।।(49)

यदि कोई प्रश्न करे कि शरीर रहित एवं अष्टकर्मों को नष्ट करने वाले मुक्तजीव के सुख कैसे हो सकता है, सुनो! इस लोक में विषय वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थों में सुख शब्द कहा जाता है। अग्नि सुख रूप है, वायु सुख रूप है, यहाँ विषय अर्थ में सुख शब्द कहा जाता है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है कि मैं सुखी हूँ यहाँ वेदना के अभाव में सुखशब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्म के उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों से सुख उत्पन्न हुआ है। यहाँ विपाक-कर्मोदय में सुखशब्द का प्रयोग है। और कर्मजन्य-क्लेश से छुटकारा मिलने से मोक्ष में उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थ में सुख का प्रयोग है।

मुक्त जीवों का सुख सुषुप्त अवस्था के समान नहीं है।

सुषुप्तावस्थाया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखातिशय तस्तथा।।(50)
श्रमक्लेममद व्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।
मोहोत्पत्तिर्विकाश्च दर्शनध्यस्य कर्मणः।।(51)

कोई कहते है कि निर्वाण सुषुप्त अवस्था के तुल्य हैं परन्तु उनका वैसा कहना अयुक्त है-ठीक नहीं है क्योंकि मुक्त जीव क्रियावान् है जबकि सुषुप्तावस्था में

कोई क्रिया नहीं होती तथा मुक्तजीव के सुख की अधिकता है जबकि सुषुप्तावस्था में सुख का रञ्चमात्र भी अनुभव नहीं होता है। सुषुप्तावस्था की उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और कामसेवन से होती है तथा उसमें दर्शमोहनीय कर्म के उदय से मोह की उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्त जीव के यह सम्भव नहीं है।

मुक्त जीव का सुख निरूपम है।

लोकेतत्सदृशो त्यार्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्यन तरमान्निरूपमं स्मृतम्।।(52)
लिङ्गप्रसिद्धै प्रामाव्यमनुमानोपमानयोः।
अलिङ्ग चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम्।।(53)

समस्त संसार में उसके समान-अन्य पदार्थ नहीं है जिससे कि मुक्त जीवों के सुख की उपमा दी जा सके, इसलिये वह निरूपम माना गया है। लिङ्ग अर्थात् हेतु से अनुमान में और प्रसिद्धि से उपमान में प्रामाणिकता आती है परन्तु मुक्तजीवों का सुख अलिङ्ग है-हेतु रहित और अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाण का विषय न होकर अनुपम माना गया है।

अर्हन्त भगवान् की आज्ञा से मुक्तजीवों का सुख माना जाता है।

प्रत्यक्षं तभ्द्गवर्तामर्हतां तैः प्रभाषितम्।
गृह्यतेस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया।।(54)

मुक्त जीवों का वह सुख अर्हन्त भगवान् के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीं के द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिये ''वह है'' इस तरह विद्वज्जनों के द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवों की परीक्षा से वह स्वीकृत नहीं किया जाता।

कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है, सिद्धत्व अवस्था में जीव के स्वाभाविक गुणों का अभाव नहीं होता है, परन्तु स्वाभाविक गुण पूर्ण शुद्ध रूप से पूर्ण विकसित होकर अनन्त काल तक विद्यमान रहते हैं। यथा-

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्य।
ते होंति भिण्ण देहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा।।(35)

सिद्धों के वास्तव में द्रव्यप्राण के धारण स्वरूप से जीव स्वभाव मुख्य रूप से नहीं है, जीव स्वभाव का सर्वथा अभाव भी नहीं है, क्योंकि भाव प्राण के धारण-

स्वरूप जीव स्वभाव का मुख्य रूप से सद्भाव है और उन्हें शरीर के साथ नीरक्षीर की भाँति एक रूप वृत्ति नहीं है, क्योंकि शरीर संयोग के हेतु भूत कषाय और योग का वियोग हो गया है इसलिये वे अतीत अनन्तर शरीर प्रमाण अवगाह स्वरूप परिणत होने पर भी अत्यन्त देह रहित हैं और वचगोचरातीत उनकी महिमा है, क्योंकि लौकिक प्राण के धारण बिना और शरीर के सम्बन्ध बिना सम्पूर्ण रूप से प्राप्त किये हुए निरूपाधि स्वरूप के द्वारा वे सतत् प्रतपते हैं।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं।।(27)

वह चेतयिता (आत्मा) सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी स्वयं होता हुआ, स्वकीय अमूर्त, अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्य जोग जहणम्मि।
तं संठाणं तस्स दु जीव धणो होई सिद्धस्य।।(2429)
दसविधणाणाभावो कम्माभावेण होई अच्चंतं।
अच्चंतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स।।(2130)

मन-वचन-काययोगों का त्याग करते समय अयोगी गुणस्थान में जैसा अन्तिम शरीर का आकार रहता है उस आकारक रूप जीव के प्रदेशों का, घनरूप सिद्धों का आकार होता है।

सिद्ध भगवान् के कर्मों का अभाव होने से दस प्रकार के प्राणों का सर्वथा अभाव हैं तथा शरीर का अभाव होने से इन्द्रिय जनित सुख-दुःख का अभाव है।

जं णत्थि बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स तेण पुणो।
कम्मकलुसोहु जीवों कम्मकदं देहमादियदि।।(2131)

मुक्त जीव के कर्मबन्ध का कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करते। क्योंकि कर्मों से बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीर को धारण करता है।

कज्जाभावेण पुणो अप्पठं णस्थि कंदणं तस्स।
ण पओणदो वि फंदणमदेहिणो अस्थि सिद्धस्त।।(2132)

सिद्ध जीवों के कुछ करना शेष न होने से उनमें हलन-चलन का अत्यन्त अभाव हैं और वे शरीर रहित है। अतः वायु आदि के प्रयोग से भी उनमें हलन-चलन

नहीं होता।

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणभोणाणे।
सो अवकारो इट्ठो णिदिसभावो ण जीवाणं।।(2133)

सिद्ध जीव को अनन्तकाल तक आकाश के प्रदेशों को अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकाय का माना गया है क्योंकि जैसे जीव का स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीव का स्वभाव स्थिति नहीं है।

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिठी जगं णिखसेसं।
सव्वेहिं पज्जयहिं य संपुण्णं सअदव्वेहिं।।(2134)
पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगभसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो।।(2135)

तीनों लोकों के मस्तक पर विराजमान यह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों से सम्पूर्ण जगत को जानते देखते हैं तथा वे मोह रहित भगवान् पर्यायों से सहित तीनों कालों को और समस्त आलोक को जानते हैं।

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वितधा जुगवं केवलाणाणं पयासेंदि।।(2136)

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है।

शुद्धात्मा की 47 शक्तियाँ

1. आत्मद्रव्य के लिए कारणभूत चैतन्यमात्र भाव को धारण करने के लक्षण वाली 'जीवत्व' नाम की शक्ति है।
2. जड़ रहित स्वभाववाली 'चिति' शक्ति है।
3. अनाकार उपयोगीवाली दर्शन शक्ति है-इसमें ज्ञेयरूप आकार विशेष नहीं झलकते हैं।
4. साकार उपयोगी वाली 'ज्ञान' शक्ति है-इसमें ज्ञेय पदार्थों के आकार विशेष झलकते हैं।
5. अनाकुलता लक्षणवाली 'सुख' शक्ति है।

6. अपने स्वरूप के रचना की सामर्थ्य रूप 'वीर्य' शक्ति है।
7. अखंडित प्रताप से स्वतन्त्रशाली लक्षणवाली 'प्रभुत्व' शक्ति है।
8. सर्व भावों में व्यापक होने से एक भावरूप 'विभुत्व' शक्ति है।
9. सम्पूर्ण विश्व-लोक-अलोक के सामान्य सत्तामात्र भाव से परिणत स्वरूप को अवलोकन करने वाली 'सर्वदर्शित्व' शक्ति है।
10. सम्पूर्ण विश्व से विशेष भाव रूप परिणतस्वरूप को जानने वाली 'सर्वज्ञत्व शक्ति है।
11. अमूर्तिक आत्म प्रदेशों में प्रकाशमान लोक और अलोक के आकार से अनेकरूप जो हुआ उपयोग, उस उपयोग लक्षणवाली 'स्वच्छत्व' शक्ति है अर्थात् अमूर्तिक शुद्ध आत्मा में सारा विश्व झलकता है। ऐसे विश्व को झलकाने-रूप दर्पण के समान यह एक स्वच्छत्व शक्ति है।
12. स्वयं प्रकाशमान निर्मल अपने संवेदन/अनुभवरूप 'प्रकाश' शक्ति है।
13. क्षेत्र काल से अमर्यादित चैतन्य के विलासरूप 'असंकुचितविकासत्व' नाम की शक्ति है।
14. अन्य से न करने योग्य और जो अन्य का कारण नहीं है ऐसे एक द्रव्यरूप से 'अकार्य-कारणत्व' नाम की शक्ति है।
15. पर के और अपने निमित्त से हुए ज्ञेय और ज्ञानाकार में ग्रहण करने और ग्रहण कराने रूप 'परिणम्य-परिणामकत्व' शक्ति है।
16. न्यूनता और अधिकता से रहित अपने स्वरूप में नियतरूप 'त्यागउपादानशून्यत्व' शक्ति है।
17. षट् स्थान पतित वृद्धि-हानि रूप परिणत हुआ जो वस्तु का निज स्वरूप, उसकी प्रतिष्ठा के लिए कारण विशेष गुणरूप 'अगुरुलघुत्व' नाम की शक्ति है।
18. क्रमवृत्ति-पर्याय और अक्रमवृत्ति-गुणों के वर्तना लक्षण वाली 'उत्पादव्ययध्रुवत्व' शक्ति है।
19. द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पादों से स्पर्शित समान और असमान रूप से एक अस्तित्व मात्ररूप 'परिणाम' शक्ति है।
20. कर्मबन्ध के अभाव से प्रगट हुए जो सहज स्वभाव से ही स्पर्श आदि से शून्य

आत्म प्रदेशरूप 'अमूर्तत्व' शक्ति है।

21. सर्व कर्मों से कृत तथा ज्ञातामात्र से भिन्न परिणामों के करने से उपरत/रहित 'अकर्तृत्व' शक्ति है।
22. सर्व कर्मों से कृत तथा ज्ञातामात्र से भिन्न जो परिणाम उनके भोगने से रहित 'अभोक्तृत्व' शक्ति है।
23. सकल कर्मों के अभाव से प्रवृत्त आत्मा के प्रदेशों की निश्चयलतारूप 'निष्क्रियत्व' शक्ति है।
24. अनादि संसार से संहार-विस्तार से चिह्नित किंचित् न्यून चरम शरीर प्रमाण से अवस्थित लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात आत्म प्रदेशों के लक्षण वाली 'नियत प्रदेशत्व' शक्ति है।
25. सर्व ही शरीरों में एक स्वरूप में रहने वाली 'स्वधर्मव्यापकत्व' शक्ति है।
26. अपने और पराये में समान धर्म, असमान धर्म और समानासमान धर्म ऐसे त्रिविध भावों को धारण करने वाली 'साधारण असाधारण, साधारणासाधारण धर्मत्व' शक्ति है।
27. परस्पर भिन्न लक्षण स्वरूप ऐसे अनंतस्वभावों में होने वाले एक-भाव लक्षण वाली 'अनन्त धर्मत्व' शक्ति है।
28. तत्रूप और अतत्रूप लक्षणवाली 'विरुद्ध धर्मत्व' शक्ति है।
29. तत्रूप से/जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप होना तत्रूप है उस तत्रूप से होने वाली 'तत्त्व' शक्ति है।
30. अतत्रूप से नहीं होने वाली 'अतत्त्व' शक्ति है।
31. अनेक पर्यायों में व्यापक एकद्रव्यमय रूप 'एकत्व' शक्ति है।
32. एक द्रव्य में व्याप्त अनेक पर्यायस्वरूप 'अनेकत्व' शक्ति है।
33. विद्यमान परिणामों से अवस्थित स्वरूप 'भाव' शक्ति है।
34. अविद्यमान परिणामों में शून्यावस्थारूप 'अभाव' शक्ति है।
35. विद्यमान पर्याय के व्यय रूप 'भावाभाव' शक्ति है।
36. अविद्यमान पर्याय के उदयरूप 'अभाव भाव' शक्ति है।
37. वर्तमान पर्याय के होने रूप भाव भाव 'शक्ति' है।

38. अविद्यमान पर्याय के नहीं होने रूप 'अभावाभाव' शक्ति है।
39. कर्ता, कर्म आदि कारक में अनुगत क्रिया रहित, होने मात्र रूप ऐसी 'भाव' शक्ति है।
40. कारक के अनुसार होने रूप भावमयी 'क्रिया' शक्ति है।
41. कर्त्ता के द्वारा प्राप्त करने योग्य, सिद्ध निष्पन्नरूप भावमयी 'कर्म' शक्ति है।
42. होने वाले निष्पन्नरूप भाव को करने वाली 'कर्तृ' शक्ति है।
43. होते हुए भाव के होने में साधकतमरूप 'करण' शक्ति है।
44. स्वयं से देने में आते हुए जो भाव उसके प्राप्त होने योग्य 'संप्रदान' शक्ति है।
45. उत्पाद, व्यय से स्पर्शित भाव के अपाय के होने से नष्ट न होती हुई ध्रुवमयी 'अपादान' शक्ति है।
46. भावने योग्य भाव के आधार रूप 'अधिकरण' शक्ति है।
47. अपने स्वभाव मात्र के स्वामिपने को प्राप्त 'संबंध शक्ति' है।

(समयसार)

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।(2)

मोक्ष Liberation (is) the freedom from all Karmic matter, owing to the non existence of the cause of bondage and to the shedding (of all the Karmas).

बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना (आस्रव) रुक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित (संचित) कर्मों का विनाश हो जाता है।

प्रश्न-कर्मबंध संतान जब अनादि है तो उसका अंत नहीं होना चाहिए? क्योंकि जो अनादि होता है उसका अंत नहीं होता तथा दुष्ट विपरीत (प्रत्यक्ष से

विपरीत) की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है।

उत्तर-अनादि होने से अंत नहीं होता ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज के जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबंध के कारणों को भस्म कर देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता, अर्थात् भवांकुर नष्ट हो जाता है। यही मोक्ष है, इस दृष्ट बात का लोप नहीं कर सकते। कहा भी है जैसे-

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।

''बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।''

कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्म का कर्म अवस्था रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबंध के प्रयत्नीक (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप) कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्वपर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिये कृत्स्न कर्म क्षय की मुक्ति कहना युक्त ही है।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।।(50)
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इन्दियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं।।(51)(पंचास्तिकाय)

कर्मों के आवरण में प्राप्त संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक विकल्प रूप भाव है वह अनादिकाल से मोह के उदय के वश राग-द्वेष रूप परिणमता हुआ अशुद्ध हो रहा है यही भाव है। अब इस भाव से मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह

जीव आगम की भाषा से काल आदि लब्धि को प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम रूप स्वसंवेदन ज्ञान को पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम होने पर फिर उनका क्षयोपशम होने पर सराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब अर्हंत् आदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के द्वारा पर के आश्रित धर्मध्यान रूप बाहरी सहकारी कारण के द्वारा मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्मा के आश्रित धर्मध्यान को पाकर आगम में कहे हुए क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत संयत पर्यंत चार गुणस्थानों के मध्य में से किसी भी एक गुणस्थान में दर्शनमोह को क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर मुनि अवस्था में अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदि से भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव करता है। फिर राग-द्वेष रूप चारित्र मोह के उदय के अभाव होने पर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र के द्वारा मोहकर्म का क्षय कर देता है-मोह के क्षय के पीछे क्षीण कषाय नाम बारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल ठहरकर दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता है। इस ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों को एक साथ इस गुणस्थान के अन्त में जड़-मूल से दूरकर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय स्वरूप भाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स।।(152)

इस प्रकार वास्तव में इन (पूर्वोक्त) भावयुक्त (भाव मोक्ष वाले) भगवान् केवली को जिन्हें स्वरूप तृप्तपने के कारण कर्मविपाक कृत सुख, दुःख रूप विक्रिया नष्ट हो गई उन्हें-आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनंत ज्ञानदर्शन से सम्पूर्ण शुद्धज्ञान चेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्य द्रव्य के संयोग से रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्ति रूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है ऐसा आत्मा का स्वरूप (आत्मा की निज दशा) पूर्वसंचित कर्मों की शक्ति का शातन (क्षीणता) अथवा उनका पतन (नाश) देखकर, निर्जरा के हेतुरूप से वर्णन किया जाता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।

ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो।।

वास्तव में केवली भगवान् को, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा का कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्म संतति कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही आयुकर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्घात विधान से आयुकर्म के जितनी होती है-आयुकर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव (सिद्धगति) के लिए भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) है वह द्रव्यमोक्ष है।

ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के चार घातिया कर्मों के क्षय से अरहंत केवली बनते हैं। तीर्थंकर केवली समवसरण की विभूति के साथ उपदेश करके भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हैं और सामान्य केवली गंध कुटी- में विराजमान होकर भव्य जीवों को उपदेश देते हैं तीर्थंकर केवली नियम से जघन्य रूप से नौ वर्ष एवं उत्कृष्ट रूप से अंतर्मुहूर्त अधिक 8 वर्ष कम, एक पूर्व कोटी वर्ष तक उपदेश करते हैं। अंत में समवसरण या गंध कुटी का विसर्जन होता है-दिव्यध्वनि का भी (उपदेश देना) संकोच हो जाता है और केवली योग निरोध करते हैं। जो मुनिश्वर 6 महिना आयु शेष रहते केवल ज्ञान प्राप्त करते है और उनके नाम गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे केवली समुद्घात भी करते है। अंत में ''अ इ उ ऋ लृ'' इन पाँच लघु अक्षर के उच्चारण काल प्रमाण अयोगी गुणस्थान (14वें) में जीव रहता है। उपान्त (द्विचरम, अंतिम समय के पहले 1 समय) समय में 72 प्रकृतियों का एवं अन्तिम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके जीव सिद्ध, बुद्ध-नित्य निरंजन बन जाता है।

गोम्मट्टसार में कहा भी है -

सीलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि।।(65)

जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वार रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के

सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते है।

सिद्ध अवस्था का स्वरूप

णट्ठट्ठ पयडिवंधो चणमसरीरेण होइ किंचूणो।
उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ।। भाव सं.

अर्थ : चौदहवें गुण स्थान के अंतिम समय में जब आठों प्रकार का प्रकृतिबंध नष्ट हो जाता है अर्थात् समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं तब उनको सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। उस सिद्ध अवस्था में आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ कम होता है। अर्थात् उस आत्मा के आकार का घनफल शरीर के आकार के घनफल से कुछ कम होता है। शरीर में जहाँ-जहाँ आत्मा के प्रदेश नहीं है ऐसे पेट नासिका के छिद्र कान के छिद्र आदि में आत्मा के प्रदेश वहाँ भी नहीं इसलिये सिद्धों के आत्मा के आकार के घनफल में उतने स्थान का घनफल कम कम हो जाता है। इसलिये चरम शरीर के आत्मा के घनफल से सिद्धों के आत्मा के आकार का घनफल कुछ कम हो जाता है। इसलिये सिद्धों का आकार चरम शरीर से कुछ कम बतलाया है। आत्मा स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करता है इसलिये कर्म नष्ट होने के अनन्तर एक ही समय में सिद्ध स्थान पर जाकर विराजमान हो जाता है।

आगे सिद्ध स्थान कहाँ है सो बतलाते हैं -

लोयग्ग सिहर खित्ते जावं तणुपवण उवरिय भायं।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थित्तेण आयासो।। 688

अर्थ : इस लोक शिखर के ऊपर के क्षेत्र में तनुवातवलय के ऊपरी भाग पर जहाँ तक के आकाश में धर्मास्तिकाय है वे सिद्ध परमेष्ठी एक ही समय में पहुँच जाते हैं।

तत्तोपरंण गच्छइ अच्छइ कालं तु अन्तपरिहीणं।
जम्हा अलोय खित्ते धम्मद्दव्वं णं तं अत्थि।।689

अर्थ : अलोकाकाश में द्रव्य नहीं है। धर्म द्रव्य लोकाकाश में ही है। लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग करने वाले धर्म द्रव्य वा अधर्म द्रव्य ही है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहीं तक जीव वा पुद्गल गमन कर सकते हैं तथा जहाँ तक अधर्म द्रव्य है वहाँ तक ठहर सकते हैं बिना अधर्म द्रव्य के ठहर नहीं सकते हैं। इसलिये वे

सिद्ध परमेष्ठी जहाँ तक धर्म द्रव्य है वही लोक शिखर के ऊपर भाग तक जाकर ठहर जाते है और फिर वे भगवान् वहाँ पर अनंतानंत काल तक विराजमान रहते हैं।

आगे सिद्धों के स्वरूप के विषय में और भी कहते हैं -

जो जत्थ कम्ममुक्को जल थल आयास पव्वए णयरे।
सो रिजुगई पवण्णो माणुस खेत्ताउ उप्पयइ।।690
पणयालसहसहस्सा माणुस खेत्तं तु होइ परिमाणं।
सिद्धाणां आवासो तित्तिय मित्तम्मि आयासे।।691

अर्थ : सिद्ध परमेष्ठी मनुष्य क्षेत्र से ही उत्पन्न होते हैं तथा उनकी गति ऋतु गति होती है जिस क्षेत्र में कर्म नष्ट होते हैं उसी क्षेत्र की सीध में वे सिद्धस्थान पर जाकर विराजमान हो जाते हैं। जल स्थल आकाश पर्वत नगर जहाँ से भी कर्म मुक्त होंगे उसी की सीध में सीधे जाकर वे लोक शिखर पर विराजमान हो जायेंगे। मनुष्य क्षेत्र का परिमाण पैंतालीस लाख योजन है। इसलिये पैंतालीस लाख योजन के आकाश में ही सिद्धों का निवास स्थान है। जंबुद्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन है उसके चारों ओर लवण समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई दो लाख योजन है। लवण समुद्र के चारों ओर घातकी द्वीप है उसकी चौड़ाई एक ओर की चार लाख योजन है। घातकी द्वीप के चारों ओर कालोद समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई आठ लाख योजन है। कालोद समुद्र के चारों ओर पुष्कर द्वीप है उसकी पूरी चौड़ाई सोलह लाख योजन है। परन्तु पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत है तथा मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्य क्षेत्र गिना जाता है। इसलिये आधे पुष्कर द्वीप की चौड़ाई आठ लाख योजन समझनी चाहिये। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत पूर्व भाग से पश्चिम भाग तक वा उत्तर से दक्षिण तक पैंतालीस लाख योजन ही होते हैं।

सव्वे उवरिं सिरसा बिसमाहिट्ठिम्मि णिच्चलपएसा।
अवगाहणाय जम्हा उक्कस्स जहण्णिया दिट्ठा।।69।।

अर्थ : उस सिद्ध स्थान में अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान है उन समस्त सिद्धों का ऊपरी भाग समान होता है तथा नीचे का भाग ऊँचा नीचा रहता है। इसका भी कारण यह है कि सिद्धों की अवगाहना उत्कृष्ट सवा पाँच सौ धनुष है और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन अरत्नि है। मुट्ठी बाँधकर एक हाथ की लंबाई को अरत्नि

कहते हैं जिस आसन से जिस स्वरूप से जैसे शरीर से कर्म मुक्त होते हैं उसी आसन से उसी रूप और उसी शरीर के समान उनके आत्मा का आकार हो जाता है इसलिये ऊपर का भाग तो सबका समान होता है और नीचे का भाग समान नहीं होता।

एगोवि अणंताणं सिद्धो सिद्धाण देह अवगासं।
जम्हा सुहमत्तगुणो अवगाह गुणो पुणो तेसिं।।693।।

अर्थ : एक सिद्ध की आत्मा में अनंतानंत सिद्ध समा जाते हैं। इसका भी एक कारण यह है कि आत्मा अमूर्त है, इसलिये उनमें सूक्ष्मत्व गुण है। इसके सिवाय उनमें अवगाहनत्व गुण भी है। सूक्ष्मत्व और अवगाहनत्व गुण के कारण एक सिद्ध में भी अनंतानंत सिद्ध आ जाते हैं। दीपक का प्रकाश मूर्त है फिर भी एक आले में अनंत दीपकों का प्रकाश समा जाता है फिर सिद्धों का आत्मा तो अमूर्त है इसलिये एक सिद्ध में भी अनंत सिद्धों का आत्मा आ जाता है।

सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरु लहुमब्बवाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।694

अर्थ : सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों में होते हैं।

भावार्थ : यह संसारी आत्मा अनादिकाल से ज्ञानावरणादिक आठों कर्मों से जकड़ा हुआ है। वे आठों कर्म सब नष्ट हो जाते हैं तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। आत्मा में ऊपर लिखे आठ गुण हैं और उनको आठों ही कर्मों ने ढ़क रखा था। इसलिये उन कर्मों के नाश होने पर ऊपर लिखे आठ गुण अपने आप प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के नाश होने से सम्यक्त्व गुण प्रगट हो जाता है, ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है, अन्तराय कर्म के नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है, आयु कर्म के अभाव होने से अवगाहन गुण प्रगट हो जाता है नाम कर्म के नाश होने से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरलघु गुण प्रगट हो जाता है और वेदनीय कर्म के अभाव में अव्याबाध गुण प्रगट हो जाता है इस प्रकार आठों कर्मों का नाश हो जाने से सिद्धों में ऊपर लिखे आठ गुण प्रगट हो जाते हैं।

जाणइपिच्छइ सपलं लोयालोयं च एक्कहेलाए।
सुक्खं सहाव जायं अणोवमं अंतपरिहीणं।।695

अर्थ : वे सिद्ध भगवान् एक ही समय में समस्त लोकाकाश और समस्त अलोकाकाश को जानते हैं तथा सबको एक ही साथ एक ही समय में देखते हैं। उन समस्त सिद्धों का सुख शुद्ध आत्मा स्वाभाविक है, संसार सुख की तथा उनकी कोई उपमा नहीं है और न कभी उन सिद्धों का अन्त होता है। वे सदाकाल विराजमान रहते हैं।

रवि मेरु चंदसायरगयणाईयं तु णत्थि जह लोए।
उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुक्खसंघाए।।696

अर्थ : सूर्य, चन्द्रमा, मेरू पर्वत, समुद्र, आकाश आदि इस लोक समस्त पदार्थ से सिद्धों की उपमा नहीं हो सकती, अर्थात् संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा सिद्धों को दे सकें। इसी प्रकार उनके अनन्तसुख की भी कोई उपमा नहीं है।

चलणं वलणं चिंता करणीयं किं पिणत्थि सिद्धाणं।
जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं।।697

अर्थ : उन सिद्ध परमेष्ठी को न कहीं गमन करना पड़ता है न अन्य कोई क्रिया करनी पड़ती है और न किसी प्रकार की चिन्ता करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि उनके समस्त कर्मों का अभाव हो गया है। इसीलिये उनको अतीन्द्रिय प्राप्त हो गया है।

भावार्थ : संसार में जितनी क्रियायें हैं वे सब इन्द्रियों के द्वारा होती है। सिद्ध परमेष्ठी के शरीर और इन्द्रियाँ सभी नष्ट हो गयी हैं। इसलिये उनको कोई भी क्रिया कभी नहीं करनी पड़ती है।